मयमतम्

मयमतम् नामक ग्रंथमे संपूर्ण वास्तुशास्त्रकी चर्चा की गयी है। संपूर्ण वास्तु निर्माणमे इस ग्रंथको प्रमाण माना गया है।

मयमतम् - अध्याय १

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

संग्रहाध्याय

मङ्गलाचरण

सर्वस्व के ज्ञाता, संसार के स्वामी देवता को सिर झुका कर प्रणाम करने के पश्चात् मैं (मय) ने उनसे (वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित) प्रश्न किया एवं उनसे पर्याप्त शास्त्र-श्रवण करने के पश्चात् क्रमानुसार उस शास्त्र का उपदेश करता हूँ ॥१॥

देवों एवं मनुष्यों के सभी प्रकार के वास्तु आदि (भूमि, भवन एवं उपस्कर आदि) के विद्वान स्थपति मय मुनि सुख प्रदान करने वाले सभी प्रकार के वास्तु के लक्षण का उपदेश करते हैं ॥२॥

ग्रन्थविषयसूचना

वास्तुकार्य के प्रारम्भिक चरण में प्रथमतः ध्यातव्य तथ्य है - सर्वप्रथम भूमि एवं भवन के प्रकार (भेदों) का ज्ञान, तत्पश्चात् भूमि के गुण-दोषों की परीक्षा । उपयुक्त भूमि के चयन के पश्चात् उसका मापन एवं इसके पश्चात् भूमि में शङ्कु की स्थापना की जाती है ॥३॥

इसके पश्चात भूमि में वास्तुपद का विन्यास किया जाता है एवं पदोंमें वास्तुदेवों की स्थापना की जाती है । वास्तुदेवों का बलिकर्म विधि (किस देवता की पूजा किस सामग्री से की जाय, यही बलिकर्म विधि है) से पूजन किया जाता है । तत्पश्चात् नगर आदि में विविध प्रकार के ग्रामों का लक्षण एवं उनके विन्यास का वर्णन किया गया है (इसी भाँति नगर-योजना पर भी विचार किया गया है) ॥४॥

इसके पश्चात इस ग्रन्थ में भूलम्ब (गृह के तल), गर्भ-विन्यास, उपपीठ एवं गृह के अधिष्ठान के लक्षणों का वर्णन किया गया है ॥५॥

भवननिर्माण के प्रसङ्ग में स्तम्भों का लक्षण, गृह की प्रस्तारविधि, भवन के विभिन्न अङ्गों की आपस में सन्धिं एवं भवन के शिखरों के लक्षण वर्णित है ॥६॥

भवन के तलों के प्रसङ्ग में (विशेषतः मन्दिरनिर्माण में) एक तल का विधान. दूसरे तल का विधान, तीसरे तल का विधान एवं चतुर्थ तल आदि का विधान लक्षणों-सहित वर्णित है ॥७॥

देवालय के सेवकों के आवास, गोपुर (मन्दिर का प्रवेश-मार्ग), मण्डपादिकों का विधान एवं शालाओं का लक्षण प्राप्त होता है ॥८॥

इसके पश्चात् गृह-विन्यास-मार्ग, गृहप्रवेश, राजगृह का विधान एवं द्वारविन्यास का लक्षण वर्णित है ॥९॥

तदनन्तर यान के लक्षण, शयन के लक्षण, लिङ्ग (देवलिङ्ग) एवं उनके पीठ के लक्षण एवं उसके अनुरूप उचित कर्म की विधि वर्णित है ॥१०॥

देवालय के प्रसङ्ग में मूर्ति के लक्षण, देवता एवं देवियों के प्रमाण का लक्षण, नेत्रों के उन्मीलन की विधि क्रमानुसार संक्षेप में वर्णित है ॥११॥

ब्रह्मा आदि देवों ने एवं श्रेष्ठ मुनियों ने जिस प्रकार विद्वानों, देवों एवं मनुष्यों के सम्पूर्ण भवनलक्षणों का उपदेश किया है, उसी प्रकार मय ऋषि ने उन सभी लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत किया है ॥१२॥

इति मयमते वास्तुशास्त्रे संग्रहाध्यायः प्रथमः

मयमतम् - अध्याय २

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

वस्तुप्रकार

आवास एवं भूमि के प्रकार - अमर (देव) एवं मरणधर्मा (मनुष्य) जहाँ जहाँ निवास करते हैं, विद्वज्जन उसे वस्तु (वास्तु) कहते है । उन निवासस्थलों के भेदों का मैं (मय ऋषि) वर्णन करता हूँ ॥१॥

वास्तु चार प्रकार के होते हैं - भूमि, प्रासाद (देवालय), यान एवं शयन । इनमें प्रधान वास्तु भूमि ही हैं; क्योंकि शेष इसी से उत्पन्न होते हैं ॥२॥

प्रासाद आदि वास्तु प्रधान वस्तु (वास्तु) भूमि से उत्पन्न होने एवं उस पर आश्रित होने के कारण वास्तु ही है । इसी कारण प्राचीन आचार्यो ने इन्हें वास्तु की संज्ञा प्रदान की है ॥३॥

(चारो वास्तुओं में प्रथमतः प्रधान वास्तु पर विचार करना चाहिये ।) भवन-प्रासादादि के निर्माण के लिये भूमि की परीक्षा वर्ण (रंग), गन्ध, रस (स्वाद), आकृति, दिशा, शब्द एवं स्पर्श के द्वारा करनी

चाहिये । परीक्षा के पश्चात् ही निर्माणकार्य की आवश्यकता के अनुसार भूमि-ग्रहण करना चाहिये ॥४॥

भूमिभेद

प्रत्येक वर्ण (ब्राह्मणादि) के अनुसार भूमि का वर्णन किया गया है । इस दृष्टि से भूमि क्रमशः दो प्रकार की होती है - गौण एवं अङ्गी (प्रधान) ॥५॥

भूमि अङ्गी होती है तथा ग्रामादि गौण के अन्तर्गत आते है । सभागार, शाला, प्रपा (प्याऊ), रङ्गमण्डप एवं मन्दिर (प्रासाद होते है) ॥ ६॥

इन्हें प्रासाद कहते है । शिबिका, गिल्लिका, रथ, स्यन्दन एवं आनीक को यान कहा जाता है ॥७॥

शयन के अन्तर्गत मञ्च (सिंहासन), मञ्चिलिका (दिवान), काष्ठ (काष्ठ के आसन), पञ्जर (पिंजरा), फलकासन (बेञ्च), पर्यङ्क (पलंग), बालपर्यङ्क आदि ग्रहण किये जाते हैं ॥८॥

भूप्राधान्य हेतु

उपर्युक्त चारो में प्रथम स्थान भूमि का कहा जाता हैं; क्योंकि भूतों(पञ्च महाभूतों) में प्रथम स्थान भूमि का है, संसार की स्थिति इसी पर है एवं यही सबका आधार है ॥९॥

वर्णानुरूप भूमि

ब्राह्मणो के लिये प्रशस्त भूमि के लक्षण इस प्रकार है - भूमि चौकोर (लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण सम) हो, मिट्टी का रंग श्वेत हो, उदुम्बर के वृक्ष से (गूलर) युक्त हो एवं भूमि का ढलान उत्तर दिशा की ओर रहे ॥१०॥

कषाय-मधुर स्वाद वाली भूमि (ब्राह्मणो के लिये) सुखद कही गयी है । क्षत्रियों के लिये श्रेष्ठ भूमि के लक्षण इस प्रकार है - भूमि लम्बाई में चौडाई से आठ भाग अधिक हो, मिट्टी का रंग लाल हो एवं स्वाद में तिक्त हो ॥११॥

पूर्व की ओर ढलान वाली, विस्तृत, पीपल के वृक्ष से समन्वित भूमि पीपल के वृक्ष से समन्वित भूमि राजाओं (क्षत्रियों) के लिये शुभ एवं सर्वदा सभी प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करने वाली कही गई है ॥१२॥

लम्बाई चौड़ाई से छः भाग अधिक हो, मिट्टी का रंग पीला हो, उसका स्वाद खट्टा ओ, प्लक्ष (पाकड़) के वृक्ष से युक्त हो एवं पूर्व दिशा की ओर ढलान हो-ऐसी भूमि वैश्य वर्ण के लिये प्रशस्त कही गई है ॥१३॥

लम्बाई और चौड़ाई से चार भाग अधिक हो, पूर्व दिशा की ओर ढलान हो, मिट्टी का रंग काला हो तथा स्वाद कड़वा हो, भूमि पर बरगद के वृक्ष हो । इस प्रकार की भूमि शूद्र वर्ण वालों को धन-धान्य एवं समृद्धि प्रदान करती है ॥१४॥

इस प्रकार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुरूप वास्तु (भूमि) के प्रकार का वर्णन किया गया है । देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये सभी प्रकार की भूमियाँ प्रशस्त होती है (यह उपर्युक्त मत का विकल्प है); किन्तु शेष दो (वैश्य एवं शूद्र) को अपने अनुरूप भूमि का ही चयन करना चाहिये ॥१५॥

मयमतम् - अध्याय ३

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

भूमीपरीक्षा

देवों एवं ब्राह्मणों के लिये आयताकार भूमि भे प्रशस्त होती है । भूमि की आकृति अनिन्दनीय होनी चाहिये एवं उसे दक्षिण तथा पश्चिम में ऊँची होनी चाहिये ॥१॥

भूमि, अश्व, गज, वेणु, वीणा, समुद्र (जल) एवं दुन्दुभि वाद्य की ध्वनि से युक्त होनी चाहिये तथा पुन्नाग (नागकेसर), जाति-पुष्प (चमेली), कमल, धान्य एवं पाटल (गुलाब) के सुगन्ध से सुवासित होनी चाहिये ॥२॥

पशु के गन्ध के समान एवं जिस पर सभी प्रकार के बीज उगे, ऐसी भूमि श्रेष्ठ होती है । भूमि एक रंग की, सघन, कोमल एवं छूने में सुख प्रदान करने वाली होनी चाहिये ॥३॥

जिस समतल भूमि पर बेल, नीम, निर्गुण्डी, पिण्डित, सप्तपर्णक (सप्तच्छद) एवं सहकार (आम)-ये छः वृक्ष हों एवं भूमि समतल हो ॥४॥

रंग मे श्वेत, लाल, पीली तथा कपोत के समान काली, स्वाद मे तिक्त, कड़वी, कसैली, नमकीन, खट्टी ॥५॥

एवं मीठी - इन छः स्वादोवाली भूमि सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ प्रदान करती है । रंग, गन्ध एवं स्वाद से युक्त जिस भूमि पर जलधारा का प्रवाह दाहिनी ओर हो, वह भूमि शुभ होती है ॥६॥

(उत्खनन करने पर) पुरुषाञ्जलि-प्रमाण (पुरुष-प्रमाण) पर जल दिखाई पड़े, मन को अच्छी लगने वाली, कपालास्थि-विहीन, कंकड़-पत्थररहित, कीटों एवं दीमक की बाँबी आदि से विहीन ॥७॥

हड्डी आदि से रहित, छिद्ररहित, महीन बालू वाली, जले कोयले, वृक्ष के मूल एवं किसी प्रकार के शूल से रहित ॥८॥

कीचड़. धूल, कूप, काष्ठ, मिट्टी के ढेले एवं बालू, राख आदि से तथा भूसे से रहित ॥९॥

निन्द्य भूमी

भूमि सभी वर्ण वालों के लिये शुभ एवं समृद्धि प्रदान करने वाली होती है । जो भूमि दधि, घृत, मधु (मद्य), तेल तथा रक्त गन्ध वाली होती है (वह भी प्रशस्त होती है) ॥१०॥

शव, मछली एवं पक्षी के गन्ध वाली भूमि अग्राह्य होती है । इसी प्रकार सभागार, चैत्य (ग्राम का प्रधान वृक्ष) एवं राजभवन के निकट की भूमि गृहनिर्माण की दृष्टि से त्याज्ज होती है ॥११॥

देवालय के निकट, काँटेदार वृक्ष से युक्त, वृत्ताकार, त्रिकोण, विषम (जिसकी आकृति असमान हो), वज्र के सदृश (कई कोण वाली) तथा कछुये के समान आकृति (बीच मे ऊँची) वाली भूमि गृहनिर्माण के लिये प्रशस्त नही होती है ॥१२॥

जिस भूमि पर चाण्डाल (शव आदि से आजीविका चलाने वाले) के गृह की छाया पड़े, चर्म द्वारा आजीविका चलाने वाले के गृह के पास, एक, दो, तीन एवं चार मार्गो पर (एक-दो राजमार्गो, तिराहे

एवं चौराहे) पर स्थित तथा जहाँ ठीक मार्ग न हों, ऐसे स्थान पर गृह-निर्माण प्रशस्त नहीं होता ॥१३॥

मध्य में दबी, पणव (ढोल के सदृश एक वाद्य), पक्षी, मुरज (एक वाद्य) तथा मछली के समान आकार की भूमि तथा जहाँ चारो कोनों पर महावृक्ष लगे हों, ऐसी भूमि गृहनिर्माण के लिये उचित नहीं होती है ॥१४॥

ग्रामादि के प्रधान वृक्ष, जिसके चारो कोनों पर साल वृक्ष हों, सर्प के आवास के निकट एवं मिश्रित जाति के वृक्षों के बाग के पास की भूमि गृह-निर्माण केल लिये अप्रशस्त होती है ॥१५॥

श्मशान के क्षेत्र, आश्रमस्थान, बन्दर एवं सुअर के आकार की, वनसर्प के सदृश, कुठार की आकृति वाली, शूर्प एवं ऊखल की आकृति वाली भूमि त्याज्य होती है ॥१६॥

शङ्ख, शङ्कु, विडाल, गिरगिट तथा छिपकली की आकृति वाली, ऊसर एवं कीड़े लगी भूमि गृह निर्माण के लिये त्याज्य होती है ॥१७॥

इसी प्रकार अन्य आकृति वाली भूमि, बहुत से प्रवेशमार्ग वाली एवं मार्ग से विद्ध भूमि विद्वानों द्वारा निन्दित है ॥१८॥

यदि अज्ञानतावश ऐसी भूमि पर गृह बन भी जाय तो इससे महान दोष उत्पन्न होता है । अतः सभी प्रकार से ऐसी भूमि का परित्याग करना चाहिये ॥१९॥

सर्वोत्कृष्ट भूमी

श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण वर्ण वाली, अश्व एवं गज के निनाद से युक्त, मधुर आदि छः स्वादो वाली, एक वर्ण की, गो-धान्य एवं कमल के गन्ध से युक्त, पत्थर एवं भूसे से रहित, दक्षिण एवं पश्चिम मे ऊँची, पूर्व एवं उत्तर मे ढलान वाली, श्रेष्ठ सुरभि के सदृश, शूल एवं अस्थि से रहित, कणद (धूल, बालू आदि) रहित भूमि सभी के लिये अनुकूल होती है, ऐसा सभी श्रेष्ठ मुनियों का विचार है ॥२०॥

मयमतम् - अध्याय ४

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

भूमीपरिग्रह

भूमीग्रहण कर्तव्य

निर्माण-हेतु भुमि का ग्रहण - आकार, रंग एवं शब्द आदि गुणों से युक्त भूमि का चयन करने के पश्चात् बुद्धिमान स्थपति को देवबलि (वास्तुदेवों की पूजा) करनी चाहिये । इसके पश्चात् ॥१॥

वह स्वस्तिवाचक घोष एवं जय आदि मंगलकारी शब्दों के साथ इस प्रकार कहे-राक्षसों के साथ देवता एवं भूत (मानवेतर प्राणी) दूर हो जायँ ॥२॥
वे इस भूमि से अन्यत्र स्थान पर जाकर अपना निवास बनायें । हम इस भूमि को (गृहनिर्माण-हेतु) ग्रहण कर रहे हैं । इस मन्त्र का उच्चारण करते हुये ग्रहण की गी भूमि पर (अधोरेखित कार्य करना चाहिये) ॥३॥
उस भूमि में हल चलवा कर गोबरमिश्रित सभी प्रकार के बीजों को उसमें बो देना चाहिये । उन बीजों को उगा हुआ एवं उनमें पके हुये फल देख कर - ॥४॥
वृषभ एवं बछड़ो के साथ गायों को वहाँ बसा देना चाहिये; क्योंकि गायों के वहाँ चलने एवं सूँघने से वह भूमि पवित्र हो जाती है ॥५॥
प्रसन्न वृषों के नाद से एवं बछड़ों के मुख से गिरे हुये फेन से भूमि परिष्कृत हो जाती है एवं उसके सभी दोष धुल जाते है ॥६॥
गोमूत्र से सींची गई तथा गोबर से लीपी हुई, शरीर रगड़ने से गिरे हुये रोमों से युक्त तथा गायों के पैरों द्वारा किये गये खेल से भूमि (शुद्ध हो जाति है।) ॥७॥
गाय के गन्ध से युक्त, इसके पश्चात् पुण्यजल से पुनः पवित्र की गई भूमि पर (निर्माणकार्य के लिये) शुभ तिथि से युक्त नक्षत्र का विचार करना चाहिये ॥८॥
विद्वानों द्वारा सुविचारित शुभ करण, मुहूर्त एवं सुन्दर लग्न में अक्षत एवं श्वेत पुष्पों से वास्तुदेवों का पूजन करना चाहिये ॥९॥
ब्राह्मणों द्वारा यथाशक्ति स्वस्तिवाचन कराना चाहिये । इसके पश्चात् वास्तुक्षेत्र के मध्य में पृथिवीतल की खुदाई करनी चाहिये ॥१०॥
वास्तु के मध्य मेख एक हाथ गहरा, चौकोर, जिसकी दिशायें ठीक हों, दोषरहित गड्ढा खोदना चाहिये । यह गड्ढा सँकरा नहीं होना चाहिये तथा न ही बहुत गहरा होना चाहिये ॥११॥
इसके पश्चात् यथोचित विधि से पूजा करके तथा उस गड्ढे की वन्दना करने के पश्चात् चन्दन एवं अक्षतमिश्रित तथा सभी रत्नों से युक्त जल को- ॥१२॥
पयसा तु ततः प्राज्ञो निशादौ परिपूरयेत् ।
बुद्धिमान् मनुष्य को रात्रि के प्रारम्भ में गड्ढे में डालते हुये उसे जल से पूर्ण करना चाहिये । इसके पश्चात् पवित्र होकर सावधान मन से गड्ढे के पास भूमि पर कुश बिछा कर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठ जाना चाहिये ॥१३॥
उपवास करते हुये इस मन्त्र का जप करना चाहिये । मन्त्र इस प्रकार है- हे पृथिवी, इस भूमि पर उत्तम समृद्धि स्थापित कर इसे धन-धान्य से वृद्धि प्रदान करो । तुम कल्याणकारी बनो, तुम्हें प्रणाम ॥१४-१५॥

उत्तमादिभूमीलक्षण

बुद्धिमान स्थपति को दिन होने पर प्रथमतः उस गड्ढे की परीक्षा करनी चाहिये । इसमें जल बचा हुआ देख कर सभी प्रकार की सम्पत्तियों के लिये उस भूमि को निर्माणहेतु ग्रहण करना चाहिये ॥१६॥

भूमि यदि गीली रहे तो उस पर निर्मित गृह में विनाश होता है । यदि शुष्क रहे तो उस गृह में धन-धान की हानि होती है । यदि उस गड्ढे के खोदने से निकली मिट्टी से उसे भरा जाय एवं पुरी मिट्टी उसमें समा जाय तो भूमि को मध्यम श्रेणी का समझना चाहिये ॥१७॥
यदि मिट्टी से गड्ढा भर जाय एवं मिट्टी बच भी जाय अर्थात् मिट्टी अधिक हो तो भूमि उत्तम, यदि गड्ढा भी न भरे एवं मिट्टी समाप्त हो जाय अर्थात् मिट्टी गड्ढा भरने में कम पड़े तो भूमि हीन कोटि की होती है । उस गड्ढे के मध्यमें यदि जल दाहिनी ओर घूम कर बहे तो इस प्रकार की सुरभि की मूर्ति के सदृश वाली भूमि सर्वसम्पत्तिकारक होती है ॥१८॥
इसे निर्माण-हेतु ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से विविध प्रकार की भूमियों का ज्ञान कर व्यक्ति को ग्राम, अग्रहार, पुर, पतन, खर्वट, स्थानीय, खेट, निगम एवं अन्य की स्थापना के लिये भूमि का ग्रहण करना चाहिये ॥१९॥

मयमतम् - अध्याय ५

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

मानोपकरण

भूमि-मापन के उपकरण - सभी प्रकार के वास्तुओं (भूमि एवं भवन) का निर्धारण मान या प्रमाण से ही किया जाता है; अतः मैं (मय ऋषि) संक्षेप में मापन के उपकरणों के विषय में बतलाता हूँ ॥१॥
(मापन की प्रथम इकाई) अङ्गुल-माप परमाणुओं के क्रमशः वृद्धि से होती है । परमाणुओंका दर्शन योगी-जनों को होता है, ऐसा शास्त्रों मे कहा गया है ॥२॥
आठ परमाणुओं के मिलने से एक 'रथरेणु' (धूल का कण), आठ रथरेणुओं के मिलने से एक बालाग्र (बाल की नोक), आठ बालाग्र से एक 'लिक्षा', आठ लिक्षा से एक 'यूका' एवं आठ यूका से एक 'यव' रूपी माप बनता है ॥३॥
उपर्युक्त माप क्रमशः आठ गुना बढ़ते हुये 'यव' बनते हैं । यव का आठ गुना 'अङ्गुल' माप होता है । बारह अङ्गुल माप को 'वितस्ति' (बित्ता) कहते है ॥४॥
दो वितस्ति का एक 'हस्त' होता है, जिसे 'किष्कु' भी कहा गया है । पच्चीस हाथ का एक 'प्राजापत्य' होता है ॥५॥
छब्बीस हाथ की एक 'धनुर्मिष्ट' तथा सत्ताईस हाथ से एक 'धनुर्ग्रह' माप बनता है । यान (वाहन) तथा शयन (आसन एवं शय्या) में किष्कु माप तथा विमान में प्राजापत्य माप का प्रयोग होता है ॥६॥
वास्तुनिर्माण में 'धनुर्मुष्टि' माप का तथा ग्रामादि के मापन में 'धनुर्ग्रह' प्रमाण का प्रयोग होता है । अथवा सभी प्रकार के वास्तु-कर्म में 'किष्कु' प्रमाण का प्रयोग किया जा सकता है ॥७॥

हस्त माप को 'रत्नि', 'अरत्नि, 'भुज', बाहु' एवं 'कर' कहते हैं । चार हस्त से 'धनुर्दण्ड' माप बनता है । इसी को 'यष्टि' भी कहते है ॥८॥
आठ दण्ड (यष्टि) को 'रज्जु' कहा जाता है । दण्डमाप से ही ग्राम, पत्तन, नगर, निगम, खेट एवं वेश्म (भवन) आदि का मापन करना चाहिये ॥९॥
गृहादि का माप हस्त से, यान एवं शयन का मापन वितस्ति (बित्ता) से एवं छोटी वस्तुओं का मापन अङ्गुल से करना चाहिये, ऐसा विद्वानों का मत है ॥१०॥
'यव' माप से अत्यन्त छोटी वस्तुओं का मापन किया जाता है । यह मध्यमा अङ्गुलि में बीच वाले पर्व के बराबर)अङ्गुलि के मध्य के जोड़ के ऊपर बनी यव की आकृति) होता है ॥११॥
इस माप को 'मात्राङ्गुल' कहते है । इसका प्रयोग यज्ञ में किया जाता है एवं यह माप यज्ञकर्ता की अङ्गुलि से लिया जाता है । इसे 'देहलब्धाङ्गुल' भी कहते है ॥१२॥
इस प्रकार माप का ज्ञान करने के पश्चात् स्थपति को दृढ़तापूर्वक (सावधानी पूर्वक) मापनकार्य करना चाहिये ।

शिल्पिलक्षण

संसार में अपने-अपने कार्यों के अनुसार चार प्रकार के शिल्पी होते हैं ॥१३॥
चार प्रकार के शिल्पी - स्थपिती, सूत्रग्राही, वर्धकि (बढ़ई) एवं तक्षक (छीलने, काटने एवं आकृतियाँ उकेरने वाले) होते हैं । ये सभी (स्थापत्यादि कर्म के लिये) प्रसिद्ध स्थान वाले, सङ्कीर्ण जाति से उत्पन्न एवं अपने कार्यो के लिये अभिष्ट गुणों से युक्त होते हैं ॥१४॥
'स्थपति' संज्ञक शिल्पी को भवन की स्थापना में योग्य एवं (गृह-निर्माण के सहायक) अन्य शास्त्रों का भी ज्ञाता होना चाहिये । शारीरिक दृष्टि से सामान्य से न कम अङ्गो वाला तथा न ही अधिक अङ्गो वाला (अर्थात् सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ) धार्मिक वृत्ति वाला एवं दयावान होना चाहिये ॥१५॥
स्थपति को द्वेषरहित, ईर्ष्यारहित, सावधान आभिजात्य गुणों से युक्त, गणित तथा पुराणों का ज्ञाता, सत्यवक्ता एवं इन्द्रियो को वश मे रखने वाला होना चाहिये ॥१६॥
स्थपति को चित्रकर्म (गृह के नक्शा आदि बनाने) मे निपुण, सभी देशों का ज्ञाता (स्थान के भूगोल का ज्ञाता), (अपने सहायको को) अन्न देने वाला, अलोभी, रोगरहित, आलस्य एवं भूल न करने वाला तथा सात प्रकार के व्यसनों (वाचिक आघात पहुँचाना, सम्पत्ति के लिये हिंसा का मार्ग अपनाना, शारीरिक चोट पहुँचाना, शिकार, जुआ, स्त्री एवं सुरापान -अर्थशास्त्र - ८३.२३.३२) से रहित होना चाहिये ॥१७॥

सूत्रग्राही

'सूत्रग्राही' स्थपति का पुत्र या शिष्य होता है । उसे यशस्वी, दृढ मानसिकता से युक्त एवं वास्तु-विद्या मे पारंगत होना चाहिये ॥१८॥
सूत्रग्राही को स्थपति की आज्ञानुसार कार्य करने वाला एवं (स्थापत्यसम्बन्धी) सभी कार्यों का ज्ञाता होना चाहिये । उसे सूत्र एवं दण्ड के प्रयोग का ज्ञाता एवं विविध प्रकार के मापन मान-उन्मान (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एवं उनके उचित अनुपात) का ज्ञाता होना चाहिये ॥१९॥

पत्थर, काष्ठ एवं ईट आदि को मोटा एवं पतला काटने के कारण वह शिल्पी 'तक्षक' कहलाता है । यह सूत्रग्राही के इच्छानुसार कार्य करता है ॥२०॥
वर्धकि मृत्तिका के कर्म (गृहनिर्माण) का ज्ञाता, गुणवान, अपने कार्य मे समर्थ, अपने क्षेत्र से सम्बद्ध सभी कार्यो को स्वतन्त्रतापूर्वक करनेवाला, तक्षक द्वारा काटे छाँटे गये सभी टुकड़ों को युक्तिपूर्वक जोड़ सकता है ॥२१॥
सर्वदा सूत्रग्राही के अनुसार कार्य करने वाला शिल्पी 'वर्धकि' कहा जाता है । इस प्रकार ये सभी शिल्पी कार्य करने वाले, अपने कार्यों में कुशल, शुद्ध, बलवान, दयावान होते है ॥२२॥
ये सभी शिल्पी अपने गुरु (प्रधान स्थपति) का सम्मान करने वाले, सदा प्रसन्न रहने वाले एवं सदैव स्थपति की आज्ञा का अनुसरण करने वाले होते है । उनके लिये स्थपति ही विश्वकर्मा माना जाता है ॥२३॥
उपर्युक्त (सूत्रग्राही, तक्षक एवं वर्धकि) शिल्पियों के विना स्थपति (भवननिर्माणसम्बन्धी) सभी कार्य नही कर सकता है । इसलिये स्थपति आदि चारो शिल्पियों का सदा सत्कार करना चाहिये ॥२४॥
इस संसार में इन स्थपति आदि को ग्रहण किये विना कोई भी (निर्माणसम्बन्धी) सुन्दर कार्य सम्भव नही है । अतः तीनों शिल्पियों को उनके गुरु (प्रहान स्थपति) के साथ ग्रहण करना चाहिये । इसी से मनुष्य संसार (शीत, धूप, वर्षा एवं गृह के अभाव में होने वाले कष्टों) से मुक्ति प्राप्त करते है ॥२५॥

मयमतम् - अध्याय ६

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

दिक्परिच्छेद

दिशा-निर्धारण - मैं (मय) दिशा के निर्धारण के विषय में कहता हूँ । यह कार्य उत्तरायण मास में शुभ शुक्ल पक्ष में सूर्योदय होने पर शङ्कु द्वारा करना चाहिये ॥१॥
शुभ पक्ष एवं नक्षत्र में सूर्यमण्डल के निर्मल रहने पर ग्रहण किये गये वास्तु के मध्य की भूमि को समतल करना चाहिये ॥२॥

शङ्कुलक्षण

जिस स्थान पर शङ्कुस्थापन करना हो, उस स्थान से चारो दिशाओं में दण्डप्रमाण से चौकोर किये गये भूखण्ड को जल द्वारा समतल करना चाहिये ॥
उस समतल भूमि के मध्य में शङ्कुस्थापन करना चाहिये । अब शङ्कु के प्रमाण का वर्णन किया जा रहा है ॥३॥

शङ्कु का लक्षण इस प्रकार है - यह एक हाथ लम्बा हो, शीर्ष पर इसका माप एक अङ्गुल हो तथा मूल भाग में इसका व्यास पाँच अङ्गुल हो । इसकी गोलाई सुन्दर हो, किसी प्रकार का इसमें व्रण न हो अर्थात् इसका काष्ठ कटा-फटा न हो एवं श्रेष्ठ हो ॥४॥
(उपर्युक्त माप उत्तम शङ्कुमान का है।) मध्यम शङ्कु अट्ठारह अङ्गुल लम्बा एवं कनिष्ठ शङ्कु बारह या नौ अङ्गुल लम्बा होता है । लम्बाई के समान ही इसका मूल एवं अग्र भाग में भी माप रखना चाहिये ॥५॥
दन्त (मौलसिरी), चन्दन, खैर या कत्था, कदर, शमी, शाक (सागौन) एवं तिन्दुक (तेंद) के वृक्ष शङ्कु-वृक्ष कहलाते है अर्थात् इनके काष्ठ से शङ्कुनिर्माण करना चाहिये ॥६॥
इनके अतिरिक्त कठोर काष्ठ वाले वृक्षों से भी शङ्कु निर्माण किया जा सकता है । शङ्कु का अग्र भाग चित्रवृत्तक (दोषहीन गोलाई) होना चाहिये । शङ्कु निर्माण के पश्चात् प्रातःकाल भूतल के पूर्व निर्धारित स्थल पर उसे स्थापित करना चाहिये ॥७॥
शङ्कु प्रमाण का दुगुना माप लेकर शङ्कु को केन्द्र बना कर वृत्त खींचना चाहिये । दिन के पूर्वाह्ण एवं अपराह्ण में उस मण्डलाकृति पर शङ्कु की छाया पड़ती है ॥८॥
उपर्युक्त छायायें जिन-जिन बिन्दुओं पर पड़ती है, उन बिन्दुओं को सूत्र से मिलाना चाहिये । इससे पूर्व एवं पश्चिम दिशा का ज्ञान होता है (पूर्वाह्ण मे जहाँ छाया पड़ती है, वह पश्चिम दिशा एवं अपराह्ण में जहाँ छाया पड़ती है, वह पूर्व दिशा होती है)। पूर्वोक्त बिन्दुओं को केन्द्र बनाकर मछली की आकृति बनानी चाहिये ॥९॥
दो सूत्रों को बिन्दुओं के केन्द्र में इस प्रकार रखना चाहिये कि वे दक्षिण से उत्तर तक जायँ । इसी प्रकार दूसरे सूत्र को उत्तर से दक्षिण तक ले जाना चाहिये ।
कहने का तात्पर्य यह है कि एक बिन्दु को केन्द्र बनाकर चाप की आकृति उत्तर से दक्षिण तक बनानी चाहिये । पुनः दूसरे बिन्दु को केन्द्र बनाकर दूसरी चापाकृति बनानी चाहिये । मण्डल के दो छोरों पर ये चापाकृतियाँ एक-दूसरे को काटती है । इस प्रकार मत्स्य की आकृति बनती है ॥१०॥
इन सूत्रों से बुद्धिमान स्थपति उत्तर एवं दक्षिण दिशा का निर्धारण करते है । (पूर्व के बाँयीं और उत्तर दिशा एवं दाहिनी ओर दक्षिण दिशा होती है । इस प्रकार भूमि में दिशा का ज्ञान होता है)।

अशुद्ध छाया -
जब सूर्य कन्या या वृषभ राशि में होता है, उस समय सूर्य की अपच्छाया नही पड़ती है (अर्थात् इस स्थिति में शङ्कु की छाया सीधे पूर्व और पश्चिम दिशा पर पड़ती है) ॥११॥

विशेष -
सूर्य की छाया बारहो महीनों में एक समान नहीं होती है । अतः सूर्य के नक्षत्रों के सङ्क्रमण के अनुसार शुद्ध रूप से पूर्व एवं पश्चिम का निर्धारण किस प्रकार किया जाय एवं अपच्छाया से बचा जाय, इसका उपाय आगे के श्लोकों में वर्णित है ।

मेष, मिथुन, सिंह एवं तुला राशि में सूर्य के रहने पर जहाँ शङ्कु की छाया पड़े, उससे दो अङ्गुल पीछे हट कर पूर्व एवं पश्चिम का निर्धारण करना चाहिये । जिस समय सूर्य कर्क, वृश्चिक एवं मीन राशि पर हो, उस समय अङ्गुल हट कर दिशानिर्धारण करना चाहिये ॥१२॥
धनु एवं कुम्भ पर सूर्य के रहने पर छः अङ्गुल एवं मकर पर आठ अङ्गुल हट कर शङ्कु की छाया के दाहिने एवं बाँये सुत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥१३॥

<u>रज्जुलक्षण</u>

माप-सूत्र का लक्षण - रज्जु अथवा सूत्र को आठ दण्ड लम्बा होना चाहिये । इसका निर्माण ताल, केतक के रेशे, कपास, कुश अथवा न्यग्रोध (बरगद) के छाल से होना चाहिये ॥१४॥
देवता, ब्राह्मण एवं राजा (क्षत्रिय) के वास्तु-मापन के लिये रज्जु को अङ्गुल के अग्र बाग के बराबर मोटा, तीन बत्तियों से निर्मित एवं विना गाँठ का बनाना चाहिये । वैश्य एवं शूद्र के लिये रज्जु को बत्तियों से बँटा होना चाहिये ॥१५॥

खातशङ्कुलक्षण

गड्ढे में गाड़े जाने वाले शङ्कु का लक्षण - गड्ढे में गाड़े जाने वाले शङ्कु जिन वृक्षों के काष्ठ से बनते है, उनके नाम है - खदिर, खादिर, महा, क्षीरिणी तथा अन्य कठोर काष्ठ वाले वृक्ष ॥१६॥
इसकी लम्बाई ग्यारह अङ्गुल से लेकर इक्कीस अङ्गुल तक होनी चाहिये एवं व्यास एक मुट्ठी होना चाहिए । इसका मूल सूई की भाँति नुकीला होना चाहिये ॥१७॥
स्थपति पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके स्थापक की आज्ञा से बाँयें हाथ में खातशङ्कु लेकर एवं दाहिने हाथ में हथौड़ा लेकर क्रमशः आठ बार शङ्कु पर प्रहार करे ॥१८॥

<u>सूत्रविन्यास</u>

सूत्र को भूमि पर फैलाना - चूँकि इस सूत्र से भवन-निर्माणसम्बन्धी कार्य में प्रमाण या माप निश्चित किया जाता है; अतः इसे 'प्रमाणसूत्र' कहा जाता है ॥१९॥
प्रमाणसूत्र के कार्यक्षेत्र के बाहर के चारो ओर के क्षेत्र का जिससे मापन किया जाता है, उस सूत्र को 'पर्यन्त सूत्र' कहते है । जिस सूत्र से निश्चित स्थान का निर्धारण, देवताओम के पद का निर्धारन तथा वास्तुपद का विन्यास किया जाता है, उसे 'विन्याससूत्र' कहते है ॥२०॥
गृह के दक्षिण भाग में गृह का गर्भ होता है, अतः उसी के पास से सूत्रपात प्रारम्भ करना चाहिये ॥२१॥
उस सूत्र से शङ्कु का मान लेते हुये शङ्कु को भूमि में गाड़ना चाहिये । इसी से प्रवेशमार्ग (अथवा गृह से बाहर निकलने का मार्ग) या भित्ति-निर्माण के लिये मापन करना चाहिये ॥२२॥
नगर, ग्राम एवं दुर्ग के मापन के लिये सर्वप्रथम सूत्रपात वायव्य कोण (उत्तर-पश्चिम) में करना चाहिये । इसके पश्चात् दक्षिण से उत्तर तथा पूर्व से पश्चिम सूत्रपात करना चाहिये । ॥२३॥
इसके पश्चात् पश्चिम से पूर्व एवं उत्तर से दक्षिण तक सूत्रप्रपात करना चाहिये । जिस सूत्र से ब्रह्मा के पद से प्रारम्भ कर पूर्व दिशा तक मापन किया जाता है, उसे 'त्रिसूत्र' कहते है ॥२४॥

इसके पश्चात् ब्रह्मस्थान से पश्चिम की ओर जाने वाले सूत्र को 'धन' दक्षिण की ओर जाने वाले सूत्र को 'धान्य' एवं उत्तर की ओर जाने वाले सूत्र को 'सुख' कहते है ॥२५॥
जिस सूत्र से सुखप्रमाण प्राप्त होता है, उसका माप यहाँ वर्णित है । बल के लिये केन्द्र के चारो ओर मण्डप के व्यास से एक हाथ, दो हाथ या तीन हाथ की दूरी लेते हुये उत्खनन करना चाहिये ॥२६॥

पुनरपच्छाया

पुनः दोषयुक्त छाया - पूर्व एवं पश्चिम के निर्धारण के लिये प्रत्येक माह प्रत्येक दस दिन के काल-खण्ड मे संख्याओं का संयोजन इस प्रकार करना चाहिये- सूर्य का सङ्क्रमण मेष राशि मे होने पर दो, एक, शून्य; वृष मे होने पर शून्य, एक, दो; मिथुन मे होने पर दो, तीन, चार; कर्क मे होने पर चार, तीन, दो; सिंह मे होने पर दो, एक, शून्य; कन्या मे होने पर शून्य, एक, दो; तुला मे होने पर दो, तीन, चार; वृश्चिक मे होने पर चार, पाँच, छः; धनु मे होने पर छ;, सात, आठ; मकर मे होने पर आठ, सात, छः; कुम्भ में होने पर छ;, पाँच, चार तथा मीन में होने पर चार, तीन एवं दो ॥२७॥
राशि के साथ सूर्य की गति का विचार एवं युक्तिपूर्वक समीक्षा करते हुये पूर्वोक्त अङ्गुलियों को छोड़ देना चाहिये । इसके अनुसार सीमा एवं दिशा आदि का शङ्कु द्वारा ग्रहण करते हुये स्थान को तैयार करना चाहिए ॥२८॥

मयमतम् - अध्याय ७

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

वास्तुपद-विन्यास -

मैं (मय ऋषि) सभी वास्तुमण्डलों के पद पद-विन्यास का वर्णन करता हूँ ।
बत्तीस प्रकार के पदविन्यास होते है । उनके नाम है - सकल, पेचक, पीठ, महापीठ, उपपीठ, उग्रपीठ, स्थण्डिलचण्डित, मण्डूक, परमशायिक, आसन, स्थानीय, देशीय, उभयचण्डित, भद्रमाहसन, पद्मगर्भ, त्रियुत, व्रतभोग, कर्णाष्टक, गणित, सूर्यविशालक, सुसंहित, सुप्रतीकान्त, विशाल, विप्रगर्भ, विश्वेश, विपुलभोग, विप्रतिकान्त, विशालाक्ष, विप्रभक्तिक, विश्वेसार, ईश्वरकान्त एवं इन्द्रकान्त ॥१-७॥
'सकल' पदविन्यास एक पद से बनता है । 'पेचक' चार पद, 'पीठ' नौ पद एवं 'महापीठ' सोलह पद से बनते है ॥८॥
'उपपीठ' का पदविन्यास पच्चीस पदों से, 'उग्रपीठ' छत्तीस पदों से, 'स्थण्डिल' उनचास पदों से एवं 'मण्डूक' चौसठ पदों से होता है ॥९॥
'परमशायिक' इक्यासी पदों से एवं 'आसन' सौ पदों से बनता है । एक सौ इक्कीस पदों से - ॥१०॥

'स्थानीय' पदो की रचना होती है । 'देशीय' पदविन्यास एक सौ चौवालीस पदो से तथा उभयचण्डित एक सौ उनहत्तर पदों से होता है ॥११॥
'भद्र-महासन' मे एक सौ छियानबे पद होते है तथा 'पद्मगर्भ' मे दो सौ पच्चीस पद होते है ॥१२॥
'त्रियुत' मे दो सौ छप्पन पद होते है एवं 'व्रतभोग' मे दो सौ नवासी पद होते है ॥१३॥
'कर्णाष्टक' मे तीन सौ चोबीस पद तथा 'गणित' वास्तु-पद मे तीन सौ एकसठ पद होते है ॥१४॥
'सूर्यविशाल' मे चार सौ पद कहे गये है एवं 'सुसंहित' पद-विन्यास में चार सौ एकतालीस पद होते है ॥१५॥
'सुप्रतीकान्त' मे चार सौ चौरासी पद तथा 'विशाल' मे पाँच सौ उन्तीस पद कहे गये है ॥१६॥
'विप्रगर्भ' पदविन्यास पाँच सौ छिहत्तर तथा 'विश्वेश' छः सौ पच्चीस पदों से निर्मित होते है ॥१७॥
'विपुलभोग' मे छः सौ छिहत्तर एवं 'विप्रकान्त' मे सात सौ उन्तीस पद होते है ॥१८॥
'विशालाक्ष' मे सात सौ चौरासी पद तथा 'विप्रभक्तिक' मे आठ सौ इकतालीस पद होते है ॥१९॥
'विश्वेशसार' मे नौ सौ पद एवं 'ईश्वरकान्त' मे नौ सौ इकसठ पद होते है ॥२०॥
'इन्द्रकान्त' पदविन्यास मे एक हजार चौबीस पद होते है । ये तन्त्रशास्त्र के प्राचीन विद्वानों के मत है ॥२१॥

सकल

प्रथम वास्तुपद-विन्यास मे केवल एक पद होता है । यह यतियों के लिये अनुकूल होता है । इसमे अग्निकार्य होता है एवं इसमे कुश बिछाया जाता है । इस पर पितृपूजन, देवपूजन एवं गुरुपूजन का कार्य सम्पन्न होता है । इसके चारो ओर खींची गई रेखाये भानु, अर्कि, तोय एवं शशि कहलाती है ॥२२॥

पेचक

पेचकसंज्ञक पद-विन्यास मे चार पद होते है । इसमे पिशाच, भूत, विषग्रह एवं राक्षसों की पूजा होती है । विधियों के ज्ञाता विधिपूर्वक इस प्रकार के कार्यों के लिये इस पदविन्यास को बनाते है एवं इसमे सभी विधियों का पालन करते हुये निर्मल एवं निष्कल शिवको प्रतिष्ठित करते है ॥२३॥
पीठसंज्ञक पद-विन्यास में नौ पद होते है । इसके चारो दिशाओ मे चारो वेद, ईशान आदि (कोणो) में क्रमशः उदक (जल), दहन (अग्नि), गगन (आकाश) एवं पवन (वायु) होते है तथा मध्य मे पृथिवी होती है ॥२४॥

महापीठ

महापीठ पद-विन्यास मे सोलह पद होते है एवं इसमे पच्चीस देवता होते है । इन पदो मे (ईशान कोण से प्रारम्भ कर क्रमशः) देवता इस प्रकार होते है - ईश, जयन्त, आदित्य, भृश, अग्नि,
वितथ, यम ॥२५॥
भृङ्ग, पितृ, सुग्रीव, वरुण, शोष, मारुत, मुख्य, सोम एवं अदिति बाहय पदो के देवता कहे गये है ॥२६॥
अन्दर के पदो के देवता आपवत्स, आर्य, सावित्र, विवस्वान, इन्द्र, मित्र, रुद्रज एवं भुधर है । केन्द्र मे ब्रहमा स्थित होते है, जो सबके स्वामी कहे गये है ॥२७॥

उपपीठादी

उपपीठ वास्तु-विन्यास में वे (पूर्वोक्त) देवता अपने पदों के अतिरिक्त अपने दोनो पार्श्वो मे एक-एक पद की वृद्धि प्राप्त करते हुये स्थित होते है ॥२८॥

बुद्धिमान (स्थपति) को चाहिये कि उन देवो के दोनो पार्श्वो मे एक-एक पद की वृद्धि तब तक करे, जब तक इन्द्रकान्त पद न बन जाय ॥२९॥

जिन वास्तु-विन्यासों मे सम संख्या मे पद हो, उन्हे चौसठ पद वाले वास्तु के समान एवं विषम संख्या मे पद हो तो इक्यासी पद वाले वास्तु के समान (देवों को) रखना चाहिये ॥३०॥

सभी वास्तु-विन्यासों मे मण्डूकसंज्ञक वास्तुपद- विन्यास सभी निर्माण-कार्यो के लिये उपयुक्त होता है; क्योंकि यह (तान्त्रिक) विधि पर आधारित होता है ॥३१॥

इसलिये मै (मय ऋषि) तन्त्रों से संक्षेप में विषय ग्रहण कर सकल एवं निष्कल चौसठ एवं इक्यासी दो पदविन्यासों का वर्णन करता हूँ ॥३२॥

(उपर्युक्त दोनो पदविन्यासो मे) वास्तुपद के मध्य मे ब्रह्मा आदि देवता स्थापित किये जाते है । ईशान कोण से प्रारम्भ कर पृथक-पृथक स्थापित किये जाने वाले देवता का यहाँ वर्णन किया जा रहा है ॥३३॥

दैवतस्थान

वास्तुदेवों के स्थान - (ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये देवता इस प्रकार है -) ईशान, पर्जन्य, जयन्त, महेन्द्रक, आदित्य, सत्यक, भृश तथा अन्तरिक्ष ॥३४॥

(आग्न्ये कोण से नैऋत्य कोण के देवता इस प्रकार है)- अग्नि, पूषा, वितथ, राक्षस, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृष तथा पितृदेवता ॥३५॥

(पश्चिम से वायव्य तक तथा उत्तर के देवता इस प्रकार है) दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलाधिप (वरुण), असुर, शोष, रोग, वायु एवं (उत्तर दिशा मे) नाग ॥३६॥

(उत्तर दिशा के देवता है-) मुख्य, भल्लाटक, सोम, मृग, अदिति एवं उदिति- ये बत्तीस बाह्य पदों के देवता है ॥३७॥

अन्तः देवों मे पूर्वोत्तर (ईशान) मे आप एवं आपवत्स देवता तथा पूर्व-दक्षिण (आग्नेय कोण) मे सविन्द्र एवं साविन्द्र देवता होते है ॥३८॥

दक्षिण-पश्चिम (नैऋत्य कोण) मे इन्द्र एवं इन्द्रराज तथा पश्चिमोत्तर (वायव्य कोण) मे रुद्र एवं रुद्रजय देवता कहे गये है ॥३९॥

मध्य मे स्थित ब्रह्मा शम्भु है तथा अर्य, विवस्वान् मित्र एवं भूधर - ये चार देवता उनकी ओर मुख करके स्थित होए है ॥४०॥

ईशान आदि चारो कोणों के बाहर क्रमशः चार स्त्री-देवताओं-चरकी, विदारी, पूतना एवं पापराक्शसी की स्थापना होनी चाहिये । ये चारो विना पद के ही बलि (वास्तु के निमित्त हविष) ग्रहण करती है । शेष देवो का पद कहा गया है ॥४१॥

इस प्रकार इक्यासी संख्याओ का एक पद वास्तुचक्र मे मण्डलदेवताओं का होता है, जिसका विवरण अग्रलिखित है- २० + ७ + ६ + ६ + ६ +६ + ६ + १२ + ४ + ८ = ८१ अर्थात खड़ी और पड़ी दश-दश रेखायें होने से इक्यासी पद का वास्तुचक्र सम्पन्न होता है ॥४२॥

चौसठ पद वाले मण्डूक पद मे मध्य के चार पद मे ब्रह्मा होते है ॥४३॥

मण्डूकपद

(ब्रह्मा के पश्चात् उनके चारो ओर॰ आर्यक आदि चार देवता (आर्य, विवस्वान्, मित्र, भूधर) पूर्व से आरम्भ होकर तीने-तीन पद मे स्थित होते है । आप आदि आठ देवता (आप, आपवत्स, सविन्द्र, साविन्द्र, इन्द्र, इन्द्रराज, रुद्र एवं रुद्रजय) ब्रह्मा के चारो कोणों मे आधे-आधे पद मे प्रतिष्ठित होते है ॥४४॥

महेन्द्र, राक्षस, पुष्प एवं भल्लाटक - ये चारो देवता दिशाओं मे (क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं पूर्व मे) दो-दो पद के भागी बनते है ॥४५॥

जयन्त, अन्तरिक्ष, वितथ, मृष, सुग्रीव, रोग, मुख्य एवं दिति को एक-एक पद प्राप्त होता है ॥४६॥

शेष बचे ईश आदिआठ देवता (ईश, पर्जन्य, अग्नि, पूषा, पितृदेवता, दौवारिक, वायु एवं नाग) कोणों पर आधा-आधा पद पाप्त करते है । इस प्रकार मण्डूक वास्तुपद मे देवताओं को स्थान प्राप्त होता है ॥४७॥

अपने-अपने क्रम से ये सभी देवता बाँये से दाहिने पदो मे स्थित होते है । सभी देवगण ब्रह्मा को देखते हुये अपने-अपने पदों मे स्थान ग्रहण करते है ॥४८॥

वास्तुपुरुषविधान

वास्तुपुरुष की रचना - वास्तु-पुरुष निकुब्ज पूर्व की दिशा मे सिर किये वास्तुभूमि पर स्थित होता है । उसके छः वंश (अस्थियाँ), चार मर्मस्थल, चार सिरायें एवं एक हृदय होते है ॥४९॥

उस वास्तुपुरुष के सिर आर्यकसंज्ञक देवता होते है । सविन्द्र दाहिनी भुजा एवं साविन्द्र कक्ष होते है ॥५०॥

आप एवं आपवत्स कक्षसहित वाम भुजा, विवस्वान दक्षिण पार्श्व एव महीधर वाम पार्श्व बनते है ॥५१॥

वास्तुपुरुष का मध्य शरीर ब्रह्मा से निर्मित होता है एवं मित्र उसके पुरुषलिङ्ग होते है । इन्द्र एवं इन्द्रराज वास्तुपुरुष के दक्षिण पाद कहे गये है ॥५२॥

रुद्रं एवं रुद्रजय इसके वाम पद है एवं वह अधोमुख होकर भूमि पर सोता है । इसके छः वंश (रेखाये) है, जो पूर्व एवं उत्तर की ओर होते है ॥५३॥

वास्तुमण्डल के मध्ये में वास्तुपुरुष के मर्मस्थल होते है एवं ब्रह्मा वास्तुपुरुष के हृदय है । वास्तुमण्डल के निष्कूट अंश (रेखाये) वास्तुपुरुष की सिरायें (रक्तवाहिनी शिराये) होती है ॥५४॥

मनुष्यों के प्रत्येक गृह में वास्तुपुरुष का निवास होता है, जो गृह मे रहने वालो के शुभ एवं अशुभ परिणाम का कारक होता है । विद्वान मनुष्य को चाहिये कि वास्तुपुरुष के अङ्गो को गृह के अङ्गो को गृह के अङ्गो (स्तम्भ, भित्ति आदि) से पीड़ित न करे ॥५५॥

वास्तुपुरुष का जो-जो अङ्ग पीड़ित होता है, गृहस्वामी के उस-उस अङ्ग मे रोग होता है । अतः विद्वान् गृहस्वामी को वास्तुपुरुष के अंगो पर निर्माणकार्य का सर्वथा त्याग करना चाहिये ।

पुनर्मण्डूकपद

पुनः मण्डूक- पदविन्यास - वास्तु-मण्डल मे ४५ देवता होते है । मण्डूकसंज्ञक वास्तुमण्डल में चौंसठ पद होते है । केन्द्र मे ब्रह्मा के चार पद होते है । ब्रह्मा की ओर मुख किये चार देवों के तीन-तीन पद, सोलह देवों के आधे-आधे पद, आठ देवों के एक-एक पद एवं सोलह के दो पद होते है ॥५६-५७॥
परमशायी वास्तु-मण्डल मे ब्रह्मा को नौ पद प्राप्त होते है । उनकी ओर मुख किये चारो देवों को छः-छः पद, कोण मे स्थित देवो को दो-दो पद एवं बाहर स्थित सभी देवो को एक-एक पद प्राप्त होता है ॥५८॥

मयमतम् - अध्याय ८

असुरराज 'मय' के मयमतम् ग्रंथमे विद्वानों, देवों एवं मनुष्योंके संपूर्ण भवनलक्षणोंका वर्णन प्रस्तुत किया है।

बलिकर्म

अपने-अपने वास्तुपद में स्थित वास्तुदेवों का बलिकर्म (पूजा एवं नैवेद्य) होना चाहिये । इनका बलिकर्म सामान्य आहत्य मार्ग (प्रत्येक देवता के अनुसार पूजा एवं नैवेद्य) से करना चाहिये । बलिकर्म में ब्रह्मा आदि देवों की क्रमानुसार पूजा करनी चाहिये ॥१॥

आहत्यबलि

पूजन-सामग्री एवं नैवेद्य - बलिकर्म मे देवों को इस प्रकार क्रम देना चाहिये - ब्रह्मस्थान की पूजा गन्ध, माल्य, धूप, दूध, मधु, घी खीर एवं धान के लावा से करनी चाहिये ॥२॥
(इसके पश्चात् ब्रह्मा के चारो ओर स्थित देवोंकी पूजा होती है।) आर्यक का बलिकर्म फलनिर्मित भोज्य पदार्थ, उड़द एवं तिल से करना चाहिये । विवस्वान् को दधि एवं मित्रक को दूर्वा प्रदान करना चाहिये ॥३॥
महीधर को दूध प्रदान करना चाहिये । इस प्रकार वास्तुमण्डल के भीतर केन्द्रस्थ देवों का बलिकर्म सम्पन्न होता है (इसके पश्चात् बाह्य कोष्ठों के देवों का बलिकर्म होता है ।) पर्जन्य को घी एवं ऐन्द्र को पुष्पसहित नवनीत प्रदान करना चाहिये ॥४॥
इन्द्र को कोष्ठ एवं पुष्प, सूर्य को कन्द एवं मधु, सत्यक को मधु तथा भृश को नवनीत प्रदान करना चाहिये ॥५॥
आकाश को उड़द एवं हरताल, अग्नि को दूध, घी एवं तगरपुष्प तथा पूषा को शिम्बान्न (तरकारी) एवं पायस प्रदान करना चाहिये ॥६॥
वितथ को पका हुआ कङ्कु, राक्षस को मदिरा, यम को तरकारी एवं खिचड़ी तथा गन्धर्व को सुगन्धि बलिरूप मे प्रदान करना चाहिये ॥७॥

भृङ्गराज को समुद्र की मछली, मृष को मछली एवं भात, निऋति को तेल में पका पिण्याक (पिण्डी या मुठिया) तथा दौवारिक को बीज की बलि देनी चाहिये ॥८॥
सुग्रीव को लड्डू, पुष्पदन्त को पुष्प एवं जल, वरुण को दूध एवं धान्य (अन्न) तथा असुर को रक्त प्रदान करना चाहिये ॥९॥
शोष को तिलयुक्त चावल, रोग को सूखी मछली, वायु को चर्बी एवं हरिद्रा (हल्दी) तथा नाग को मद्य एवं लावा प्रदान करना चाहिये ॥१०॥
मुख्य को अन्न का चूर्ण (आटा), दधि, एवं घृत, भल्लाट को गुड़ में पका भात एवं सोम को दूध-भात प्रदान करना चाहिये ॥११॥
मृग को शुष्क मांस, देवमाता अदिति को लड्डू, उदिति को तिल-भोज्य एवं ईश को दुध में पका अन्न एवं घृत को बलिरूप में चढ़ाना चाहिये ॥१२॥
लावा एवं धान्य सविन्द्र को, सुगन्धित जल साविन्द्र को, बकरी का मेद एवं मूँग का चूर्ण इन्द्र एवं इन्द्रराज को प्रदान करना चाहिये ॥१३॥
रुद्र एवं रुद्रजय को मांस तथा चर्बी, आप एवं आपवत्स को कुमुदपुष्प, मछली का मांस, शङ्ख (शङ्ख के मध्य स्थित मांस) एवं कछुये का मांस प्रदान करना चाहिये ॥१४॥
चरकी को मद्य एवं घृत, विदारी को लवण, पूतना को तिल एवं पिष्ट तथा पाप-राक्षसी को मूँग का सत्त्व प्रदान करना चाहिये ॥१५॥

साधारणबलि

सामान्य रूप से सभी देवों को प्रदान की जाने वाली बलि इस प्रकार है- साधारण बलि घृत के सहित शुद्ध भोजन एवं दधि है । सभी देवों को क्रमशः गन्ध आदि प्रदान करना चाहिये ॥१६॥
कन्या या वेश्या को बलि-पदार्थ धारण करने योग्य माना गया है । इन्हे अङ्गन्यास एवं करन्यास द्वारा पवित्र मन (एवं शरीर) वाली बनना चाहिये ॥१७॥
वास्तुदेवों का क्रमानुसार नाम लेना चाहिये । उनके नाम से पूर्व 'ॐ' एवं नाम के पश्चात् 'नमः' लगाना चाहिये । उन्हे प्रथमतः जल एवं उसके पश्चात् साधारण बलि देनी चाहिये ॥१८॥
इसके पश्चात् उनको विशिष्ट बलि प्रदान कर पीछे जल प्रदान करना चाहिये । विद्वानों के अनुसार ग्रामादि में मण्डूक वास्तुपद एवं परमशायिक वास्तुपद में भी बलि प्रदान करना चाहिये ॥१९॥
इस प्रकार पूर्व में कही गयी विधि से देवों को उनके क्रम के अनुसार तृप्त करके उन्हे विधिपूर्वक विसर्जित करना चाहिये, जिससे वास्तुक्षेत्र का निर्माण करने के लिये विन्यास (भवननिर्माण की योजना) किया जा सके ॥२०॥
ब्रह्मा एवं बाह्य देवों को उनके-उनके स्थानों पर रखना चाहिये, जिससे देवालय एवं द्वार का विधान उनको ध्यान में रखते हुये किया जा सके ॥२१॥
पद से रहित शेष सभी देवों को वास्तु की रक्षा के लिये स्थान देना चाहिये । इसी विधि से ग्रामादि मे भी देवों का विन्यास करना चाहिये । इस प्रकार वास्तु-पदविन्यास एवं वास्तुदेवों के पूजन के रहस्य का वर्णन किया गया है ॥२२॥

प्रातःकाल से उपवास करते हुये स्थपति विशुद्ध शरीर एवं शान्त मन से वास्तु देवों की विशेष एवं सामान्य बलि को लेकर पूर्ववर्णित रीति से भली-भाँति पूजा करे एवं बलि प्रदान करे ॥२३॥

मयमतम् - अध्याय ९

मयमतम् एक वास्तुशास्त्र है। मयमतम् एक उचित अभिविन्यास, सही आयाम और उपयुक्त सामग्री के चयन के लिए संकेत देता है।

ग्रामविन्यास

ग्रामयोजना - अब ग्राम आदि का नियमानुसार प्रमाण एवं विन्यास (निर्माण-योजना) का वर्णन किया जा रहा है ।

पुनर्मानोपकरण

पुनः प्रमाण-चर्चा -पाँच सौ दण्डों का एक क्रोश एव उसके दुगने (दो क्रोश) का एक अर्धगव्यूत मान होता है ॥१॥

एक अर्धगव्यूत का दुगुना एक गव्यूत होता है । आठ हजार दण्ड का एक योजन होता है । आठ धनु (दण्ड) का चौकोर माप

काकनीका एवं उसका चौगुना माप माष कहलाता है ॥२॥

माश का चार गुना वर्तनक एवं पाँच गुना वाटिकासंज्ञक माप होता है । वाटिका का चार गुना स्थान ग्राम मे एक परिवार के

लिये उत्तम होता है ॥३॥

इस प्रकार दण्डमाप के द्वारा भूमि का मान होता है । उनका मान (इस प्रकार) कहा जा रहा है ।

ग्रामादिमानम्

ग्रामादि का प्रमाण - (सबसे बड़े) ग्राम का मान सौ हजार दण्ड कहा गया है ॥४॥

बीस हजार दण्ड से प्रारम्भ कर सम संख्या में मानवृद्धि करते हुये ग्रामों के पाँच प्रकार के प्रमाण होते है । ग्राम के बीस भाग

में एक भाग एक कुटुम्ब की भुमि होती है ॥५॥

हीन (सबसे छोटे) ग्राम का मान पाँच सौ दण्ड का होता है । इससे प्रारम्भ कर पाँच सौ दण्ड बढ़ाते हुये बीस हजार दण्ड तक

मान प्राप्त करना चाहिये ॥६॥

ग्राम के चालीस भेद होते है । यह ग्राम का मान है । (चौड़ाई में) दो हजार दण्ड, एक हजार पाँच सौ दण्ड तथा हजार दण्ड

(ग्राम का मान है) ॥७॥
नौ सौ, सात सौ, पाँच सौ एवं तिन सौ (ग्राम का) विस्तार होता है । नगर का दण्डमान एक हजार दण्ड से प्रारम्भ कर दो

हजार दण्डपर्यन्त होता है ॥८॥
(सबसे बड़े) नगर का मान आठ हजार दण्ड होता है । दो-दो हजार दन्ड कम करते हुये नगर के चार प्रकार के मान प्राप्त होते
है ॥९॥
ग्राम, खेट, खर्वट, दुर्ग एवं नगर - ये पाँच प्रकार के (वसति-विन्यास) होते है । अब मै (मय ऋषि) दण्ड के द्वारा प्रत्येक के तीन
-तीन भेद कहता हूँ ॥१०॥
छोटे मे भी सबसे छोटा ग्राम चौसठ दण्ड होता है । मध्यम ग्राम का उसका दुगुना एवं उत्तम तीन गुना होता है ॥११॥
छोटे खेट का माप दो सौ छप्पन, मध्यम खेट का तीन सौ बीस तथा उत्तम खेट का माप तीन सौ चौरासी दण्ड होता है ॥१२॥
छोटे खर्वट का माप चार सौ अड़तालीस, मध्यम खर्वट का माप पाँच सौ बारह तथा उत्तम खर्वट का माप पाँच सौ छिहत्तर दण्ड
कहा गया है ॥१३॥
कनिष्ठ दुर्ग छः सौ चालीस दण्ड, मध्यम दुर्ग सात सौ चार दण्ड एवं उत्तम दुर्ग सात सौ अड़सठ दण्ड का होता है ॥१४॥
कनिष्ठ नगर आठ सौ बत्तीस दण्ड, मध्यम नगर आठ सौ छियानबे दण्ड तथा उत्तम नगर नौ सौ साठ दण्ड माप का होता है

॥१५॥
सोलह दण्ड की वृद्धि करते हुये प्रत्येक के नौ भेद होते है । इनकी लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी, तीन चौथाई, आधी या चौथाई

अधिक होती है ॥१६॥
अथवा छः या आठ भाग अधिक हो सकता है । इच्छानुसार इसकी लम्बाई-चौड़ाई समान भी हो सकती है । इनकी लम्बाई

एवं चौड़ाई विषम दण्डसंख्या में होनी चाहिये ॥१७॥
शेष का सम्बन्ध उस क्षेत्र से होता है, जिस पर निर्माणकार्य नहीं हुआ रहता । इस विधि का प्रयोग सभी ग्राम आदि

वास्तुक्षेत्रों पर होता है ।

आयादि

आयादि को प्राप्त करने के लिये दण्डो को बढ़ाया-घटाया जा सकता है ॥१८॥
जिस वास्तु का माप आय, व्यय, नक्षत्र, योनि, आयु, तिथि एवं वार के विपरीत न हो एवं न ही यजमान (गृहस्वामी) के नाम,

जन्मनक्षत्र अथवा स्थान से विपरीत होना चाहिये (कहने का तात्पर्य यह है कि ग्राम आदि वसतिविन्यास के सभी विचारणीय

बिन्दु गृहस्वामी एवं उसकी भूमि के अनुकूल होने चाहिये) ॥१९॥
सभी प्रकार की सम्पत्तियो की प्राप्ति के लिये वास्तुक्षेत्र को उसके मान समेत ग्रहण करना चाहिये । वास्तुक्षेत्र के चौड़ाई एवं

लम्बाई को जोड़ कर आठ से एवं नौ से गुणा करना चाहिये । प्राप्त गुणनफल में क्रमशः बारह एवं दश का भाग देना चाहिये

॥२०॥
शेष संख्या से क्रमशः आय एवं व्यय का ज्ञान करना चाहिये । (लम्बाई एवं चौड़ाई के योग में) तीन से गुणा कर आठ से

भाग देने पर जो शेष बचे, उससे योनियों की प्राप्ति होती है । ये योनियाँ ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज एवं काक कही

गई है ॥२१॥
(उपर्युक्त) आठ योनियाँ कही गई है । इनमे ध्वज, सिंह, वृष एवं गज प्रशस्त है । पुनः (लम्बाई एं चौड़ाई के योग में) आठ का

गुना कर सत्ताईस का भाग देने पर भागफल से वय का ज्ञान होता है ॥२२॥
लम्बाई एवं चौड़ाई के योग में तीस का भाग देने पर शेष संख्या से सौर दिनों का ज्ञान होता है । प्रथम वार रविवार होता है

। सभी प्रकार के वास्तुओं में इसी प्रकार ज्ञात कर कार्य करना चाहिये ॥२३॥
आय का अधिक होना सुखदायक होता है एवं व्यय का अधिक होना नाश का कारण होता है । इसके विपरीत होना

विपत्तिकारक होता है । अतः भली-भाँति इसकी परीक्षा करने के पश्चात् ही कार्य करना चाहिये ॥२४॥

विप्रसंख्या

ब्राह्मणों की संख्या - सर्वश्रेष्ठ ग्राम वह है, जहाँ बारह हजार ब्राह्मण हों । मध्यम ग्राम में दस हजार तथा छोटे ग्राम में आठ

हजार ब्राह्मण होते हैं ॥२५॥
सात हजार ब्राह्मण मध्योत्तम ग्राम में होते है । छः हजार ब्राह्मण मध्यम-मध्यम ग्राम मे तथा पाँच हजार ब्राह्मण मध्यम के

अधम ग्राम मे होते है ॥२६॥
अधमोत्तम (छोटे ग्राम मे उत्तम) ग्राम मे चार हजार, अधमसम (छोटे मे मध्यम) ग्राम मे तीन हजार तथा अधमाधम (छोटे मे

सबसे छोटे) ग्राम मे दो हजार ब्राह्मण रहते है ॥२७॥
नीचोत्तम ग्राम में एक हजार ब्राह्मण रहते है । नीच-मध्यम ग्राम में सात सौ एवं नीचाल्प ग्राम में पाँच सौ ब्राह्मण होते है,

ऐसा आचार्यों का कथन है ॥२८॥
ब्राह्मणों के आवास की दृष्टी से दस प्रकार के क्षुद्रक ग्राम इस प्रकार है - एक हजार आठ, दो हजार सोलह, तीन हजार चौबीस,

चौरासी, चौंसठ, पचास, बत्तीस तथा चौबीस ॥२९॥
बारह एवं सोलह ब्राह्मण (आवास) की दृष्टी से क्षुद्रक ग्राम के दस भेद होते है । यदि ऐसा न हो तो एक से दस ब्राह्मण को

भूमि दान मे देना चाहिये ॥३०॥
जिस ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार रहता हो, उसे 'कुटिक' ग्राम तथा 'एकभोग' ग्राम कहते है । वहाँ 'सुखालय' प्रशस्त होता है

तथा 'दण्डक' आदि अन्य ग्रामो में प्रशस्त होता है ॥३१॥
सभी प्रकार के वास्तु-विन्यास दो विभागों-युग्म एवं अयुग्म (सम संख्या एवं विषम संख्या) मे रक्खे जाते है । युग्म

वास्तुविन्यास मे सूत्रपथ से मार्गविन्यास एवं अयुग्म विन्यास मे मध्यम पद से वीथी का विन्यास किया जाता है ॥३२॥

ग्रामनामानि

ग्रामो के नाम - ग्राम आठ प्रकार के होते है - दण्डक, स्वस्तिक, प्रस्तर, प्रकीर्णक, नन्द्यावर्त, पराग, पद्म एवं श्रीप्रतिष्ठित ॥३३-३४॥

वीथिविधानम्

मार्ग-विधान - सभी ग्राम अन्दर एवं बाहर से मङ्गलजीवी से आवृत होते है । ग्राम मे ब्रह्मस्थान (मध्य भाग) में देवालय या

पीठ (देवों के निमित्त बना चबूतरा) होता है ॥३५॥

मार्गों की चौड़ाई एक, दो, तीन, चार या पाँच कार्मुक (दण्ड) होती है; किन्तु पूर्व से पश्चिम जाने वाले 'महापथ' संज्ञक मार्ग छः

दण्ड चौड़े होते है ॥३६॥

ग्राम की मध्य-वीथी 'ब्रह्मवीथी' होती है । वही ग्राम की नाभि होती है । द्वार से युक्त वीथी 'राजवीथी' होती है । दोनो पार्श्वों से

बनी वीथी 'क्षुद्रा' होती है ॥३७॥

सभी विथियाँ 'कुट्टिमका' संज्ञक होती है । इसी प्रकार मङ्गलवीथी 'रथमार्ग' कहलाती है । तिर्यग द्वार (प्रधान द्वार का सहायक

द्वार) युक्त वीथियाँ 'नाराचपथा' कहलाती है । उत्तर की ओर जाने वाले मार्ग 'क्षुद्र', 'अर्गल' एवं 'वामन कहे जाते है ॥३८॥

ग्राम को घेरने वाली वीथी 'मङ्गलवीथिका' तथा पुर को आवृत करने वाल वीथी 'जनवीथिका' होती है । इन दोनों को 'रथ्या' भी

कहा जाता है । प्राचीन विद्वानों के अनुसार अन्य मार्गो को भी इसी प्रकार समझना चाहिये ॥३९॥

ग्रामभेद

ग्राम के भेद - ब्राह्मणों से परिपूर्ण वसति-विन्यास को 'मङ्गल' कहते है । राजा (क्षत्रिय) तथा व्यापारियों से युक्त स्थान 'पुर'

कहलाता है । जहाँ अन्य जन निवास करते है, उसे 'ग्राम' कहते है । जहाँ तपस्वियो का निवास होता है, उसे 'मठ' कहते है

॥४०॥

पूर्व एवं उत्तर की ओर सीधी रेखा से बने हुये दण्ड के समान मार्ग होते है एवं चार द्वार से युक्त होते है । ऐसे ग्राम को

मुनिजन दण्डक कहते है । जहाँ दण्ड के सदृश एक वीथी होती है, उसे भी 'दण्डक' ग्राम कहते है ॥४१-४२॥
नौ पदों से युक्त ग्राम में पद से बाहर चारो ओर एक मार्ग होता है । एक वीथी उत्तर-पूर्व से प्रारम्भ होकर पूर्व की ओर जाती

है । वह दक्षिण से प्रारम्भ होती है ॥४३॥
दक्षिण वीथी पूर्व-दक्षिण से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर जाती है । दक्षिण से पश्चिम होकर जाने वाली वीथी उत्तर की ओर

जाती है ॥४४॥
दूसरी वीथी उत्तरसे प्रारम्भ होती है, इसलिये उत्तरवीथी है । इसका मुख पूर्व की ओर होता है । इस ग्राम को 'स्वस्तिक' कहा

गया है । इसके चार मार्ग स्वस्तिक की आकृति के होते है ॥४५॥
'प्रस्तर' ग्राम पाँच प्रकार के होते है । इसमें पूर्व से पश्चिम तीन मार्ग जाते है । उत्तर से जाने वाले मार्ग तीन, चार, पाँच, छः

या सात होते है ॥४६॥
'प्रकीर्णक' ग्राम पाँच प्रकार के होते है । इसमे चार मार्ग पूर्व से पश्चिम जाते है । उत्तर से बारह, ग्यारह, दस, नौ या आठ मार्ग

जाते है ॥४७॥
(नन्द्यावर्त ग्राम का लक्षण इस प्रकार है-) पाँच सड़के पूर्व से पश्चिम की ओर जाती है । उत्तर दिशा से तेरह, इक्कीस, पन्द्रह,

सोलह एवं सत्रह मार्गो द्वारा । (इस ग्राम का विन्यास किया जाता है) ॥४८॥
नन्द्यावर्त ग्राम (उपर्युक्त मार्गो से) युक्त होता है । यह नन्द्यावर्त आकृति का होता है । बाहर की ओर जाने वाले मार्गो के बाहर

चारो दिशाओं में चार द्वार होते है ॥४९॥
अनेक मार्गो के आपस मे संयुक्त होने से अनेक मार्ग-संयोग (तिराहे, चौराहे आदि) बनते है । नन्द्यावर्त की आकृति के सदृश

होने के कारण इस ग्राम को 'नन्द्यावत' कहते है ।
पराग ग्राम का लक्षण इस प्रकार है - यहाँ अट्ठारह से बाईस संख्या तक मार्ग उत्तर से जाते है ॥५०॥

छः मार्ग पूर्व से निकलते है । इस ग्राम को 'पराग' कहते है । (पद्म ग्राम में) पूर्व-पश्चिम में सात मार्ग होते है तथा उत्तर से

तीन, चार, पाँच- ॥५१॥
छः या सात मार्ग निकलते है तथा बीस मार्ग-संयोग बनते है । इस प्रकार 'पद्म' ग्राम के पाँच भेद बनते है । (श्रीप्रतिष्ठित ग्राम

में) आठ मार्ग पूर्व दिशा से तथा अट्ठाईस से प्रारम्भ कर ॥५२॥
बत्तीस संख्या तक मार्ग उत्तर दिशा से निकलते है । इसे 'श्रीप्रतिष्ठित' ग्राम कहते है । इस प्रकार आठ प्रकार के ग्राम होते है

॥५३॥
अथवा 'श्रीवत्स' आदि अन्य ग्रामों का भी विन्यास करना चाहिये । सभी ग्रामों के नाभि (केन्द्र-स्थल) को बुद्धिमान व्यक्ति को

विद्ध नही करना चाहिये ॥५४॥
ग्राम अथवा गृह में दण्डच्छेद नही करना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को ग्राम अथवा गृह के विन्यास हेतु सकल (एकपद वास्तु)

से लेकर आसन (एक हजार पद वास्तु) तक (किसी उपयुक्त) पदविन्यास को ग्रहण करना चाहिये ॥५५॥
छोटे ग्राम में चार मार्ग, मध्यम ग्राम में आठ मार्ग एवं उत्तम ग्राम में बारह अथवा सोलह मार्ग होते है ॥५६॥

द्वार

द्वार - भल्लाट, महेन्द्र, राक्षस एवं पुष्पदन्त पद द्वारस्थापन के स्थान है तथा जलमार्ग भी चार है ॥५७॥
जलमार्ग के चार वास्तु-पद वितथ, जयन्त, सुग्रीव एवं मुख्य है । भृश, पूषा, भृङ्गराज, दौवारिक, शोष, नाग, दिति एवं जलद

॥५८॥
इन आठ वास्तुदेवों के पद उपद्वार के स्थान है । इन उपद्वारों का विस्तार तीन, पाँच या सात हस्त होता है ॥५९॥
इन उपद्वारों की ऊँचाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी, डेढ़ गुनी अथवा तिन चौथाई होनी चाहिये । सभी ग्रामों के चारो ओर बारह

परिका (खाई) एवं वप्र (प्राचीर, घेरने वाली भित्ति) होनी चाहिये ॥६०॥

नदि के दक्षिण तट पर उससे घिरे ग्राम (उत्तम) होते है । इक्यासी वास्तुपद एवं चौसठ वास्तुपद-विन्यास से युक्त ग्राम का

मध्य भाग ब्राह्मक्षेत्र एवं इसके पश्चात् दैव क्षेत्र होता है ॥६१॥
इसके पश्चात् मानुष एवं पैशाच क्षेत्र का निश्चय करना चाहिये । दैव एवं मानुष क्षेत्र में ब्राह्मणों के गृह होने चाहिये ॥६२॥
अपने कार्य के द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों का गृह पैशाच क्षेत्र में होना चाहिये अथवा वहाँ ब्राह्मणों का आवास होना

चाहिये । उनके मध्य पूर्व आदि दिशाओं में क्रमानुसार देवालय की स्थापना करनी चाहिये ॥६३॥

प्रासादस्थान

वास्तु-क्षेत्र के भीतर ब्राह्मण एवं देवता की स्थापना करनी चाहिये । शिवालय की स्थापना ग्राम के बाहर होनी चाहिये अर्थात्

शिवालय की स्थापना इच्छानुसार ग्राम के भीतर या बाहर कही भी हो सकती है ॥६४॥
भृङ्गराज के या पावक के भाग पर विनायक का मन्दिर होना चाहिये । ईश के पद पर, सोम के पद पर अथवा अन्य किसी

वास्तुपद पर शिवमन्दिर की स्थापना करनी चाहिये ॥६५॥
देवालय के बाहर गृहो की श्रेणी पूर्ववर्णित मान के अनुसार नियमपूर्वक होनी चाहिये । शिव के परिवार-देवताओ के स्थान का

यहाँ वर्णन किया जा रहा है ॥६६॥
सूर्य के वास्तुपद पर सूर्यदेवता का स्थान एवं अग्नि के पद पर कालिका का मन्दिर होना चाहिये । भृश के वास्तुपद पर

विष्णुमन्दिर तथा यम के पद पर षण्मुख (कार्तिकेय) का मन्दिर होना चाहिये ॥६७॥
भृश, मृग या नैऋत्य स्थानपर केशव का मन्दिर होना चाहिये । सुग्रीव के पद पर या पुष्पदन्त के पद पर गणाध्यक्ष (गणेश)

का मन्दिर होना चाहिये ॥६८॥
आर्यक का भवन नैऋत्य कोण मे एवं विष्णु का विमान (देवालय) वरुण के पद पर होना चाहिये । मन्दिर में ऊपरी तल से

क्रमशः विष्णु की स्थानक (खड़ी), आसन (बैठी) एवं शयन प्रतिमा होनी चाहिये ॥६९॥
अथवा भूतल पर बड़ी एवं भारी तथा ऊपरी तल पर स्थानक मुद्रा में विष्णुप्रतिमा होनी चाहिये । सुगल के पद पर सुगत

(बुद्ध) की प्रतिमा एवं भृङ्गराज के पद पर जिन-देवालय होना चाहिये ॥७०॥
वायु के पद पर मदिरा का मन्दिर, मुख्य के पद पर कात्यायनी का मन्दिर, सोम के पद पर धनद (कुबेर) का मन्दिर अथवा

मातृदेवियों का मन्दिर होना चाहिये ॥७१॥
शिवालय ईश, पर्जन्य या जयन्त के पद पर, कुबेर का मन्दिर सोम अथवा शोष के पद पर निर्मित कराना चाहिये ॥७२॥
वही गणेश का भवन होना चाहिये । अथवा अदिति के पद पर मातृदेवियो का मन्दिर होना चाहिये । मध्य में विष्णु का

मन्दिर होना चाहिये । वही सभामण्डप भी होना चाहिये- ऐसा कहा गया है ॥७३॥
अथवा सभास्थल ब्रह्मा के पद पर ईशान कोण या आग्नेय कोण में होना चाहिये । विष्णुमन्दिर उत्तर-पश्चिम मे अथवा दक्षिण

में होना चाहिये ॥७४॥
मध्य के पाँच पदों पर निर्माणकार्य दुःखकारक होता है । वास्तुमण्डल के युग्म पद से तथा अयुग्म पद (समसंख्या एवं

विषमसंख्या) से निर्मित होने पर ब्रह्मस्थान आठ भाग एवं नौ भाग से निर्मित होना चाहिये ॥७५॥
ब्रह्मा के भाग को छोड़ कर पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर क्रमशः नलिनक, स्वस्तिक,नन्द्यावर्त, प्रलीनक, श्रीप्रतिष्ठित, चतुर्मुख एवं

पद्मसम भवन का निर्माण करना चाहिये । वहाँ तीन तल से लेकर बारह तलपर्यन्त विष्णुच्छन्द विमान का निर्माण होना

चाहिये ॥७६॥७७॥
यह विष्णुमन्दिर ग्रामादि से बाहर भी हो सकता है । इसमें विष्णु की खड़ी, बैठी या शयन करती हुई मूर्ति स्थापित करनी

चाहिये ॥७८॥
ग्रामों में क्रमानुसार उत्कृष्ट, मध्यम, अधम एवं नीच आदि भवन होने चाहिये; किन्तु उत्तर ग्राम में नीच भवन नहीं होना

चाहिये ॥७९॥

यदि ग्राम क्षुद्र हो तो वहाँ क्षुद्र विमान (छोटा मन्दिर) ही उचित है एवं वही बनाना चाहिये । तीन,

चार एवं पाँच तल का

देवालय हीन ग्राम में होना चाहिये तथा हीन ग्राम में सामान्य भवन होना चाहिये ॥८०॥
उत्कृष्ट ग्राम अथवा नगर में यदि नीच श्रेणी का देवालय हो तो वहाँ के पुरुषो में नीच प्रवृत्ति एवं स्त्रियों में दुःशीलता होती है

॥८१॥
इसलिये ग्राम अथवा नगर की श्रेणी के समान या अधिक श्रेणी का मन्दिर निर्मित होना चाहिये । हरिहर मन्दिर अथवा अन्य
सभी वास्तुनिर्मित यथोचित होनी चाहिये ॥८२॥

दौवारिक
चण्डश्वर, कुमार, धनद, काली, पूतना, कालीसुत तथा खड्गी - ये देवता दौवारिक कहे गये है ॥८३॥
ग्राम आदि में पूर्वमुख या पश्चिममुख शिव का स्थान होना चाहिये । यदि उनका मुख ग्रामादि से बाहर की ओर हो तो प्रशस्त
होता है । विष्णु का मुख सभी दिशाओं में हो सकता है; किन्तु उनका मुख यदि ग्राम कि ओर हो तो शुभ होता है ॥८४॥
शेष देवगण पूर्वमुख होने चाहिये । मातृदेवियों को उत्तरमुख स्थापित करना चाहिये । सूर्यमन्दिर का द्वार पश्चिममुख होना

चाहिये । पुर आदि में मनुष्यों के गृह से पहले देवालयों का निर्माण कराना चाहिये ॥८५॥

त्याज्य स्थान - वास्तुमण्डल के ह्रदय, वंश, सूत्र, सन्धिस्थल तथा कर्णसिराओं इन छः स्थलों पर देवालय आदि का निर्माण

नहीं होना चाहिये ॥८६॥

अन्य श्रेणी के भवन - स्थान - (पुर तथा ग्राम आदि के) दक्षिण ओर गोशाला एव उत्तर में पुष्पवाटिका होनी चाहिये । पूर्व

या पश्चिम द्वार के निकट तपस्वियों का आवास होना चाहिये ॥८७॥
जलाशय, वापी एवं कूप सभी स्थानों पर होना चाहिये । वैश्यों का आवास दक्षिण में एवं शूद्रों का आवास चारो ओर होना

चाहिये ॥८८॥
पूर्व अथवा उत्तर दिशा में कुम्हारो के गृह होने चाहिये । वही नाइयों का एवं अन्य हस्तकौशल वालों के भी गृह होने चाहिये

॥८९॥
उत्तर-पश्चिम दिशा में मछुआरों का निवास होना चाहिये । पश्चिमी क्षेत्र में मांस से आजीविका चलाने वालों का निवास होना

चाहिये ॥९०॥
तेलियों के गृह उत्तर दिशा में होने चाहिये ।

गृहलक्षण
गृह के लक्षण - गृहों की चौड़ाई तीन, पाँच, सात या नौ धनुप्रमाण होनी चाहिये ॥९१॥
गृहों की लम्बाई चौड़ाई से क्रमशः दो-दो दण्ड बढ़ानी चाहिये । लम्बाई उतनी ही ग्रहण करनी चाहिये, जितनी कि चौड़ाई की

दुगुनी से अधिक न हो जाय ॥९२॥
गृहों का निर्माण विधि के अनुसार हस्तप्रमाण से करना चाहिये । ये गृह रुचक, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त और सर्वतोभद्र (किसी एक

शैली के) हो सकते है ॥९३॥
गृह (सर्वतोभद्र या) वर्धमान हो सकता है । आकृति की दृष्टि से ये चार गृह कहे गये है । अथवा दण्डक, लाङ्गल या शूर्प गृह

इच्छानुसार हो सकते है ॥९४॥
ग्राम से कुछ दूर आग्नेय अथवा वायव्य कोण में स्थपतियों का आवास होना चाहिये । शेष का आवास भी वही बनवाना

चाहिये ॥९५॥
उससे कुछ दूर रजक (धोबी) आदि का आवास होना चाहिये । ग्राम से पूर्व दिशा मे एक कोस की दूरी पर चण्डाल वर्ग का

आवास होना चाहिये ॥९६॥
वहाँ चण्डाल-स्त्रियाँ ताम्र, अयस् एवं सीसे के आभूषण पहने हुये निवास करे । दिन के प्रथम प्रहर में ग्राम में प्रवेश कर

चण्डाल वर्ग ग्राम की गन्दगी साफ करें ॥९७॥
पूर्वोत्तर दिशा में ग्राम से पाँच सौ दण्ड दूर शवों (की अन्त्येष्टि क्रिया) का स्थान होना चाहिये । शेष लोगों (सामान्य जनों से

पृथक्) का श्मशान उससे दूर होना चाहिये ॥९८॥

विन्यासदोष

भवन-विन्यास के दोष - चण्डाल एवं चर्मकार का आवास, श्मशान, जलाशय, देवालय, विश्वकोष्ठ (सभी पदार्थो का संग्रहस्थल),

ग्राम के चारो ओर का परिवेश एवं ग्राम के चारो ओर के मार्ग यदि उचित स्थान पर नहीं होते है (तो उनका परिणाम कष्टकर

होता है) ॥९९॥
उपर्युक्त का दुष्परिणाम ग्राम का विनाश, राजा का भङ्ग (हानि) एवं मृत्यु होता है । देवालय एवं हाट का रिक्त होना, कूड़े का

संग्रह तथा मार्ग में अशुद्ध वस्तुओं (कूड़े आदि) का फेंका जाना ग्राम को शून्य कर देता है ॥१००॥

गर्भविन्यास

शिलान्यास - सभी ग्रामादिकों के गर्भ-विन्यास का वर्णन किया जाता है ॥१०१॥
(ग्रामादि का) गर्भयुक्त होना सभी प्रकार की सम्पत्तियों का एवं गर्भहीन होना सभी प्रकार के विनाश का कारण होता है ।

इसलिये प्रयत्नपूर्वक सही रीति से गर्भविन्यास करना चाहिये ॥१०२॥

गर्भविन्यास - भूमि मे खोदे गये गर्त में आगे के श्लोकों मे वर्णित पदार्थो का डाला जाना गर्भ-विन्यास कहलाता है ।
मृत्तिका, कन्द (मूल, जड़), लोहयुक्त अन्न (लोह-पात्र मे रक्खा अन्न), धातु, इन्द्रनील आदि रत्न गर्भविन्यास के द्रव्य है ।

इन्हे दोषहीन ही होना चाहिये तथा इन्हे पैसों से क्रय करके संगृहीत करना चाहिये ॥१०३॥
भूमि में खोदे गये गर्त में जल भरने के पश्चात् मृत्तिका आदि डालनी चाहिये । अन्न के ऊपर दोषहीन ताम्रपात्र रखना चाहिये

॥१०४॥
ताम्रपात्र की चौड़ाई पाँच प्रकार की कही गई है । इनका प्रमाण चौदह, बारह, दश, आठ या चार अङ्गुल होना चाहिये ॥१०५॥
ताम्रपात्र की ऊँचाई चौड़ाई के समान होनी चाहिये । उसमें पच्चीस अथवा नौ कोष्ठ होने चाहिये ॥१०६॥
उपपीठ पद से युक्त (पच्चीस कोष्ठ वाले) उस पात्र में वास्तुदेवों को स्थान देना चाहिये । सूर्य के कोष्ठ में रजतनिर्मित वृष एवं

सुवर्णनिर्मित इन्द्र को स्थापित करना चाहिये ॥१०७॥
यम के पद पर ताम्रनिर्मित यमराज, लौहनिर्मित सिंह एवं रजतनिर्मित वरुण को स्थापित करना चाहिये ॥१०८॥
सोम के पद पर श्वेत वर्ण का (रजतमय) अश्व तथा रजतनिर्मित गज रखना चाहिये । ईश के पद पर पारा, अग्नि पर टिन,

निर्ऋति पर सीसा रखना चाहिये ॥१०९॥
समीरण के पद पर सुवर्ण, जयन्त पर सिन्दूर, भृश पर हरिताल तथा वितथ पर मनःशिला (मैनसिल) रखना चाहिये ॥११०॥
भृङ्गराज पर माक्षिक (एक खनिज पदार्थ), सुकन्धर पर लाजावर्त, शोष पर गैरिक (गेरु) तथा गणमुख्य पर अञ्जन रखना

चाहिये ॥१११॥
अदिति पर रक्त वर्ण का ताम्र रखना चाहिये । उपर्युक्त सभी को भली भाँति जान कर क्रमानुसार रखना चाहिये । चतुष्पदो पर

लोकनाथों को इस प्रकार स्थापित करना चाहिये, जिससे उनका मुख केन्द्र की ओर रहे ॥११२॥
इन देवों की प्रतिमा की ऊँचाई छः, पाँच, चार, तीन या दो अङ्गुल होनी चाहिये एवं उनके वाहनों की ऊँचाई पूर्वोक्त माप की

आधी होनी चाहिये । प्रतिमायें स्थानक मुद्रा (खड़ी) अथवा आसन मुद्रा (बैठी) में होनी चाहिये ॥११३॥
आपवत्स पर मोती, मरीचि पर मूँगा, सविता पर पुष्पराग (पोखराज) तथा विवस्वान् पर वैदूर्य मणि रखना चाहिये ॥११४॥
इन्द्रजय पर हीरा, मित्रक पर इन्द्रनील, रुद्रराज पर महानील तथा महीधर पर मरकत (पन्ना) रखना चाहिये ॥११५॥
पात्र के मध्य मे पद्मराग (रुबी) रखना चाहिये । रत्न एवं धातुओं को पात्र में उनके उचित स्थान पर रखना चाहिये ॥११६॥
उन देवों के स्थान एवं स्थिति को विधिपूर्वक ज्ञात कर रत्नादि को रखना चाहिये । चारो दिशाओं में सुवर्ण, आयस (लौह),

ताँबे एवं चाँदी के स्वस्तिक रखने चाहिये ॥११७॥
ब्रह्मस्थान के बाहर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, पश्चिम एवं उत्तर दिशा में सुवर्ण के साथ शालिधान्य, चाँदी के साथ व्रीहि, अयस के

साथ कोद्रव (कोदो) रखना चाहिये ॥११८॥

टिन के साथ कङ्कु धान्य, सीसा के साथ माष (उड़द), तिल पारे के साथ, मूँग को अयस (लोह) के साथ तथा कुलत्थ को ताम्र

धातु के साथ रखना चाहिये ॥११९॥
प्रथमतः पात्र के लिये बलि (उपर्युक्त वर्णित पदार्थ) प्रदान करना चाहिये । इसके पश्चात् सभी पदार्थो को पात्र में रख देना

चाहिये । (पात्र को ढकने के लिये) एक अङ्गुल से अधिक चौड़ा तथा बारह अङ्गुल लम्बा पत्र लेना चाहिये ॥१२०॥
बारह अङ्गुल से लेकर पाँच-पाँच अङ्गुल के वृद्धि-मान से बत्तीस अङ्गुल तक (पत्र) का प्रमाण हो सकता है । यह

इन्द्रकीलसंज्ञक पत्र खदिर के काष्ठ का गोलाकार निर्मित होना चाहिये ॥१२१॥
गर्भ-विन्यास के ज्ञाता को इस पत्र को पात्र के ऊपर रखना चाहिये । यह गर्भ विन्यास स्थानीय, द्रोणमुख तथा खर्वट एवं

प्रत्येक प्रकार के नगर मे करना चाहिये ।
(उपर्युक्त के अतिरिक्त) ग्राम, निगम, खेट, पत्तन तथा कोत्मकोलक आदि वसतिविन्यासों में गर्भ-विन्यास ब्रह्मा, आर्य, अर्क,

विवस्वान्, यम, मित्र, वरुण, सोम एवं पृथिवीधर के भाग में या द्वार के दक्षिण भाग में करना चाहिये ॥१२३-१२४॥
(द्वार के दक्षिण भाग में) पुष्पदन्त, भल्लाट, महेन्द्र एवं गृहक्षत के पद पर अथवा विष्णु के स्थान (मन्दिर), लक्ष्मी के स्थान

या स्कन्द के स्थान में ग्राम की रक्षा के लिये एवं सभी प्रकार की कामनाओं की वृद्धी के लिये गर्भ-विन्यास करना चाहिये ।

प्रथमतः (गर्त्त में) गर्भ-विन्यास करना चाहिये । तत्पश्चत् उसके ऊपर मूर्तियों को स्थापित करना चाहिये ॥१२५-१२६॥
गर्भ-विन्यास वाले क्षेत्र को (गर्त्त को) शिलाओं एवं इष्टकाओं से निर्मित करना चाहिये । इसका माप पुरुष का अञ्जलिप्रमाण

रखना चाहिये । अवर्णित सभी पदार्थो को ब्रह्म आदि के भाग में रखना चाहिये (अवर्णित पदार्थो का वर्णन 'गर्भविन्यास'

अध्याय मे प्राप्त होता है) ॥१२७॥

जिस विधे से गर्भविन्यास सुरक्षित एवं स्थिर है (तथा भवननिर्माण भी सुरक्षित एवं स्थिर रहे), उसी रीति से स्थपति को गर्भ

स्थापित करना चाहिये । यहाँ जिनका वर्णन नहीं किया गया है, उन सभी का वर्णन गर्भलक्षण (गर्भविन्यास, अध्याय-१२) में

किया गया है ॥१२८॥
इस प्रकार देवों के अनुरूप भूमि का माप (वास्तुमण्डल), वर्ण एवं अन्य जातियों के अनुकूल माप, ग्रामादिकों का प्रमाण,

मार्गयोजना आदि को तन्त्रों से अलङ्कारसहित, सुन्दर ढंग से एवं संक्षेप में लिया गया है ॥१२९॥
राजा को मापन आदि कर्म में निपुण चारो स्थपतियों को भूमि एवं गाये प्रदान करनी चाहिये; जो व्यक्ति इस प्रकार करता है,

उसे संसार मे चन्द्रमा एवं तारों की स्थितिपर्यन्त सर्वदा धन एवं अनेक (समृद्धिदायक) वस्तुओं की प्राप्ति होती रहती है एवं वह
सर्वदा प्रसन्न रहता है ॥१३०॥

मयमतम् - अध्याय १०

मयमतम् एक वास्तुशास्त्र है। मयमतम् एक उचित अभिविन्यास, सही आयाम और उपयुक्त सामग्री के चयन के लिए संकेत देता है।

नगरमान

नगर - योजना - मै नगर आदि के प्रमाण एवं विन्यास का क्रमानुसार वर्णन करता हूँ ।
नगरों का प्रमाण - नगर का प्रमाण तीन सौ धनुष से प्रारम्भ होकर एक-एक सौ दण्ड की वृद्धी करते हुये आठ हजार दण्ड तक प्राप्त होता है । इसके अठहत्तर भेद बनते है । इस प्रकार नगरों के विस्तार का प्रमाण प्राप्त होता है ॥१-२॥
एक सौ दण्ड से प्रारम्भ कर दश-दश दण्ड की वृद्धि करते हुये तीन सौ दण्डपर्यन्त सभी क्षुद्र नगरों के इक्कीस विस्तार-प्रमाण प्राप्त होते है ॥३॥
राजाओं के उत्तम पुरों की परिधि का प्रमाण सोलह हजार यष्टिप्रमाण से प्रारम्भ कर पाँच सौ दण्ड कम करते हुये चार हजार पर्यन्त कहा गया है । इस प्रकार इनके पच्चीस प्रमाणभेद बनते है ॥४॥
तीन सौ दण्ड से प्रारम्भ कर बीस-बीस दण्ड की वृद्धि करते समय चार सौ दण्डपर्यन्त खेट के छः प्रकार के भेद वर्णित है । इनमे दो श्रेष्ठ, दो मध्यम एवं दो कनिष्ठ प्रकार के खेट होते है ॥५॥

उससे (चार सौ दण्ड से) चोबीस-चौबीस दण्ड की वृद्धि करते हुये चार सौ छियानबे दण्डपर्यन्त द्रोणमुख वास्तु के पाँच प्रकार बनते है । ये इनके विस्तारमान कहे गये है ॥६॥
दो सौ दण्ड से प्रारम्भ करते हुये पचास-पचास दण्ड की क्रमशः वृद्धि चार सौ दण्डपर्यंन्त की जाती है । इस प्रकार खर्वट के विस्तार के पाँच प्रमाणभेद प्राप्त होते है ॥७॥
दो सौ से प्रारम्भ कर दश-दश दण्ड की वृद्धि करते हुये तीन सौ चालीस दण्डपर्यन्त निगम के विस्तार का मान प्राप्त होता है । विस्तारमान की दृष्टि से इसके पन्द्रह भेद बनते है ॥८॥
शत दण्ड से प्रारम्भ कर एक-एक सौ दण्ड की वृद्धी करते हुये पाँच सौ पर्यन्त कोत्मकोलक का विस्तार रक्खा जाता है । विस्तारमान की दृष्टि से इसके पाँच भेद होते है ॥९॥
विद्वान् मनीषियों ने पुरों के विस्तार के प्रमाणों का इस प्रकार वर्णन किया है । विडम्ब का विस्तार मान तीन सौ दण्ड से प्रारम्भ कर पचास-पचास दण्ड की वृद्धि करते हुये पाँच सौ दण्डपर्यन्त होता है । इसके प्रमाण की दृष्टि से सात भेद बनते है । पूर्ववर्णित मान ही इनका (समानुपातिक) मान होता है ॥१०-११॥
इन पुरादिकों की लम्बाई इनकी चौड़ाई की दुगुनी, तीन चौथाई, आधी अथवा चतुर्थांश अधिक होती है । अथवा चौड़ाई का षष्ठांश या अष्टमांश अधिक लम्बाई रखनी चाहिये ॥१२॥

वप्रविधान

प्राकार-योजना - नगर का प्राकारमण्डल (चारदिवारी) पाँच प्रकार की होती है- चौकोर, आयताकार, वृत्ताकार, वृत्तायताकार (लम्बाई लिये वृत्ताकार) तथा गोलवृत्ताकार ॥१३॥
प्राकार-मण्डल की लम्बाई दश, आठ, सात, पाँच एवं चार तथा चौड़ाई सात, छः, पाँच, चार एवं तीन रखनी चाहिये ॥१४॥
वप्र के मूल का विस्तार दो, तीन या चा हस्त तथा ऊँचाई सात, दश या ग्यारह हस्त रखना चाहिये । इसके ऊर्ध्व भाग का विस्तार मूल से तीन भाग कम होना चाहिये । देवालय आदि के बाहर एवं भीतर परिखा (जलयुक्त खाई) होनी चाहिये ॥१५॥

वर्ज्यस्थान

त्याज्य स्थान - पेचक वास्तु-विन्यास (चार पद वास्तु) या आसन वास्तुविन्यास (एक सौ पद वास्तु) अथवा इन दोनों के मध्य आने वाले वास्तु-विन्यासों में से किसी का प्रयोग किया जा सकता है । बुद्धिमान व्यक्ति को निर्माण करते समय वास्तु के सूत्रादिकों एवं विषम स्थलों का परित्याग करना चाहिये ॥१६॥

मार्ग

वहाँ मार्ग की योजना इच्छानुसार विधिपूर्वक पूर्व तथा उत्तर से प्रारम्भ करते हुये करनी चाहिये ॥१७॥
मार्गो का विस्तार एक दण्ड से प्रारम्भ कर आधा-आधा दण्ड बढ़ाते हुये सात दण्डपर्यन्त रखना चाहिये । इस प्रकार विस्तार की दृष्टि से मार्ग के तेरह भेद कहे गये है ॥१८॥

राजधानी

राष्ट्र (राज्य) के मध्य भाग में, नदी के निकट, श्रेष्ठ लोगो की जनसंख्या जहाँ अधिक हो, ऐसा वसति-विन्यास केवल नगर होता है । उस नगर में यदि राजभवन हो तो उसे राजधानी कहते है ॥१९॥
चार दिशाओं में चार द्वार से युक्त, द्वारों पर शालयुक्त गोपुर, क्रय-विक्रय के स्थानों (बाजार) से युक्त एवं सभी वर्णो के आवास से युक्त स्थान (नगर होता है) ॥२०॥
सभी देवों के मन्दिर से युक्त स्थान को केवल नगर कहा गया है । (राजधानी के) पूर्व एवं उत्तर दिशा में गहरा होता है तथा बाहर चारो ओर गीली मिट्टी से निर्मित प्राकार होता है ॥२१॥
प्राकार-मण्डल के बाहर चारो ओर परिखा होती है । नगर (राजधानी) के रक्षार्थ शिविर होता है, जहाँ से प्रत्येक दिशा पर दृष्टि रक्खी जाति है । राज्य के प्रहरी सैनिक पूर्व एवं दक्षिण दिशा मे मुख करके पहरा देते है ॥२२॥
नगर में ऊँचे-ऊँचे गोपुर (प्रवेशद्वार) होते है, जिनमें अनेक मालिकायें होती है । उसमे सभी देवों के मन्दिर, नाना प्रकार की गणिकाये एवं बहुत से उद्यान होते है ॥२३॥
यहाँ गज, अश्व, रथ एवं पैदल सैनिक होते है । सभी प्रकार के एवं सभी वर्ण के लोग निवास करते है । इस नगर में द्वार एवं उपद्वार (छोटे प्रवेशद्वार) होते है । नगर के भीतर अनेक प्रकार के जनावास होते है ॥२४॥
इस प्रकार का राजभवन से युक्त नगर राजधानी कहलाता है । जो वन-प्रदेश में स्थित होता है, जहाँ सभी प्रकार के लोग बसते है एवं क्रय-विक्रय के स्थल (हाट, बाजार) से युक्त पुर को नगर कहते है ॥२५॥

खेटाटिभेद

नदी अथवा पर्वत से घिरे एवं शूद्रों के निवास से युक्त स्थान को खेट कहते है ॥२६॥
चारो ओर पर्वत से घिरे हुये, सभी वर्णो के आवास से युक्त स्थान को खर्वटक कहते है । खेट एवं खर्वट के मध्य स्थित घनी जनसंख्या वाले स्थान को कुब्ज कहते है ॥२७॥
अन्य द्वीपों से आये हुये वस्तुओं से युक्त, सभी प्रकार के लोगों से युक्त, क्रयविक्रयस्थल से युक्त, रत्न, धन, सिल्क के वस्त्रों से युक्त तथा विविध प्रकार के सुगन्धियों (इत्र आदि) से युक्त, सागर-तट पर स्थित एवं उससे सम्बद्ध नगर को पत्तन कहते है ॥२८॥
शत्रु-देश के समीप स्थित, युद्ध प्रारम्भ करने के लिये सभी सामग्रियों से युक्त तथा सेना एवं सेनापति से युक्त स्थान को शिविर कहते है । वही स्थान सभी प्रकार के लोगों के आवास से युक्त एवं राजभवन से युक्त होता है तथा बहुत-सी सेनाओं से युक्त होता है, तो उसे सेनामुख कहते है ॥२९-३०॥
नदी के किनारे या पर्वत के पास, राजभवन तथा बहुत से सैनिकों से युक्त तथा राजा के द्वारा स्थापित स्थान को स्थानीय कहते है ॥३१॥
नदी के उत्तर एवं दक्षिण दोनों भागों में अथवा समुद्र के किनारे बसे हुये स्थान को द्रोणमुख कहते है । यहाँ व्यापारी वर्ग (प्रधान रूप से) तथा अन्य सभी वर्गो के लोग निवास करते है । ग्राम के समीप जनावास को विडम्ब कहा जाता है ॥३२-३३॥

वन के मध्य में स्थित जनस्थान को कोत्मकोलक कहा जाता है । जो स्थान चारो वर्णों के लोगों से युक्त हो, सभी प्रकार के लोगों से बसा हो तथा अधिक संख्या में जहाँ हस्तशिल्पी निवास करते हो, उसे निगम कहते है ॥३४॥

नदी, पर्वत एवं वन से युक्त, जहाँ की जनसंख्या अधिक हो एवं जहाँ राजा निवास करते हों; ऐसे स्थान को स्कन्धावार कहते है । इसके पार्श्व मे चेरिका जनावास होता है ॥३५॥

दुर्ग

दुर्ग के प्रकार - दुर्ग सात प्रकार के होते है - गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, पङ्कदुर्ग, इरिण (मरु) दुर्ग, दैवतदुर्ग एवं मिश्रित दुर्ग ॥३६॥

गिरिदुर्ग पर्वत के मध्य, पर्वत के बगल या पर्वत के शिखर पर स्थित होता है । वनदुर्ग की स्तिति जलहीन स्थान पर वृक्षों के सघन वन में होती है । मिश्रित दुर्ग में गिरि एवं वन दोनों दुर्गों के मिश्रित लक्षण होते है ॥३७॥

जिस दुर्ग की सुरक्षा-व्यवस्था प्राकृतिक होती है, उसे दैवदुर्ग कहते है । जिस दुर्ग के बाहर कीचड़ (दलदल) हो, उसे पङ्कदुर्ग कहते है । चारो ओर नदी या समुद्र से घिरे दुर्ग को जलदुर्ग तथा वन एवं जल से रहित (ऊषर या रेगिस्तान क्षेत्र में स्थित) दुर्ग को इरिण दुर्ग कहते है ॥३८॥

दुर्ग प्रत्येक दृष्टि से सभी लक्षणों से परिपूर्ण होना चाहिये । दुर्ग मे अक्षय जल, अन्न एवं शस्त्रास्त्र होना चाहिये । दुर्ग अत्यन्त विस्तृत, उन्नत एवं ठोस होना चाहिये । उसे प्राकार-मण्डल एवं सभी द्वारों पर रक्षकों से युक्त होना चाहिये ॥३९॥

बाहर से दुर्ग में प्रवेश हेतु ऐसा मार्ग होना चाहिये, जिस पर जल न हो, वन द्वारा छिपा हो तथा इस मार्ग से दुर्ग मे प्रवेश कठिनाई से होता है । दुर्ग का प्रवेशद्वार गोपुरमण्डप से युक्त, सोपानयुक्त हो एवं ढका न हो ॥४०॥

प्रवेशद्वार पर दो कपाट हो, जिनमे चार परिघार्गल (द्वार को खुलने से रोकने के लिये लगी अर्गला) तथा एक हाथ ऊँची इन्द्रकील लगी होनी चाहिये । द्वार पर मध्य में काष्ठ की स्थूणा (खम्भा) से युक्त कक्ष होना चाहिये, जिसमें मिण्ठक (द्वार पर लटकने वाली विशेष आकृति) लगा हो । उस कक्ष में प्रवेश हेतु सीढ़ियाँ बनी होनी चाहिये, जो छिपी हो ॥४१॥

द्वारों को मण्डप, सभा अथवा शाला के आकार का बनाना चाहिये । इनकी योजना बारह में से किसी एक प्रकार की होनी चाहिये । बारह आकृति-योजनायें इस प्रकार है- चौकोर, वृत्त, आयत, नन्द्यावर्त, कुक्कुट, इभ (गजाकृति), कुम्भ, नागवृत्त (कुण्डलीयुक्त सर्प), मग्नचतुर (गोलाई वाले कोने से युक्त चौकोर), त्रिकोण, अष्टकोण तथा नेमिखण्ड (कुछ गोलाई लिये आकृति) ॥४२-४३॥

ईटों से निर्मित प्राकार की ऊँचाई कम से कम बारह हाथ रखनी चाहिये । प्राकार के मूल की चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये । भित्ति इतनी चौड़ी होनी चाहिये, जिससे उस पर सुगमता से चला जा सके ॥४४॥

प्राकार के भीतर भाग में पांसुचय (कच्ची मिट्टी की जोड़ाई) के ऊपर अनेक सुरक्षायन्त्र लगाना चाहिये । चारो ओर परिखा (खाई) होनी चाहिये एवं पांसुचय के ऊपर अट्टालक बनाना चाहिये ॥४५॥

इसके चारो ओर सैनिकों की छावनी होनी चाहिये । दुर्ग मे विभिन्न प्रकार के लोगों का आवास, राजभवन तथा गज, अश्व, रथ एवं पैदल सेना होनी चाहिये ॥४६॥

दुर्ग के भीतर अन्न, तेल, क्षार, नमक, औषधियाँ, सुगन्ध, विष, धातुयें, अङ्गार (कोयला), स्नायु (चमड़े की डोरी), सींग, बाँस एवं इन्धन की लकड़ी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिये ॥४७॥
दुर्ग मे तृण (पशुओं का चारा), चमड़ा, शाक (तरकारी), छाल से युक्त काष्ठ एवं कठोर काष्ठ प्रभूत मात्रा में होनी चाहिये । दुर्ग का कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, कठिनाई से लाँघने योग्य तथा कठिनाई से पार करने योग्य होना चाहिये- ऐसा कहा गया है ॥४८॥
रक्षा के लिये, विजय के लिये एवं शत्रुओं द्वारा अभेद्यता के लिये दुर्ग की आवश्यकता होती है । दुर्ग-निवेश के समय प्राकार के भीतर इन्द्र, वासुदेव, गुह, जयन्त, कुबेर, दोनों अश्विनीकुमार, श्री, मदिरा, शिव, दुर्गा तथा सरस्वती देवी-देवताओं को स्थापित करना चाहिये ॥४९-५०॥
इस प्रकार प्राचीन मनीषयों ने दुर्ग-विधान का वर्णन किया है ।

<u>नगरविन्यास</u>

<u>नगर - योजना</u> - अब क्रमशः सभी (नगरों) का विन्यास संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है ॥५१॥
पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले मार्गों की संख्या बारह, दश, आठ, छः, चार या दो होनी चाहिये । इसी प्रकार उत्तर (से दक्षिण जाने वाले) मार्गों की भी योजना रखनी चाहिये । अथवा अयुग्म (विषम) संख्या में मार्ग होने चाहिये ॥५२॥
अयुग्म संख्याओं में ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन या एक मार्ग होने चाहिये । युग्म (सम) अथव अयुग्म (विषम) पदों में दो, तीन एवं एक अज (ब्रह्मा) का भाग होता है ॥५३॥
इस प्रकार सभी नगरादिकों के मार्गो का वर्णन किया गया है । दण्ड के समान एक वीथी (मार्ग) को दण्डक कहते है ॥५४॥
उत्तर दिशा से आता हा एक मार्ग यदि पूर्वोक्त मार्ग के साल मध्य में संयुक्त होता है तो उसे कर्तरिदण्डक कहते है । यदि पूर्व दिशा से ईटो से निर्मित दो मार्ग आते है ॥५५॥
तो उसे बाहुदण्डक कहा जाता है । यदि चारो दिशाओं में द्वार हो तथा वीथी के मध्य में दोनों पार्श्वो मे बहुत से कुट्टिमयुक्त (ईटों से निर्मित) मार्ग आकर मिले एव शेष स्थिति पूर्ववर्णित रहे तो उसे कुटिकामुख दण्डक कहते है ॥५६॥
पूर्व से आने वाले तीन मार्ग तथा उत्तर से आने वाले तीन मार्ग जब आपस में संयुक्त होते है तो उसे कलकाबन्धदण्डक कहा गया है ॥५७॥
यदि पूर्व से तीन मार्ग एवं उत्तर से तीन मार्ग निकलें तथा इनमें एक-एक के बाद अनेक कुट्टिममार्ग हो तो उसे वेदीभद्रक कहते है । यह मार्ग-योजना नगरादिकों के लिये उपयुक्त होती है ॥५८-५९॥
मार्ग की स्वस्तिक-योजना स्वस्तिक ग्राम के लिये कही गई है । इसमें छः मार्ग पूर्व से एवं छः मार्ग उत्तर से निकलते है ॥६०॥
पूर्व-वर्णित मार्ग-योजना के अनुसार मार्गो की रचना स्वस्तिक होती है ।
पूर्व से एवं उत्तर से निकलने वाले मार्गो की संख्या चार होती है । एक मार्ग ब्रह्मस्थान से निकलता है । तीन कुट्टिममार्ग पूर्व दिशा मे होते है । इस मार्गयोजना को भद्रक कहा जाता है । इस मार्गयोजना का प्रयोग नगरादि के विन्यास मे किया जाता है ॥६१-६२॥

पाँच मार्ग पूर्व दिशा से एवं पाँच मार्ग उत्तर दिशा से निकलते है । बहुत से कुट्टिम मार्ग निकलते है । इस मार्गयोजना को भद्रमुख कहते है ॥६३॥
छः मार्ग पूर्व दिशा से एवं छः मार्ग उत्तर दिशा से निकलते है तथा बहुत से कुट्टिम मार्ग होते है, तो उसे भद्रकल्याण मार्गयोजना कहते है ॥६४॥
पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले सात मार्ग तथा उत्तर से (दक्षिण की ओर जाने वाले) सात मार्ग हो तथा शेष योजना पूर्ववत् ९बहुत से कुट्टिम मार्ग) हो तो उसे महाभद्र मार्गयोजना कहते है ॥६५॥
आठ मार्ग पूर्व दिशा से एवं आठ मार्ग उत्तर दिशा से निकलते है । (इनके अतिरिक्त) बारह मार्गो एवं बहुत से अर्गल कुट्टियों से (अर्गला के समान आपस में गुम्फित) युक्त मार्ग-विन्यास को वस्तुसुभद्र कहते है ॥६६॥
नौ द्वार पूर्व से निकलते हो तथा नौ द्वार उत्तर से निकलते हो, इन मार्गो पर द्वार एवं उपद्वार (छोटे प्रवेशद्वार) हो, इन मार्गो के साथ अर्गल-कुट्टिम मार्ग भी हो तथा नगर मे राजगृह भी हो तो उसकी संज्ञा जयाङ्ग होती है ॥६७-६८॥
पूर्व दिशा से दश मार्गो का प्रारम्भ होता हो तथा उत्तर दिशा से भी दश मार्ग निकलते हो; साथ ही इन मार्गो के साथ अनेक अर्गलायुक्त कुट्टिम मार्ग हो तथा नगर मे राजभवन भी हो तो उसे श्रेष्ठ जनों ने विजय संज्ञा प्रदान की है ॥६९॥
(सर्वतोभद्र योजना मे) पूर्व से ग्यारह मार्ग तथा उत्तर से ग्यारह मार्ग निकलते हो, ब्रह्मभाग क पश्चिम मे इच्छित स्थान पर राजा का आवास हो, उसके सम्मुख बहुत विशाल आँगन होना चाहिये ॥७०-७१॥
इसके पश्चात अभीष्ट स्थन पर रानियों का आवास होना चाहिये । पूर्व से निकले मार्ग को राजवीथी कहते है ॥७२॥
राजवीथे के दोनो पार्श्वों मे धनाढ्य लोगों की मालिका-पङ्क्ति (भवनो की पङ्क्ति होनी चाहिये । उनके पार्श्वों मे व्यापारियों का आवास होना चाहिये । उसके दक्षिण में तन्तुवायों (जुलाहो) का आवास होना चाहिये । उसके उत्तर मे कुम्हारों का आवास होना चाइये और इनके समीप ही जात्यन्तरो (छोटी जाति वालों) का आवास होना चाहिये ॥७३-७४॥
शेष सभी पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होना चाहिये । यह सर्वतोभद्र व्यवस्था है । इस प्रकार प्राचीन मुनियों ने नगर के सोलह भेदों का वर्णन किया है ॥७५॥
नगर के मध्य पद में न तो मार्ग बाधित होना चाहिये तथा न ही वहाँ चौराहा होना चाहिये । शेष की योजना राजा की इच्छानुसार मध्य मे करनी चाहिये, जिनका यहाँ वर्णन नही किया गया है ॥७६॥

<u>अन्तरापण</u>

हाट-योजना - अब मैं (मय) कुटुम्बावलिक (परिवारों के आवास की पंक्ति) तथा बाजारों का वर्णन करता हूँ ॥७७॥
बाजार के चारो ओर रथ के चलने योग्य मार्ग हो एवं मध्य मे व्यापारियों के गृहों की पङ्क्ति होनी चाहिये । उनके दक्षिण पार्श्व मे जुलाहों के गृह होने चाहिये ॥७८॥

उत्तर भाग मे कुम्हारो के भवन होने चाहिये । अन्य शिल्पियों के गृह भी रथमार्ग से संयुक्त होने चाहिये ॥७९॥
जो मार्ग ब्रह्म-पद को घेरता हो, उस पर पान, फल एवं सारयुक्त सामग्रियो का हाट बनाना चाहिये ॥८०॥
ईशान से महेन्द्र पद तक हाट-बाजार निर्मित करना चाहिये । वही पर मछली, माँस, सूखे पदार्थ एवं शाक (सब्जी, तरकारी) का हाट भी होना चाहिये ॥८१॥
महेन्द्र पद से प्रारम्भ कर अग्निकोण-पर्यन्त भक्ष्य एवं भोज्य (खाने-पीने योग्य) पदार्थों का हाट बनाना चाहिये तथा अग्नि से गृहक्षतपर्यन्त भाण्डों (बरतन) का हाट होना चाहिये ॥८२॥
गृहक्षत से निॠति के पद तक कांस्य आदि धातुओं से निर्मित पदार्थों का हाट होना चाहिये । पितृपद से पुष्पदन्त के पद तक वस्त्रों का हाट होना चाहिये ॥८३॥
पुष्पदन्त से समीर पदपर्यन्त चावल, अन्न एवं भूसे के बाजार होने चाहिये । वायु से भल्लाट के पद तक वस्त्र आदि के हाट होने चाहिये ॥८४॥
उसी स्थान पर नमक आदि पदार्थ एवं तेल आदि का हाट होना चाहिये । भल्लाट से ईश तक सुगन्ध एवं पुष्प आदि का हाट होना चाहिये ॥८५॥
इस प्रकार वसति-विन्यास (नगरादि) मे चारो ओर नौ प्रकार के हाटों का वर्णन किया गया है । मध्य भाग मे जाने वाले मार्गो पर रत्न, सुवर्ण एवं वस्त्रो का हाट होना चाहिये ॥८६॥
इनके अतिरिक्त माञ्जिष्ठ (मजीठ, रंग), काली मिर्च, पीपल, हारिद्र (हल्दी), शहद, घी, तेल तथा औषध के हाट सभी स्थानों पर होने चाहिये ॥८७॥
आर्य, विवस्वान, मित्र एवं पृथिवीधर के पद पर शास्ता, दुर्गा, गजमुख एवं लक्ष्मी का स्थान होना चाहिये ॥८८॥
जिस प्रकार ग्राम मे उसी प्रकार (नगर आदि मे भी) चारो ओर देवालय होना चाहिये । इससे कुछ दूर सभी वर्ण के मनुष्यों का आवास होना चाहिये ॥८९॥ नगर से दो सौ दण्ड दूर ले जाकर पूर्व अथवा आग्नेय कोण मे चण्डालों एवं कोलिकों के कुटीर होने चाहिये ॥९०॥
यहाँ जिन सबका वर्णन नही किया गया है, वे सब उसी प्रकार होंगे, जैसे ग्रामों मे वर्णित है । पत्तन में ॠतुपथ (सीधी सड़क) होती है एवं वहाँ बाजार नही होते है । शेष नगर आदि स्थानों मे यथोचित (आवश्यकतानुसार) हाट आदि होना चाहिये ॥९१॥
प्राचीन आचार्यो ने दस प्रकार के वासयोग्य अधिष्ठानो का वर्णन किया है - स्नानीय, दुर्ग, पुर, पत्तन, कोत्मकोल, द्रोणमुख, निगम, खेट, ग्राम तथा खर्वट । (इनकी स्थापना भौगोलिक स्थित के अनुसार होती है) ॥९२॥
इस प्रकार तन्त्रों से ग्रहण कर संक्षेप मे भूमि, देवताओं, चार वर्णो, जात्यन्तरो (सङ्कर जाति), ग्रामादि के प्रमाण, मार्ग-विन्यास का सुन्दर सजावट के साथ वर्णन किया गया है ॥९३॥
राजा को मापन आदि कार्य में निपुण चारो स्थपति आदि को गाय एवं पृथिवी प्रदान करना चाहिये । ऐसा करने से जब तक संसार मे चन्द्रमा एवं तारे रहेंगे तब तक वह राजा प्रसन्नतापूर्वक पृथिवी पर धन आदि अनेक समृद्धिदायक वस्तुओं से युक्त एवं सर्वदा प्रसन्न रहता है ॥९४॥
इति मयमते वस्तुशास्त्रे नगरविधानो

मयमतम् - अध्याय ११

भूमि के तल एवं आयाम -

अब मै (मय) संक्षेप मे क्रमानुसार भूमिलम्बविधान का वर्णन करता हूँ । क्षय (कम करते हुये) एवं वृद्धि (बढाते हुये) विधान के अनुसार विन्यास-भेद इस प्रकार है - चौकोर, आयताकार, गोलाकार, लम्बाई लिये गोलाकार, अष्टकोण, षट्कोण एवं द्व्यस्त्रवृत्त (दो कोणों के साथ गोलाकार) ॥१-२॥

इसे भूमिलम्ब कहते है । एक भूमि (के भवन) का मान तीन या चार हस्त से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ की वृद्धि करते हुये चार प्रकार का होता है ॥३॥

पाँच या छः हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये ग्यारह या बारह हाथ तक दो तल वाले भवन के चार प्रकार के मान होते है ॥४॥

तीन तल वाले भवन के सात या आठ हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पन्द्रह या सोलह हस्तपर्यन्त पाँच प्रकार के मान होते है ॥५॥

नौ या दश हाथ से प्रारम्भ कर पन्द्रह या सोलह हाथ तक चार और पाँच तल वाले भवन के चार प्रकार के मान वर्णित है ॥६॥

अथवा एक तल का क्षुद्र प्रमाण एक हाथ या दो हाथ कहा गया है । कुछ विद्वान् देवों एवं मनुष्यो के कई तल वाले भवन के विस्तारप्रमाण में आधा हाथ जोड़ने या कम करने के लिये कहते है । यह सम या विषम संख्या वाले सभी हस्त-प्रमाण के लिये है । (लम्बाई के लिये) विस्तारप्रमाण मे तीन के साथ विस्तार का सात, छः, पाँच, चार या तिन अंश अधिक जोड़ना चाहिये ॥७-८॥

शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत एवं सार्वकामिक भवनों मे पूर्वोक्त प्रमाण के अतिरिक्त भवन की ऊँचाई उसके चौड़ाई की दुगुनी, डेढ़गुनी अथवा सवा गुनी अधिक होनी चाहिये ॥९॥

चौड़ाई मे पन्द्रह हाथ से कम माप का भवन क्षुद्रविमानक होता है । सत्रह या अट्ठारह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाना चाहिये ॥१०॥

(दो-दो हाथ बढ़ाते हुये) सत्तर हाथ तक माप ले जाना चाहिये । चार तल से बारह तलपर्यन्त भवन के सत्ताईस भेद होते है एवं इनमें से प्रत्येक के तीन भेद होते है ॥११॥

तेईस या चौबीस हाथ से प्रारम्भ कर एक सौ हाथ तक तीन-तीन हाथ बढ़ाते हुये भवन के सत्ताईस प्रकार के ऊँचाई के प्रमाण-भेद प्राप्त होते है ॥१२॥

इस प्रकार उँचे भवनों के श्रेष्ठ, मध्यम एवं अधम भेद प्राप्त होते है । तेरह या चौदह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पैसठ या छाछठ हाथ पर्यन्त इनके माप प्राप्त होते है । इसी प्रकार पूर्ववर्णित संख्याओं द्वारा चार तल के भवन से लेकर बारह तल तक भवनों के प्रकार प्राप्त होते है ॥१३-१४॥

सत्रह या अट्ठारह हाथ से प्रारम्भ कर पञ्चानबे या छियानबे हाथ तक तीन-तीन हाथ बढ़ाते हुये भवन की ऊँचाई का प्रमाण प्राप्त होता है ॥१५॥

उपर्युक्त सभी भवनों के श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद होते है । नौ या दश हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये पचपन या छप्पन हाथपर्यन्त चौबीस प्रकार के विस्तार प्रमाण - प्राप्त होते है । ये भवन पाँच तल से प्रारम्भ होकर बारह तल तक होते है ॥१६-१७॥

सात, आठ या नौ तल के भवनों का मान के साथ वर्णन किया गया । मान में कुशल स्थपति इन नियमों का प्रयोग करते हुये बारह तलपर्यन्त भवनों का निर्माण कर सकता है ॥१८॥

शिव देवता से सम्बद्ध देवालय बारह, तेरह अथवा सोलह तल का होता है, जिसका विस्तार क्रमशः छत्तीस, बयालीस एवं पचास हाथ कहा गया है ॥१९॥

भवन का विस्तार स्तम्भ के बाहर से मापना चाहिए एवं इसकी ऊँचाई इसके जन्म (मूल) से प्रारम्भ कर स्तूपिका-पर्यन्त लेनी चाहिये । कुछ विद्वान् भवनकी ऊँचाई शिखर-पर्यन्त मानते है ॥२०॥

बड़े भवनों की ऊँचाई कर-प्रमाण में दी गई है । इनका विस्तर दश मे सातवाँ भाग होना चाहिये ॥२१॥

छोटे भवनों की ऊँचाई उनके विस्तर की दुगुने होनी चाहिये । सार्वभौम देवों का मन्दिर बारह तलों का होना चाहिये ॥२२॥

राक्षस, गन्धर्व एवं यक्षो का भवन एकादश तल का तथा ब्राह्मणों का भवन नौ या दश तल का होना चाहिये ॥२३॥

पाँचवे प्रकार का भवन युवराजों एवं राजाओं का होता है, जो सात तल का होता है । चक्रवर्ती राजाओं का भवन छः तल से प्रारम्भ कर ग्यारह तलपर्यन्त होता है ॥२४॥

वैश्यों एवं शूद्रों का भवन तीन एवं चार तल का होना चाहिये तथा पट्टभृत राजाओं (छोटे राजाओं) का भवन पाँच तल का होना चाहिये ॥२५॥

कुशल स्थपति एक सौ हाथ से अधिक ऊँचे तथा सत्तर हाथ से अधिक विस्तृत भवन का प्रमाण अभीष्ट नहीं मानते है ॥२६॥

मैने (मय ऋषि ने) विभिन्न ऊँचई वाले एवं विस्तार वाले अत्यन्त छोटे, मध्यम एवं बडे भवनों का वर्णन प्राचीन विद्वानों के मतानुसार किया । इस प्रकार यह ब्रह्मा आदि देवों एवं मनुष्यो के भवनो का वर्णन नियमानुसार किया गया ॥२७॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे भूलम्बविधानो नामैकादशोऽध्यायः

मयमतम् - अध्याय १२

शिलान्यास -

देवों के ब्राह्मणों के एवं अन्य वर्ण वालों के भवनों के गर्भन्यास (शिलान्यास) की विधि का भली-भाँति एवं संक्षेप मे अब वर्णन किया जा रहा है ॥१॥

सभी पदार्थों से युक्त गर्भ (भवन की नींव का गत) सम्पदा का स्थल होता है तथा किसी पदार्थ के कम होने से अथवा गर्भन्यास न होने से वह गर्भ सभी प्रकार की विपत्तियों का कारण (उस पर निर्मित भवन एवं भवन के निवासियों के लिये) बनता है ॥२॥

इसलिये सभी प्रकार के प्रयत्नपूर्वक गर्भ का न्यास करना चाहिये । गर्भ के गर्त की गहराई को अधिष्ठान की ऊँचाई तक समतल करना चाहिये ॥३॥

गर्त को ईंटों एवं पत्थरो से सम एवं चौकोर करना चाहिये । पानी से गड्ढे को भरने के बाद इसके मूल मे सभी प्रकार की मिट्टियाँ डालनी चाहिये ॥४॥

यह मृत्तिका नदी से, तालाब से, अन्न के खेत से, पर्वत से, बाँबी से, हल से, बैल के सींग से एवं गजदन्त से प्राप्त होती है ॥५॥

उसके ऊपर गर्त के मध्य में पद्म (लाल कमल) की जड़, पूर्व दिशा में उत्पल (नीलकमल) की जड़ एवं दक्षिण में कुमुद (की जड़) डालनी चाहिये ॥६॥

पश्चिम दिशा में सौगन्धि (एक प्रकार की सुगन्धित घास), उत्तर दिशा में नील-लोह (नीले या काले रंग का धातु) डालना चाहिये । उनके ऊपर आठो दिशाओं में आठ धान्यशालि (चावल का एक प्रकार), व्रीहि (चावल का एक प्रकार), कोद्रव (कोदो), कङ्कु, मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), कुलत्थ (कुलथा) एवं तिल को प्रदक्षिण क्रम से ईशान से प्रारम्भ करते हुये गर्त मे डालना चाहिये ॥७-८॥

<u>पेटी -</u>

उसके ऊपर ताँबे से निर्मित मञ्जूषा (पेटी, बाक्स) रखना चाहिये । प्रमाण की दृष्टि से यह पात्र चौड़ाई में तीन या चार अंगुल से प्रारम्भ करते हुये दो-दो अंगुल की वृद्धि के साथ पच्चीस-छब्बीस अंगुलपर्यन्त बारह प्रकार का होता है । इसकी ऊँचाई इसकी चौड़ाई के बराबर अथवा आठ, छः या पाँच भाग कम रखनी चाहिये ॥९-१०॥

उपर्युक्त माप एक से बारह तलपर्यन्त भवनों के क्रमानुसार वर्णित है । (अथवा) पादलम्ब (स्तम्भ) के विधान के अनुसार गृह की ऊँचाई के तीसरे भाग के प्रमाण को ग्रहण करना चाहिये ॥११॥

अथवा भवन के स्तम्भ के विष्कम्भ (घेरा) से आठ भाग कम मञ्जूषा का माप रखना चाहिये । मञ्जूषा की चौड़ाई फेला (गर्त के तल का मेहराब) का तीन चौथाई भाग या पूर्ववर्णित माप के अनुसार रखना चाहिये ॥१२॥

मञ्जूषा की आकृति त्रिवर्ग मण्डप के सदृश, वृत्ताकार अथवा चौकोर होना चाहिये । इसमे पच्चीस कोष्ठ या नौ कोष्ठ होना चाहिये ॥१३॥

फेला की ऊँचाई के तीन भाग करने चाहिये । उसके एक भाग के बराबर कोष्ठ की भित्ति की ऊँचाई होनी चाहिये । उस भित्ति की मोटाई दो, तीन या चार यव (विना छिलके वाले यव के मध्य भाग की चौड़ाई) के बराबर रखनी चाहिये । उपपीठ वास्तुविन्यास पर पच्चीस वास्तुदेवों को स्थापित करना चाहिये ॥१४॥

नीव मे वास्तु-पूजन की सामग्री रखना - जिस दिन गर्भस्थापन का विधान करना हो, उसके एक दिन पूर्व गर्त के ऊपर की (आस-पास की) भूमि को सभी प्रकार के गन्धो से सुवासित कर पुष्पों तथा दीपकों से सुसज्जित करना चाहिये । मञ्जूषापात्र को पञ्चगव्य (गाय का दूध, दही, घी, मूत्र एवं गोबर) से स्वच्छ कर उस पर सूत्र लपेटना चाहिये । इसके पश्चात् भूमि पर शुद्ध शालि का धान बिछाना चाहिये ॥१५-१६॥

उस शालि के आस्तरण पर चण्डित अथवा मण्डूक वास्तुपद का विन्यास कर श्वेत तण्डुल की धारा के द्वारा ब्रह्मा आदि वास्तुदेवों का पदविन्यास करना चाहिये ॥१७॥
वास्तु-देवों की पूजा गन्ध एवं पुष्प आदि से करके संसार के स्वामी (शिव) का जप करना चाहिये । इसके पश्चात पाँच-पाँच कलशो का न्यास करना चाहिये । इन कलशों को वस्त्रों से सजाना चाहिये, उनमें सुगन्धित जल से भरना चाहिये तथा गन्ध एवं पुष्पों से उनकी पूजा करनी चाहिये । इन कलशों को दोषरहित, छिद्ररहित एवं एक सूत्र (एक लाइन) में रक्खा होना चाहिये ॥१८-१९॥
शालि धान्य के ऊपर निर्मित स्थण्डिल मण्डल के ऊपर प्रदक्षिणक्रम से (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर) गन्ध एवं पुष्प आदि से वास्तुदेवों को नियमानुसार बलि प्रदान कर एवं उनकी पूजा करने के पश्चात् मञ्जूषा-पात्र को श्वेत वस्त्र से लपेटना चाहिये । उसके ऊपर श्वेत वस्त्र को फैलाना चाहिये एवं उसके ऊपर दर्भ (कुश) बिछाना चाहिये ॥२०-२१॥
तदनन्तर सूत्रग्राही आदि के द्वारा सम्मानित बुद्धिमान एवं वास्तुशास्त्र के ज्ञाता स्थपति को शुद्ध जल पान कर रात्रि को उपवास करना चाहिये ॥२२॥
(अगले दिन) मञ्जूषा मे प्रयत्नपूरक धान्य आदि वस्तुओं को रखना चाहिये । ये पदार्थ है -सोने के शालि, चाँदी के व्रीहि, ताँबे के कुलत्थ, राँगे के कङ्कु, सीसे के उड़द, अयस (लोहे) के मूँग, अयस् के कोदो तथा पारे के तिल ॥२३-२४॥
उपर्युक्त वस्तुओं को ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये (प्रदक्षिणक्रम से) आठो दिशाओं (एवं कोणों) में रखना चाहिये । इसके पश्चात् जयन्त के पद पर सिन्दूर एवं भृश पर हरिताल रखना चाहिये ॥२५॥
वितथ के पद पर मनःशिला (मैनसिल), भृङ्गराज पर माक्षिक (लाल खड़िया), सुग्रीव पर लाजावर्त, शोष पर गेरु, गणमुक्य़ पर अञ्जन, उदिर पर दरद (लाल ताँबा), मध्य भाग पर पद्मराग (रूबी पत्थर), मरीचि पर मूँगा, सविन्द्र पर पुष्पराग, विवस्वान् पर वैदूर्य मणि, इन्द्रजय पर हीरा, मित्र पर इन्द्रनील, रुद्रराज पर महानील, महीधर पर मरकत (पन्ना) एवं आपवत्स पर मोती का स्थापन करना चाहिये । इन सभी पदार्थों को मध्य से प्रारम्भ कर पूर्व क्रम से क्रमानुसार रखना चाहिये । ॥२६-२७-२८-२९॥
उपर्युक्त कोष्ठों मे इन ओषधियों को ईशान कोण से प्रारम्भ करते हुये रखना चाहिये -
विष्णुक्रान्ता, त्रिशूला, श्री, सहा, दुर्वा, भृङ्गक, अपामार्ग तथा एकपत्राब्ज ॥३०॥
जयन्त आदि के कोष्ठों में चन्दन, अगरु, कपूर, लवङ्ग, इलायची, लताफल, तक्कोल एवं इना- इन आठ गन्धयुक्त पदार्थों को रखना चाहिये ॥३१॥
चारो दिशाओं मे सुवर्ण, अयस्, ताम्र एवं रुप्यक (रूपा, चाँदी) द्वारा निर्मित स्वस्तिक रखना चाहिये । सभी देवों केलिये ये सभी सामान्य है; किन्तु उनको उनके विशेष चिह्नों से युक्त किया जाता है ॥३२॥
शिवालय का शिलान्यास - शिवालय के भूगर्भ में पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर सुवर्ण-निर्मित कपाल, शूल, खट्वाङ्ग, परशु, वृषभ, पिनाक धनुष, हरिण एवं पाश का गर्भन्यास करना चाहिये ॥३३॥
उपर्युक्त क्रमानुसार ही आठ मंगल पदार्थ रखना चाहिये । दर्पण, पूर्णकुम्भ (जल भरा घट), वृषभ, चामर का जोड़ा, श्रीवत्स, स्वस्तिक, शंख एवं दीप - ये सभी देवों के अष्टमंगल होते है । स्थापक के अनुसार स्थपति को इन्हे क्रमशः स्थापित करना चाहिये ॥३४-३५॥

उस पवित्र एवं दृढं मञ्जूषापात्र को ढक्कन से ढँक कर उसकी गन्ध आदि से पूजा करे एवं एक कलश के जल से उसे स्नान कराये ॥३६॥

जिस समय ब्राह्मण वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे हो, शंख एवं भेरी आदि वाद्यों के स्वर हो रहे हो, कल्याण एवं जय का उद्घोष हो रहा हो, उस समय स्थपति एवं स्थापक को अपने शरीर को पुष्प, कुण्डल, हार, कटक (बाजूबन्द) एवं अंगूठी- इन पञ्चाङ्ग आभूषणों से सुसज्जित करना चाहिये । ये आभूषण सुवर्णनिर्मित होने चाहिये । पवित्र होकर उन्हें सोने का जनेऊ, नया उत्तरीयक (शरीर के ऊपर ओढ़ा जाने वाला) वस्त्र, श्वेत, (चन्दन आदि) का लेप एवं सिर पर श्वेत पुष्प धारण करना चाहिये ॥३७-३८-३९॥

(इसके पश्चात्) पृथिवी देवी का ध्यान करना चाहिये । वह दिग्गजों से युक्त हो, सागर एवं पर्वतराज से युक्त हो तथा अनन्त नाग के ऊपर स्थित हो (इस रूप में पृथिवी का ध्यान करना चाहिये) ॥४०॥

(पृथिवी का ध्यान करने के पश्चात्) सृष्टि, स्थिति एवं विनाश के आधारभूत संसार के स्वामी का जप करना चाहिये । ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के (मन्दिर के) दक्षिण द्वार के स्तम्भ के मूल में, होमस्तम्भ के नीचे,प्रतिस्तम्भ के नीचे, पादुका से प्रति के नीचे उचित रीति से रखना चाहिये ॥४१-४२॥

नियत स्थान से ऊँचा या नीचा गर्भ-स्थापन सम्पत्ति के विनाश का कारण होता है । मञ्जूषा-स्थापन के पश्चात् सार-वृक्ष के काष्ठ या पाषाण-खण्डो से भूमि को चौकोर बनाना चाहिये ॥४३॥

इस पात्र के ऊपर पात्र का दुगना चौड़ा एवं पाँच अंगुल मोटा प्रतिमाफलक स्थापित करना चाहिये ॥४४॥

उसके ऊपर चार ईंटो से जुड़े हुये स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिये । वह स्तम्भ रत्न एवं ओषधियों से युक्त हो एवं वस्त्र तथा पुष्प आदि से अलङ्कृत हो ॥४५॥

इस प्रकार शिवालय के भू-गर्भ विन्यास की विधि का वर्णन किया गया । अब अन्य मन्दिरों के गर्भ-विन्यास का वर्णन किया जा रहा है ।

विष्णुगर्भ

विष्णुमन्दिर का शिलान्यास - विष्णुदेव के भवन में मध्य भाग मे सुवर्णनिर्मित चक्र स्थापित करना चाहिये । शङ्ख, धनुष, दण्ड सुवर्ण-निर्मित एवं लोहे की तलवार होनी चाहिये । धनुष एवं शङ्ख वाम भाग में तथा खड्ग एवं दण्ड दक्षिण भाग में होना चाहिये । सामने सोने का गरुड स्थापित करना चाहिये ॥४६-४७॥

ब्रह्मा के मन्दिर का शिलान्यास - ब्रह्मा के मन्दिर में जनेऊ, ॐकार, स्वस्तिक एवं अग्नि सुवर्णनिर्मित स्थापित करना चाहिये । पद्म, कमण्डलौ, अक्षमाला एवं कुश ताम्रनिर्मित रखना चाहिये । ब्रह्मा के स्थान के मध्य में कमल स्थापित होना चाहिये । ॥४८-४९॥

उसके मध्य में जनेऊ से लपेटा हुआ ॐकार, चारो दिशाओं में स्वस्तिक तथा वाम भाग मे कमण्डलु स्थापित करना चाहिये ॥५०॥

वाम भाग में कुश एवं अक्षमाला तथा सम्मुख तीक्ष्ण अग्नि स्थापित करनी चाहिये । ब्रह्मस्थान मे स्थापित होने वाले ब्रह्मगर्भ का वर्णन इस प्रकार किया गया ॥५१॥

कार्तिकेय -मन्दिर का शिलान्यास - षण्मुख (कार्त्तिकेय) के मन्दिर के गर्भ मे सुवर्णमय स्वस्तिक, अक्षमाला, शक्ति, चक्र, कुक्कुट (मुर्गा) एवं मोर तथा लोहे की शक्ति मध्य भाग मे स्थापित करनी चाहिये । वाम भाग मे कुक्कुट एवं दाहिने भाग मे मोर रखना चाहिये । अक्षरमाला को सम्मुख स्थापित करना चाहिये ॥५२-५३॥

अन्य देवों के लिये गर्भन्यास की सामग्री - सवितृ देवता के भवन में कमल, अंकुश, पाश एवं सिंह तथा इन्द्र के भवन में वज्र, गज, तलवार एवं चामर स्थापित करना चाहिये ॥५४॥

अग्नि के भवन में सुवर्णनिर्मित मेष एवं शक्ति तथा यम के भवन में लोहे का महिष एवं सुवर्णमय पाश स्थापित करना चाहिये ॥५५॥

निऋति के भवन मे लोहे की तलवार तथा वरुण के भवन मे लोहे का मकर एवं सुवर्णमय पाश गर्भस्थान मे रखना चाहिये ॥५६॥

गर्भन्यास मे वायु के भवन में कृष्ण वर्ण का मृग तथा तारापति (चन्द्रमा) के भवन में सुवर्णनिर्मित व्याल स्थापित करना चाहिये । कुबेर के भवन मे मनुष्य (की प्रतिमा) एवं मदन (कामदेव) के भवन में मकर स्थापित करना चाहिये ॥५७॥

विघ्नेश (गणेश) के भवन के गर्भ मे कुठारदन्त (गजदन्त) एवं अक्षमाला स्थापित करनी चाहिये । आर्यक के भवन में सुवर्णनिर्मित टेढ़ा दण्ड एवं ओम् स्थापित करना चाहिये ॥५८॥

सुगत के भवन के गर्भन्यास के लिये सोने के पीपल, करक (कमण्डलु), सिंह एवं छत्र निर्मित कराना चाहिये । सामने के भाग मे अश्वत्थ (पीपल) स्थापित करना चाहिये एवं उसके ऊपर छत्र स्थापित करना चाहिये । वाम भाग में कुण्डिका (कमण्डलु) एवं दाहिने भाग में केसरी (सिंह) तथा गर्भ में श्रीवत्स, अशोक एवं सिंह स्थापित करना चाहिये ॥५९-६०॥

(श्रीवत्स, अशोक एवं सिंह के अतिरिक्त) कमण्डलु, अक्षमाला एवं मोर का पंख सुवर्णमय तथा त्रिच्छत्र, करक एवं तालवृन्त (ताल का पंखा) सोने से निर्मित होना चाहिये ॥६१॥

(जिनमन्दिर में) वृक्ष को सम्मुख, उसके ऊपर छत्र स्थापित करना चाहिये । मोर-पंख को दाहिने भाग मे एवं वामभाग मे कुण्डिका (कमण्डलु) के साथ अक्षमाला स्थापित करनी चाहिये ॥६२॥

जिन-मन्दिर में श्रीरूप को गर्भ के मध्य में स्थापित करना चाहिये एवं सिंह को भी वही स्थापित करना चाहिये । करक एवं तालवृन्त को उसके बाये स्थापित करना चाहिये ॥६३॥

बुद्धिमान (स्थपति) को दुर्गा-मन्दिर के गर्भ-विन्यास मे शुक एवं चक्र सुवर्ण निर्मित, सिंह एवं शंख रजत-निर्मित, मृग ताम्र-निर्मित तथा तलवार लोहा-निर्मित स्थापित करना चाहिये । क्षेत्रपाल के मन्दिर के गर्भ-विन्यास में सुवर्णनिर्मित खट्वाङ्ग, तलवार एवं शक्ति स्थापित करनी चाहिये ॥६४-६५॥

सुवर्णपद्म लक्ष्मी-मन्दिर में, तीन वर्ण का ॐकार सरस्वती मन्दिर मे तथा ज्येष्ठा के मन्दिर मे सुवर्णनिर्मित काक, केतु एवं कमल गर्भ मे स्थापित करना चाहिये ॥६६॥

काली-मन्दिर के गर्भविन्यास के कपाल, शूल एवं घण्टो के साथ प्रेतो को स्थापित करना चाहिये । मातृकाओं के भवन के गर्भ में हंस, वृषभ, मयूर, गरुड़, सिंह, गज एवं प्रेतों की सुवर्ण-प्रतिमायें स्थापित करनी चाहिये । रोहिणी के मन्दिर के गर्भ में पद्म, अक्षसूत्र एवं दीप स्थापित करना चाहिये ॥६७-६८॥

पार्वती-मन्दिर के गर्भ में दर्पण एवं अक्षमाला तथा मोहिनी-मन्दिर में पद्म, अक्षमाला एवं पूर्ण-कुम्भ स्थापित करना चाहिये ॥६९॥

जिन देवी एवं देवों का उल्लेख यहाँ नही किया गया है, उनके मन्दिर के गर्भ में उनके विशिष्ट चिह्न एवं वाहन के साथ छत्र, ध्वज एवं पताका स्थापित करनी चाहिये ॥७०॥

<u>मानुषहर्म्यगर्भक</u>

मनुष्य के भवन का शिलान्यास - द्विजन्मा वर्ण वालों के भवन के गर्भ मे जिन वस्तुओं का विन्यास होता है, उनका वर्णन किया जा रहा है । उनमे कारक तथा दन्तकाष्ठ ताम्रमय एवं सुवर्णमय होता है ॥७१॥

यज्ञोपवीत (जनेऊ), यज्ञाग्नि एवं यज्ञपात्र रजत-निर्मित होते है । यज्ञोपवीत गर्भ के मध्य मे तथा यज्ञपात्र उसके दाहिने होना चाहिये ॥७२॥

यज्ञोपवीत के वाम भाग मे करक तथा दन्त-काष्ठ एवं यज्ञाग्नि सम्मुख होना चाहिये । चारो दिशाओं में स्वस्तिक होने चाहिये । ब्राह्मण के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार वर्णित है ॥७३॥

(क्षत्रिय के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार होना चाहिये) मध्य मे सुवर्णमय चक्र, उसके वाम भाग मे रजत-निर्मित शंख एवं ताम्रनिर्मित धनुष होना चाहिये । चक्र के दक्षिण भाग में सोने का दण्ड होना चाहिये ॥७४॥

दक्षिण भाग में ही लोहे का खड्ग तथा चारो दिशाओं में चार गज होने चाहिये । ये क्रमशः सुवर्ण, लोहा, ताँबा एवं रजत-निर्मित हो ॥७५॥

मध्य भाग में सुवर्णनिर्मित श्रीरूपक एवं चारो दिशाओं में स्वस्तिक तथा छत्र, ध्वज, पताका एवं दण्ड निश्चित रूप से होना चाहिये । यह गर्भ-न्यास राजा के गृह के लिये होता है ॥७६॥

ये सभी गर्भ-न्यास राजभवन के द्वार के स्थान पर होने चाहिये । अन्य क्षत्रियों के गृहों मे उचित स्थान पर होना चाहिये । यदि राजा 'वार्ष्णेयक' श्रेणी का हो तो यह गर्भ-न्यास विजयद्वार के दक्षिण ओर होना चाहिये ॥७७॥

(वैश्य-गृहो का गर्भ-न्यास इस प्रकार होना चाहिये) लोहे से निर्मित हल का अग्र भाग (जिह्वा) एवं शंख तथा ताँबे से निर्मित केकड़ा, (विष्णु के) पाँच अस्त्र एवं उड़द सीसा (लेड) से निर्मित होना चाहिये । इनके अतिरिक्त अश्व, वृष, गज एवं सिंह होना चाहिये ॥७८॥

इन्हें सूर्य, अग्नि, वरुण एवं सोम के स्थान पर भली-भाँति स्थापित करना चाहिये । श्वेत वर्ण (रजत) से निर्मित चार गायों को चारो दिशाओं मे स्थापित करना चाहिये । वृष को वैश्यों के भवन के गर्भ में सामने रखना चाहिये ॥७९॥

(शूद्र के गृह का गर्भ-विन्यास इस प्रकार वर्णित है-) बीजपात्र, सोने का हल एवं ताँबे का युग (हल का जुआ) होना चाहिये । चारो दिशाओं मे चाँदी से निर्मित पशु (गाय) रखना चाहिये एवं मध्य मे वृष होना चाहिये, जिसके सामने जुआ रक्खा होना चाहिये ॥८०-८१॥

वृष के दाहिने भाग मे हल एवं बाँये भाग मे बीज का पात्र होना चाहिये । बीजों को सुवर्ण-निर्मित होना चाहिये । शेष गर्भ-न्यास शूद्रो के भवन के गर्भ में उसी प्रकार होना चाहिये, जिस प्रकार वैश्यों के गृह में वर्णित है ॥८२॥

सामान्य भवनों के गृहों के गर्भ-न्यास एवं जाति-विशेष के गृहों के गर्भ-न्यास को उस भवन मे मिश्रित कर दिया जाता है, जो अनेक तल वाले होते है ॥८३॥

उत्तर आदि चारो दिशाओं के मूख वाले गृहों में भिति के नेत्र (गृह का द्वार) के दाहिने भाग मे पुष्पदन्त (पश्चिम दिशा), भल्लाट (उत्तर दिशा), महेन्द्र (पूर्व दिशा) एवं गृहक्षत (दक्षिण दिशा) के पद पर गर्भ-न्यास करना चाहिये ॥८४॥

रसोई के गर्भ न्यास मे द्वार के दाहिने भाग मे अथवा स्तम्भ के नीचे स्थाली (पकाने का पात्र), उसका ढक्कन, करछुल, चावल, मथानी, चलनी, दाँत साफ करने का काष्ठ (दतुअन या दातौन) तथा अग्नि की लौह-निर्मित प्रतिमा रखनी चाहिये ॥८५॥

रसोई के दाहिनी ओर के कक्ष मे शालि (चावल) से भरा कुम्भ गर्भ मे स्थापित करना चाहिये । धन-कक्ष के गर्भ-न्यास मे चाभी एवं अर्गला होनी चाहिये । सुखालय (विश्राम-गृह) के गर्भ में पलंग, दीपक एवं शयन (आसन) स्थापित करना चाहिये । ॥८६-८७॥

जिन सामग्रियों से जिन कार्यों को सम्पन्न किया जाता है, उन सामग्रियों को उनके कक्षों के गर्भ में स्थापित करना चाहिये । जो जिनके प्रतीक हो, उन चिह्नो को उसके गर्भ में स्थापित करना चाहिये ॥८८॥

सभागार, प्रपा (प्याऊ) एवं मण्डपो मे दक्षिणी कोने के स्तम्भ अथवा दूसरे स्तम्भ या द्वार के दाहिने स्तम्भ के नीचे गर्भ-स्थापन करना चाहिये ॥८९॥

उपर्युक्त भवन-निर्माण में गर्भ-विन्यास हेतु लोहे का गज, कोदो (अन्न-विशेष) सुवर्ण-निर्मित लक्ष्मी एवं सरस्वती को पात्र के मध्य में रखना चाहिये ॥९०॥

नाट्य-गृह का गर्भविन्यास कुटिकामुख या मण्डितस्तम्भ के मूल मे अथवा दोनो स्थानो पर करना चाहिये ॥९१॥

नाट्य-गृह के गर्भ-विन्यास मे सभी प्रकार के धातुओं से निर्मित सभी वाद्य-यन्त्र रखना चाहिये । श्रीवत्स, कमल तथा पूर्ण कुम्भ सोने से निर्मित होना चाहिये ॥९२॥

सभागार के गर्भ-स्थापन में (पूर्वोक्त) सुवर्ण-निर्मित पदार्थों को रखना चाहिये । गर्भ-स्थापन सभागार के द्वार अथवा स्तम्भ के नीचे अथवा कोण मे स्थित स्तम्भ के मूल मे करना चाहिये ॥९३॥

उपर्युक्त हेम-गर्भ का स्थापन तुलाभार एवं अभिषेक मण्डप (राजभवन के विशिष्ट अवसरों पर प्रयोग होने वाले मण्डप) में भी होता है । पाखण्डी (विधर्मी) लोगों के आवास में उनके चिह्नो को भवन के गर्भ में स्थापित करना चाहिये ॥९४॥

(चारो वर्णो से पृथक्) अन्य जाति वालों के आवास मे उनके विशिष्टो चिह्नो को भवन-गर्भ मे स्थापित करना चाहिये । यदि भवन के स्वामी की पत्नी गर्भवती हो तो उसे भवनगर्भ का स्थापन नहीं करना चाहिये ॥९५॥

छोटे पात्र (गर्भ मे स्थापित होने वाली मञ्जूषा) में वास्तु-देवों के स्थानों के ज्ञाता को देवों के अनुरूप रत्न एवं धातुओं को यथोचित विधि से रखना चाहिये ॥९६॥

पात्र को द्वार के दक्षिण भाग में या गृहस्वामी के कक्ष के दाहिने भाग मे स्थापित करना चाहिये । (सामान्यतया) इस पात्र का मुख भवन के भीतरी भाग की ओर होना चाहिये; किन्तु मञ्जूषा भवन के मध्य भाग मे स्थापित हो तो उसका मुख बाहर की ओर होना चाहिये ॥९७॥

गर्भमन्त्र

शिलान्यास का मन्त्र - मूलोक्त मन्त्र का उच्चारण करते हुये पूर्वाभिमुख अथवा उत्तरमुख होकर स्थपति को पूर्व-वर्णित विधि से क्रमशः विधिवत् भवन का गर्भ स्थापित करना चाहिये ॥९८॥

अयं मन्त्र -

मन्त्र इस प्रकार है - मन्त्रो एवं स्वर के देवता के लिये स्वाहा ॥ सभी रत्नो के अधिपति के लिये स्वाहा । उत्तम एवं सत्यवादी प्रजापति के लिये स्वाहा । लक्ष्मी को प्रणाम । सरस्वती को प्रणाम । विवस्वान् को प्रणाम । वज्रपाणि को प्रणाम । सभी विघ्नो के विनाशक अभिनव को प्रणाम । अग्नि को प्रणाम एवं स्वाहा ॥

बावड़ी आदि का शिलान्यास - वापी (बावड़ी) कूप, तालाब, दीर्घिका (लम्बा सरोवर, जलाशय) एवं पुल के निर्माण मे गर्भ-स्थापन हेतु स्वर्ण-निर्मित मछली, मेढक, केकड़ा, सर्प एवं सूँस को पात्र में रखकर उत्तर दिशा या पूर्व दिशा में एक पुरुष की अञ्जली के माप के गड्ढे मे स्थापित करना चाहिये ॥९९-१००॥

प्रथमेष्टक

शिलान्यास की प्रथम ईट-स्थापना - भवन के गर्भ का स्थापन शुभ मुहूर्त, लग्न एवं होरा से युक्त रात्रि में करना चाहिये तथा शुभ मुहूर्त, लग्न एवं होरा से युक्त दिन मे चार ईंटो की स्थापना करनी चाहिये ॥१०१॥

जिस-जिस स्थान पर गर्भ-स्थापन किया गया हो, वहाँ प्रथम ईट मृत्तिका, जड़, अन्न, धातु, रत्न एवं ओषधियों के साथ स्थापित करनी चाहिये ॥१०२॥

(इनके अतिरिक्त) गन्धयुक्त पदार्थो एवं बीजों के साथ प्रथम ईट का न्यास करना चाहिये । प्रस्तर से निर्मित होने वाले भवन में प्रस्तरमयी शिला एवं ईट से निर्मित होने वाले भवन मे इष्टका का न्यास करना चाहिये ॥१०३॥

गर्भ मे रक्खी जाने वाली मञ्जूषा के बराबर चौड़ी, चौड़ाई से दुगुनी लम्बी एवं चौड़ाई की आधी मोटी चारों इष्टकायें होनी चाहिये । इष्टका का यह प्रमाण सभी भवनों के लिये होता है ॥१०४॥

मध्यम एवं उससे बडे आकार के ईट आठ या बारह होने चाहिये । पुरुष-इष्टकाओं की लम्बाई सीधी होनी चाहिये एवं उनका माप सम संख्या वाली अंगुलियों से रखना चाहिये ॥१०५॥

स्त्री-इष्टकाओ की लम्बाई का माप विषम संख्या मे होना चाहिये तथा नंपुसक इष्टकाओं की रेखा वक्र होनी चाहिये । ईटो को स्पर्श मे चिकना, अच्छी प्रकार पका हुआ, (ठोकने पर) सुन्दर स्वर से युक्त एवं देखने में सुन्दर होना चाहिये ॥१०६॥

पुरुष, स्त्री एवं नपुंसक इष्टकाओं का भवन में प्रयोग क्रमानुसार करना चाहिये । जैसा पहले प्राप्त होता है, उसी प्रकार उनकी स्थापना करनी चाहिये ॥१०७॥

प्रथमेष्टका को दोषहीन तथा बिन्दु एवं रेखाओं (अप्रशस्त चिह्नो) से रहित होना चाहिये तथा प्रारम्भ मे ही झषाल स्तम्भ के नीचे स्थापित करना चाहिये ॥१०८॥

विमान (मन्दिर) मे निखात स्तम्भ के नीचे एवं गर्भन्यास के ऊपर इष्टका रखनी चाहिये । उन्हे पूर्व-दक्षिण से (प्रारम्भ कर) प्रदक्षिणक्रम से तीनों कोणों (दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व) मे स्थापित करना चाहिये ॥१०९॥

देवों एवं ब्राह्मणों के भवन मे इष्टका-स्थापन पूर्वोक्त क्रम से होना चाहिये । कुछ विद्वानों के अनुसार गर्त की गहराई विस्तार के २/५ भाग (से अधिक) नही होनी चाहिये ॥११०॥

इष्टकाओ के चयन से तैयार गर्त मे सुन्दर वेष धारण कर प्रथम इष्टका को पूर्ववर्णित विधि से स्थापित करना चाहिये ॥१११॥

शुभ दिन, पक्ष, नक्षत्र, होरा एवं मुहूर्त प्राप्त होने पर प्रथमतः गर्भ मे रक्खे जाने वाले पात्र मे मूर्तियाँ, वनस्पतियाँ, मणि, सुवर्ण आदि अष्टधातु तथा वर्णो; यथा अञ्जन आदि को रखना चाहिये । रात्रि में मृतिका, जड़ एवं आठ प्रकार के अन्नों को गर्त के मूल में रखना चाहिये । (अगले दिन प्रातः) गर्भ-स्थापन की मञ्जूषा के लिये बलि-कर्म करने के पश्चात् गर्त मे जल के भीतर गर्भ-स्थापन करना चाहिये ॥११२॥

देवों के एवं मनुष्यों के भवन में द्वार एवं स्तम्भ के मूल में विधिपूर्वक अविकलाङ्ग (सम्पूर्ण अङ्गो के सहित) प्रारम्भ मे गर्भ-स्थापन करना चाहिये । इसी के ऊपर स्तम्भ आदि का निर्माण करना चाहिये । गर्भ-स्थल के ऊपर सम्पूर्ण वैभव से युक्त स्तम्भ आदि को विधि-विधानपूर्वक स्थापित करना चाहिये ॥११३॥

द्वार-योग एवं स्तम्भ को पच्चीस कलशों के जल से पवित्र करना चाहिये । इन्हें श्वेत चन्दन एवं नवीन वस्त्र से युक्त करना चाहिये एवं सभी मङ्गल पदार्थो से युक्त करने के पश्चात स्थपति को स्तम्भ एवं द्वार-योग को स्थापित करना चाहिये ॥११४॥

इति मयमते वस्तुशास्त्रे गर्भविन्यासो नाम द्वादशोऽध्यायः

मयमतम् - अध्याय १३

उपपीठ-विन्यास

उपपीठ का निर्माण अधिष्ठान के नीचे होता है । यह भवन की रक्षा, ऊँचाई एवं शोभा के लिये होता है ॥१॥

उपपीठ का प्रमाण अधिष्ठान के बराबर (ऊँचाई), तीन चौथाई, आधा, पाँच भाग में से दो भाग के बराबर, सवा भाग, डेढ़ भाग अथवा दुगुने से चतुर्थांश कम होना चाहिये ॥२॥

अथवा उपपीठ को अधिष्ठान की ऊँचाई का दुगुना रखना चाहिये । ऊँचाई के दस भाग करने चाहिये तथा एक-एक भाग की वृद्धि करनी चाहिये ॥३॥

(एक-एक भाग से वृद्धि करते हुये) पाँचवे भाग तक निर्माण करना चाहिये । अथवा अधिष्ठान के प्रारम्भ से बाह्य भाग में अधिष्ठान से बाहर की ओर निकला हुआ) एक दण्ड, डेढ़ दण्ड, दो दण्ड अथवा तीन दण्ड माप का निर्गम निर्मित करना चाहिये ॥४॥

उपपीठ को अधिष्ठान अथवा जगती के बराबर भी निर्मित किया जाता है । उपपीठ तीन प्रकार के होते है-वेदिभद्र, प्रतिभद्र एवं सुभद्र ॥५॥
(वेदिभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते है) - आठ अङ्ग वाले एवं छः अङ्ग वाले । इनका वर्णन इस प्रकार है-) उपपीठ की ऊँचाई को बारह भागों मे बाँटना चाहिये । दो भाग से उपान, एक भाग से पद्म, उसके ऊपर आधे भाग से क्षेपण, पाँच भाग से ग्रीव, आधे से कम्प, एक भाग से अम्बुज तथा शेष भाग से वाजन एवं कम्प का निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार उपपीठ के आठ अङ्ग होते है ॥६-७॥
अथवा ऊपर एवं नीचे के अम्बुज (तथा पद्म) को छोड़ कर छः भागों का उपपीठ बनाना चाहिये । इस प्रकार सभी भवनों के अनुरूप वेदिभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते है ॥८॥
प्रतिभद्र उपपीठ के जन्म (उपपीठ का एक भाग) से लेकर वाजनपर्यन्त सत्ताईस भाग करने चाहिये । एक भाग से जन्म एवं वाजम, दो भाग से पादुक, दो से पङ्कज, एक से कम्प, बारह से कण्ठ, एक से उत्तर, तीन से अम्बुज, एक से कपोत, दो से आलिङ्ग एवं एक से प्रतिवाजन निर्मित करना चाहिये । प्रतिभद्र नामक यह उपपीठ इन सभी अलङ्कारों से युक्त होता है ॥९-१०-११॥
प्रतिभद्र दो प्रकार के होते है । (प्रथम प्रकार ऊपर वर्णित है।) दूसरे प्रकार में एक भाग अधिक होता है । (इसके अट्ठाईस भाग किये जाते है ।) इसमें दो भाग से पादुक, तीन से पङ्कज, एक से आलिङ्ग, एक से अन्तरित, दो से प्रति, एक से ऊर्ध्व वाजन, आठ से कण्ठ, एक से उत्तर, एक से अब्ज, तीन से कपोत, एक से आलिङ्ग, एक से अन्तरित, दो से प्रति एवं एक भाग से ऊर्ध्ववाजन का निर्माण किया जाता है ॥१२-१३-१४॥
इस उपपीठ में ऊँचाई के इक्कीस भाग किये जाते है । दो भाग से जन्म, दो से अम्बुज, आधे से कण्ठ, आधे से पद्म, दो से वाजन, आधे से अब्ज, आधे से कम्प, आठ से कण्ठ, एक से उत्तर, आधे से पद्म, तीन से गोपानक एवं आधे से ऊर्ध्व कम्प निर्मित होते है । (इनसे युक्त उपपीठ) की संज्ञा सुभद्रक होती है ॥१५-१६॥
(सुभद्र उपपीठ का दूसरा भेद इस प्रकार है । इसमें भी ऊँचाई के इक्कीस भाग किये जाते है ।) इसमें दो भाग से जन्म, तीन से पद्म, एक से कन्धर, दो से वाजन, एक से कम्प, आठ से गल, एक से कम्प, दो से वाजन एवं एक से कम्प निर्मित होता है । इस प्रकार सभी (उपर्युक्त) अलङ्करणों से युक्त सुभद्र उपपीठ दो प्रकार के होते है ॥१७-१८॥
अर्पित (भवन का भागविशेष) से युक्त एवं अर्पित से रहित सभी प्रकार के भवनों में सिंह, गज, मकर, व्याल, भुत (प्राणी), पत्र एवं जिसके मस्तक पर बाल मीन सवार हो, ऐसा मत्स्य अलङ्करणरूप में अंकित करना चाहिये ॥१९-२०॥
उपपीठ के प्रत्येक अङ्ग को वृद्धिक्रम से अथवा हीन-क्रम से निर्मित करना चाहिये एवं उसी प्रकार उपपीठ को अधिष्ठान से जोड़ना चाहिये ॥२१॥
उपपीठ अधिष्ठान की ऊँचाई से दुगुना, डेढ़ गुना, बराबर, आधा, तीन चौथाई, २/५, दो तिहाई या आधी होना चाहिये । यदि अपने सभी अङ्गो के साथ उपपीठ अदिष्ठान के बराबर हो तो भी उसका वाजन बड़ा होना चाहिये । उपपीठ के दृढ़ बनाने के लिये बुद्धिमान स्थपति को उसके सभी अङ्गो को उचित माप मे रखना चाहिये ॥२२॥

मयमतम् - अध्याय १४

अधिष्ठान का निर्माण -

देवों, ब्राह्मणों एवं अन्य वर्ण वालों के गृह-निर्माण के अनुरूप दो प्रकार की भूमि-जाङ्गल (सूखी) एवं अनूप (स्निग्ध) होती है ।॥१॥

जाङ्गल भूमि अत्यन्त कंकरीली होती है एवं खोदने में कड़ी होती है । इसमें खुदाई के पश्चात् अत्यन्त स्वच्छ, चन्द्रमा के सदृश जल प्राप्त होता है ॥२॥

भवन की योजना के अनुरूप खुदाई करने पर न्ल कमल एवं ककड़ी से युक्त महीन बालू प्राप्त होते है । ऐसी भूमि को अनूप कहते है । इसमें खुदाई करते ही जल दिखाई पड़ने लगता है ॥३॥

(जलदर्शन के पश्चात्) गड्ढे को ईंटो, प्रस्तर, मिट्टी, चिकने बालू एवं कङ्कड़ से भरना चाहिये । इन्हे इस प्रकार भरना चाहिये, जिससे कि खोदा गया गड्ढा छेदरहित एवं दृढ़ हो जाय । इसे गजपाद से एवं बड़े काष्ठखण्डों से (कूट-पीट कर) सघन बना देना चाहिये ॥४-५॥

उस गर्त को (कङ्कड़ आदि से भरने के बाद शेष बचे गड्ढे को) जल से भरना चाहिये । जल के क्षीण न होने पर शुभ होता है । बुद्धिमान् (स्थपति) को जल से ही भूमि के समान होने (समतल होने) की परीक्षा करने के पश्चात् गर्त में गर्भ-न्यास करना चाहिये । इसके पश्चात नियमपूर्वक वास्तु-होम करना चाहिये ॥६॥

उस स्थान पर स्तम्भ का दुगुना या तीन गुना व्यास वाला एवं उसका आधा मोटाई वाला बहल से युक्त उपान स्थापित करना चाहिये । उसके ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को उपान के अनुरूप प्रमाण का पद्म तथा उपोपान निर्मित करना चाहिये ॥७-८॥

भूमि को एक हाथ के प्रमाण से ऊँचा बनाकर एवं सघन कर उसके ऊपर जिस उपान को स्थापित किया जात है, उसे जन्म कहते है ॥९॥

उसके ऊपर उपपीठ से युक्त अधिष्ठान स्थापित करना चाहिये एवं उसके ऊपर स्तम्भ, भित्ति अथवा जङ्घा निर्मित होनी चाहिये ॥१०॥

जिस पर प्रासाद आदि भवन स्थित रहते है एवं जिससे कपोत (भवन का एक भाग) के ऊपर प्रति (भवन का अङ्ग) निर्मित होता है, उसे भूमिदेश कहते है ॥११॥

अधिष्ठानोन्मान

अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण - अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण भूमि (तल) के एवं जाति के अनुसार दो प्रकार का होता है । देवालय में यह चार हाथ का एवं ब्राह्मणगृह में साढ़े तीन हाथ का होता है ॥१२॥

राजा के भवन में तीन हाथ, युवराज के भवन में ढ़ाई हाथ, वेश्यों के भवन में दो हाथ एवं शूद्र के भवन में एक हाथ का अधिष्ठान कहा गया है ॥१३॥

अधिष्ठान की ऊँचाई का यह प्रमाण जाति के अनुसार वर्णित है । भूमि (तल) के अनुसार अधिष्ठान का माप इस प्रकार है - बारह भूमि से प्रारम्भ कर छः-छः अंश प्रत्येक भूमि के कम करते हुये तीन भूमिपर्यन्त भवन में अधिष्ठान (की ऊँचाई) एक दण्ड होना चाहिये ॥१४॥

तीन तल के भवन में उत्तम अधिष्ठान प्रशस्त होता है । उसका माप चतुर्थांश कम दो हाथ होता है । इससे छोटे अधिष्ठान का प्रयोग छोटे भवनों में विद्वानों द्वारा वर्णित नीति के अनुसार करना चाहिये ॥१५॥

यह मान भवन के स्तम्भ के आधे प्रमाण से छः या आठ भाग कम होना चाहिये । अधिष्ठान की ऊँचाई का प्रमाण भवन के तल के अनुसार रखना चाहिये ॥१६॥

उपान के निष्क्रान्त के तीन भाग करने चाहिये । उसके एक भाग को छोड़ कर जगती (अधिष्ठान) का निर्माण करना चाहिये ॥१७॥

इसी प्रकार कुमुदपट्ट एवं कण्ठ का भी निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार अधिष्ठान की ऊँचाई पर्यन्त प्रत्येक भाग का प्रमाण वर्णित है ॥१८॥

पादबन्ध अधिष्ठान - पादबन्ध के भागों के नाम एवं प्रमाण इस प्रकार है - वप्र आठ भाग, कुमुद सात भाग, कम्प एक भाग, कन्धर तीन भाग, कम्प एक भाग, वाजन तीन भाग तथा एक भाग मे अधोकम्प एवं ऊर्ध्वकम्प ॥१९॥

इस प्रकार ऊँचई में चौबीस भागों में बाँटे गये पादबन्ध का वर्णन प्राचीन ऋषियों द्वारा किया गया है, जो देवों, ब्राह्मणों, राजाओं (ऋषियों) वैश्यों एवं शूद्रों के भवन के अनुकूल है ॥२०॥

उरगबन्ध अधिष्ठान - ऊँचाई में अट्ठारह बागों में विभाजित उरगबन्ध अधिष्ठान, के दो प्रति नाग-मुख के सदृश होते है । इसमें वाजन एक बाग, प्रतिमुख दो बाग, त्रियस्त्रक एक बाग, दृक् तीन भाग, वृत्तकुमुद चः भाग एवं वप्रक पाँच भाग से निर्मित होता है । यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के भवनों के योग्य होता है ॥२१-२२॥

प्रतिक्रम

प्रतिक्रम अधिष्ठान - प्रतिक्रम अधिष्ठान की ऊँचाई के इक्कीस भाग करने चाहिये । एक भाग से क्षुद्रोपान, डेढ़ भाग से अब्ज, आधे भाग से कम्प, सात भाग से जगती, छः भाग से धारायुक्त कुमुद, एक भाग से आलिङ्गान्त, एक भाग से आलिङ्गादि, दो भाग से प्रतिमुख एवं एक भाग से पद्मयुक्त वाजन का निर्माण करना चाहिये । अधिष्ठान पर गज, सिंह, मकर एवं व्याल आदि का आभूषण के रूप में अंकन करना चाहिये ॥२३॥

इस प्रकार सुसज्जित प्रतिक्रम अधिष्ठान देवालय के लिये प्रशस्त होता है । जब इस पर पत्र एवं लतादिकों का अंकन किया जाता है, तब वह ब्राह्मण एवं राजाओं के गृह के अनुरूप होता है; साथ ही उन्हे शुभ, समृद्धि तथा विजय प्रदान करता है ॥२४॥

पद्मकेसर

पद्मकेसर अधिष्ठान - पद्मकेसर अधिष्ठान के छब्बीस भाग (ऊँचाई में) किये जाते है । इसमें जन्म एक भाग, अब्जक दो भाग, वप्र एक भाग, पद्म छः भाग, गल एक भाग, अब्ज एक भाग, कुमुद एक भाग, पद्म चार भाग, कम्प एक भाग, गल एक भाग, कम्प दो भाग, पद्म एक भाग, पटी दो भाग, कमल एक भाग एवं कम्प एक भाग होता है ॥२५॥

यह अधिष्ठान पद्मकेसर है । इस पद्मकेसर अधिष्ठान में कम्पवाजन, पङ्कज, कुम्भ, वप्र और कन्धर जब युक्त होता है तो यह शम्भु-मन्दिर के अनुकूल हो जाता है ॥२६॥

पुष्पपुष्पक अधिष्ठान - पुष्पपुष्पकल अधिष्ठान की ऊँचाई को उन्नीस भागों में बाँटना चाहिये । इसमें एक भाग से जन्म, पाँच से विप्र, एक से कञ्ज, आधे से गल, आधे से अब्ज, चार से कुमुद,

आधे से पङ्कज, आधे से कम्प, दो से कण्ठ, आधे से कम्प, आधे से पद्म, दो से महावाजन, आधे से दल तथा आधे से पङ्कजयुक्त कम्प निर्मित होते है । इस प्रकर अनेक पद्म-पुष्पों से युक्त अधिष्ठान पुष्पपुष्पकल कहलाता है । शिल्पियों के अनुसार यह अधिष्ठान मध्यम एवं बड़े विमानों (मन्दिरो) के अधिक अनुकूल होता है ॥२७-२८॥

श्रीबन्ध अधिष्ठान - श्रीबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई के बत्तीस भाग किये जाते है । इसमे दो भाग से अधिष्ठान का निचला भाग, एक से अब्ज, सात से हृत्, एक से पद्म, एक से कैरव, चार से अब्ज, एक से गल, एक से अधर, तीन से गल, एक से कम्प, एक से दल, चार से कपोत, एक से आलिङ्गादि, एक से आलिङ्गान्त, दो से प्रतिमुख एवं एक से पङ्कजयुक्त वाजन निर्मित होते है । इसकी स्थापना कुशल वर्धकि द्वारा करानी चाहिये । यह अधिष्ठान देवालयों एवं राजभवनों के लिये अनुकूल होता है तथा श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करता है ॥२९-३०॥

मञ्चबन्ध अधिष्ठान - मञ्चबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई के छब्बीस भाग करने चाहिये । एक भाग से खुर, छः से जगती, पाँच से कैरव, एक से कम्प, तीन से कण्ठ, एक से कम्प, एक से पद्म, तीन से कपोत, एक-एक भाग से ऊपर-नीचे के सदृश निर्माण, एक-एक भाग से अन्तवक्त्र एवं आदिवक्त्र तथा एक भाग से कम्प निर्मित होना चाहिये । यह अधिष्ठान राजगृह के अनुकूल होता है ॥३१॥

श्रीकान्त अधिष्ठान - जब अधिष्ठान आलिङ्ग एवं अन्तरित प्रति से युक्त हो एवं वाजन से रहित हो तो उसे श्रीकान्त कहते है । इसका कुमुद अष्टकोण अथवा वृत्ताकार हो सकता है एवं यह अम्बरामार्गियों के अनुकूल होता है ॥३२॥

श्रेणीबन्ध

श्रेणीबन्ध अधिष्ठान - देवालयों के अनुकूल श्रेणीबन्ध संज्ञक अधिष्ठान ऊँचाई में छब्बीस भागों में बाँटा जाता है । इसमें एक भाग से जन्म, दो से अब्ज, एक से कम्प, छः से जगती, चार से कुमुद, एक से कम्प, दो से कण्ठ, एक से कम्प, दो से पद्म, एक से पट्ट, दो से कण्ठ, एक से वाजन, डेढ़ से अब्ज एवं एक से पट्ट निर्मित होता है ॥३३॥

पद्मबन्ध अधिष्ठान - पद्मबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई को अट्ठारह भागों में बाँटना चाहिये । डेढ़ भाग से जन्म, आधे भाग से क्षुद्र, पाँच से पद्म, एक से धृक, तीन से अब्ज, एक से कुमुद, एक से पद्म, एक से आलिङ्ग, एक से आलिङ्गात, दो से प्रति एवं एक से वाजन निर्मित होता है । इस अधिष्ठान को विना किसी दोष के प्रधान देवों के मन्दिर में निर्मित करना चाहिये ॥३४॥

वप्रबन्ध अधिष्ठान - वप्रबन्ध अधिष्ठान की ऊँचाई को बाईस भागों में बाँटा जाता है । इसमें दो भाग से उपान, एक से कञ्ज, एक से कम्प, पाँच से वप्र, चार से कुम्भ, एक से पद्म, एक से पट्ट, दो से कण्ठ, एक से कम्प, एक से पद्म, दो से पट्टी तथा एक से पट्ट निर्मित होता है । इसे वप्रबन्ध अधिष्ठान कहते है ॥३५॥

कपोतबन्ध

कपोतबन्ध अधिष्ठान - वाजन पर जब कुमुद वृत्ताकार हो एवं कपोत निर्मित तो उसे कपोतबन्ध अधिष्ठान कहते है ।

प्रतिबन्धम्

प्रतिबन्ध अधिष्ठान - जब प्रति एवं वाजन चार भाग में निर्मित हो एवं प्रति त्रिकारस्त्रयुक्त (तीन कोणों वाला) हो तो उसे प्रतिबन्ध अधिष्ठान कहते है ॥३६॥

कलशाधिष्ठान

कलश अधिष्ठान - इस अधिष्ठान को ऊँचाई में चौबीस भागों में बाँटा जाता है । इसमें एक भाग से खुर, दो से कमल, एक से कम्प, तीन से कण्ठ, एक से कम्प, दो से पद्म, एक से पट्ट, दो से अब्ज, एक से निम्न, दो से प्रति एवं एक से वाजन निर्मित होता है । इसे कलश अधिष्ठान कहते है ॥३७॥

अधिष्ठानसामान्यलक्षण

अधिष्ठान के सामान्य लक्षण - इस प्रकार चौदह प्रकार के अधिष्ठानो का लक्षणसहित वर्णन विद्वानों द्वारा किया गया है । सभी को छोटे पादों एव सजावटी खिड़कियों से युक्त करना चाहिये । इनके सभी अङ्गों को, जिनका वर्णन ऋषि मय ने किया है, दृढ़ता पूर्वक स्थापित करना चाहिये ॥३८॥

अधिष्ठान को अधिक दृढ़ बनाने के लिये बुद्धिमान (स्थपति) को एक भाग या आधा, त्रिपद(पौन भाग) या चतुर्थांश, डेढ़ भाग अथवा एक भाग का चतुर्थांश जोड़ना या घटाना चाहिये । इस माप का निर्णय भवन के अनुसार उसके उत्तम (बड़ा), मध्यम अथवा छोटे आकार के अनुसार करना चाहिये । यह भवन की शोभा के लिये होता है । यह मत संयमी, निर्मल बुद्धी, तन्त्र एवं पुराण के ज्ञाता विद्वानों का है ॥३९॥

अधिष्ठानपर्यायनामान

अधिष्ठान के पर्यायवाची शब्द - मसूरक, अधिष्ठान वास्त्वाधार, धरातल, तल, कुट्टिम अथा आद्यङ्ग अधिष्ठान के पर्यायवाची है ॥४०॥

निर्गम का प्रमाण - जितना जगती का निष्क्रान्त निर्मित हो, उतना ही कुमुद का निर्गम निर्मित करना चाहिये । सभी अम्बुजों की ऊँचाई निर्गम के बराबर रखनी चाहिये ॥४१॥

दल (पत्तियों की पंक्ति) के अग्र भाग पंक्ति की ऊँचाई का चतुर्थांश या चतुर्थांश का आधा होना चाहिये । सभी वेत्रों का निर्गम चौथाई होना चाहिये ॥४२॥

महावाजन का निर्गम उसके बराबर आथवा तीन चौथाई होना चाहिये । शोभा एवं बल के अनुसार अधिष्ठान के सभी भागों का प्रवेश एवं निर्गम रखना चाहिये ॥४३॥

अधिष्ठानप्रतिच्छेदविधि

अधिष्ठान में खण्ड करने की विधि - बुद्धिमान (स्थपति) को अधिष्ठान में कहीं भी प्रतिच्छेद (खण्ड) नहीं करना चाहिये । द्वार के लिये किया गया प्रतिच्छेद सम्पत्तिकारक नही होता है । पादबन्ध एवं अधिष्ठान में आवश्यकतानुसार प्रतिच्छेद करना चाहिये ॥४४-४५॥

जन्म आदि पाँच वर्गोंमे उनकी ऊँचाई के अन्त में, सपट्टिकाङ्ग में, अधिष्ठान में एवं अन्य अङ्गो में प्रतिच्छेद हो सकता है । जहाँ-जहाँ उचित हो, बुद्धिमान (स्थपति) को वहाँ प्रयोग करना चाहिये ॥४६॥

अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ के ऊँचाई की आधी, छः, सात या आठ भाग कम होनी चाहिये । अधिष्ठान की ऊँचाई सभी भवनों में उनके अनुसार रखनी चाहिये । इस मत का प्रतिपादन शम्भु ने अच्छी प्रकार से किया है ॥४७॥

मयमतम् - अध्याय १५

स्तम्भलक्षण

स्तम्भ के लक्षण - मैं (मय ऋषि) अन्य लक्षणों के साथ स्तम्भों की लम्बाई, चौड़ाई, आकृति एवं उनके अलङ्करण आदि का संक्षेप मे सम्यक रूप से क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ ॥१॥

स्थाणु, स्थूण, पाद, जङ्घा, चरण, अङ्घ्रिक, स्तम्भ, तलिप एवं कम्प (स्तम्भ के) पर्यायवाची शब्द है ॥२॥

स्तम्भमान

स्तम्भ का प्रमाण - बारह तल के भवन में भूतल पर बनने वाले स्तम्भ की ऊँचाई आठ हाथ एक बित्ता (साढ़े आठ हाथ) होनी चाहिये । प्रत्येक तल पर एक-एक बित्ता कम करते हुये सबसे ऊपर के तल पर तीन हाथ ऊँचाई होनी चाहिये ॥३॥

अथवा स्तम्भ की ऊँचाई का मापन दिये गये माप से (दूसरे ढंग से) करना चाहिये । अधिष्ठान की ऊँचाई का दुगुना माप स्तम्भ का रखना चाहिये ॥४॥

(बारह तल के भवन में) स्वयम्भू के अनुसार स्तम्भ की ऊँचाई अधिष्ठान के दुगुने से अधिक होनी चाहिये । भूतल के स्तम्भ का विस्तार अट्ठाईस मात्रा (अङ्गुल-माप) होना चाहिये ॥५॥

प्रत्येक तल मे उपर्युक्त माप से दो-दो अङ्गुल कम करते हुये ऊपर के तल में स्तम्भ की चौडाई का माप प्राप्त होता है । अथवा स्तम्भ की ऊँचाई का दसवाँ, नवाँ या आठवाँ भाग उसकी चौड़ाई का माप होना चाहिये ॥६॥

अथवा स्तम्भ का विस्तार आधा, तीन भाग कम अथवा चतुर्थांश कम रखना चाहिये । भित्ति-स्तम्भ के विस्तार से भित्ति-विष्कम्भ का विस्तार दुगुना, तीन गुना, चार गुना, पाँच गुना या छः गुना रखना चाहिए । स्तम्भ-स्थापन-विधि के ज्ञाता अधिष्ठान के ऊपर स्तम्भ के स्थापन के समय होम करने का विधान बतलाते है ॥७-८॥

स्तम्भ के भेद - प्रतिस्तम्भ के प्रति के ऊपर एवं उत्तर (भित्ति) के नीचे निर्मित किया जाता है । जन्म (अधिष्ठान का एक भाग) के ऊपर स्तम्भ को स्थापित किया जाता है एवं उसकी चौड़ाई उसकी ऊँचाई के तीसरे भाग के बराबर होती है ॥९॥

(निखातस्तम्भ के लिये) गहरा गर्त बनाकर उसके ऊपर तल का निर्माण किया जाता है (पुनः स्तम्भ-स्थापन होता है) । पादुक से लेकर उत्तर-भित्ति के मध्य में स्थित इस स्तम्भ का निखातस्तम्भ कहते है ॥१०॥

अधिष्ठान से प्रारम्भ होकर उत्तरभित्ति के मध्य में स्थिर स्तम्भ को झषाल स्तम्भ कहते है । यह स्तम्भ मूल की अपेक्षा ऊर्ध्व भाग में छः-बारह भाग कम चौड़ा होता है ॥११॥

(बारह मञ्जिल के भवन में) भूतल में स्तम्भ की चौड़ाई उसकी ऊँचाई का छठवाँ भाग होना चाहिये । ऊपर के तलों में भी स्तम्भों की ऊँचाई एवं चौड़ाई में यही अनुपात होना चाहिये ॥१२॥

मुल से लेकर ऊपर तक चौकोर तथा कुम्भ एवं मण्डि से युक्त स्तम्भ को ब्रह्मकान्त कहा जाता है तथा आठ कोण वाले स्तम्भ को विष्णुकान्त कहते है ॥१३॥

षट्कोण वाला स्तम्भ इन्द्रकान्त संज्ञक होता है । सोलह कोण वाला स्तम्भ सौम्य कहलाता है । (कोण वाले स्तम्भों मे) मूल में चौकोर होता है । इसके पश्चात अष्टकोण, षोडशकोण अथवा वृत्ताकार होता है । इसकी संज्ञा पूर्वास्त्र होती है । वृत्ताकार स्तम्भ यदि कुम्भ एवं मण्डि से युक्त हो तो उसकी संज्ञा रुद्रकान्त होती है ।॥१४-१५॥

यदि स्तम्भ की लम्बाई विस्तार से दुगुनी हो, मध्य में अष्टकोण एवं ऊपर तथा नीचे चौकोर हो तथा कुम्भ एवं मण्डि से रहित हो तो उसे 'मध्ये अष्टास्त्र' कहा जाता है ॥१६॥

रुद्रच्छन्द संज्ञक स्तम्भ (मूल से क्रमशः ऊपर की ओर) चतुष्कोण, अष्टकोण एवं वृत्ताकार होता है । पद्मासन संज्ञक स्तम्भ के मूल में पद्मासन की रचना की जाती है, जिसका प्रमाण डेढ़ दण्ड अथवा दो दण्ड ऊँचा एवं उसका दुगुना चौड़ा होता है । इसके ऊर्ध्व भाग में इच्छानुसार आकृति अथवा मण्डि का निर्माण करना चाहिये । ॥१७-१८॥

भद्रक संज्ञक स्तम्भ के मूल में पद्मासन, चक्रवाक की आकृति से युक्त दो मण्डि एवं मध्य में भद्र निर्मित होता है ॥१९॥

जिसके मूल में व्याल, गज, सिंह, एवं भूत आदि (अन्य प्राणी) अलंकृत हो एवं ऊपर इच्छानुसार आकृति का निर्माण किया गया हो, उस स्तम्भ को उसके अलङ्कार के अनुसार संज्ञा दी जाती है ॥२०॥

जिस स्तम्भ पर लम्बाई में हाथे का सूँड़ निर्मित हो एवं कुम्भ तथा मण्डि से युक्त हो, उसे शुण्डपाद स्तम्भ कहते है ॥२१॥

शुण्डपाद में जब पूरे स्तम्भ में मोतियाँ उत्कीर्ण होती है तो उसे पिण्डिपाद कहते है । (चित्रखण्ड संज्ञक स्तम्भ के) अग्र भाग (ऊपरी भाग) में दो दण्ड से चौकोर निर्मित होता है । उसके नीचे आधे दण्ड से अष्टकोण पद्म होता है । उसके नीचे एक दण्ड माप का सोलह कोण पद्म तथा उसके नीचे एक दण्डप्रमाण का चौकोर मध्य पट्ट होता है । इसके पश्चात् (नीचे) पहले के सदृश षोडश कोण पद्म निर्मित होता है । मूल में शेष भाग चौकोर होता है । इस स्तम्भ को चित्रखण कहते है । इसी में यदि मध्य पट्ट अष्टकोण हो तो उसे श्रीखण्ड स्तम्भ कहते है ॥२२-२३-२४-२५॥

उपर्युक्त स्तम्भ में यदि मध्य पट्ट सोलह कोण हो तो उसकी संज्ञा श्रीवज्र होती है । (क्षेपण स्तम्भ के) अग्र भाग की आकृति चौकोर होती है । जिसमें तीन पट्ट से युक्त क्षेपण निर्मित होता है, उसे क्षेपण स्तम्भ कहते है । इसके पट्ट पत्र आदि से अलंकृत होते है । उसके नीचे तीन अथवा चार भाग मे शिखा का मान रक्खा जाता है । सभी स्तम्भ पोतिका से युक्त एवं विभिन्न प्रकार की आकृतियों से सुसज्जित होते है ॥२६-२७॥

<u>दण्डलक्षण</u>

दण्ड का लक्षण - स्तम्भ के अग्र (ऊर्ध्व) भाग की चौड़ाई को दण्ड कहते है । भवन के सभी भागों का प्रमाण दण्डमान से मापा जाता है ॥२८॥

कलश के लक्षण - कलशों के नाम क्रमशः श्रीकर, चन्द्रकान्त, सौमुख्य एवं प्रियदर्शन है । इनका माप (चौड़ाई में) सवा दण्ड, डेढ़ दण्ड, पौने दो दण्ड तथा दो दण्ड एवं इसके दुगुना ऊँचा होता है ॥२९-३०॥

स्तम्भ के ऊर्ध्व भाग से पोतिका, खण्ड, मण्डि, कुम्भ, स्कन्ध, पद्म एवं मालास्थान का क्रमशः निर्माण करना चाहिये ॥३१॥

कुम्भ की ऊँचाई के नौ भाग करने चाहिये । इसमें एक भाग से धृग, चार भाग से कमल, एक भाग से कण्ठ, एक भाग से मुख, एक भाग से पद्म, आधा भाग से वृत्त एवं आधा भाग से दो हीरकों का निर्माण करना चाहिये । हीरकों का व्यास स्तम्भ की चौड़ाई के बराबर एवं मुख उसके कर्ण तक विस्तृत होना चाहिये ॥३२-३३॥
कर्ण फलक के बराबर चौड़ा होना चाहिये एवं कर्ण के बराबर कुम्भ का विस्तार रखना चाहिये अथवा फलक का विस्तार चार दण्ड या तिन दण्ड होना चाहिये ॥३४॥
अथवा साढ़े तीन दण्ड विस्तार होना चाहिये एवं उसकी ऊँचाई तीन दण्ड रखनी चाहिये । ऊँचाई को तीन बराबर भागों में बाँटना चाहिये । ऊर्ध्व भाग की निर्मिति (उत्सन्धि) एक भाग से करनी चाहिये ॥३५॥
एक भाग से वेत्रं एवं एक भाग से अन्दर की ओर मुड़ा पद्म होना चाहिये । वह कुम्भ स्तम्भ की आकृति के समान वेत्र से नागवक्त्र के आकार का होना चाहिये ॥३६॥
स्तम्भ के विस्तार के समान धृक्, कण्ठ एवं वीरकाण्ड का विस्तार रखना चाहिये । सभी स्तम्भों का वीरकाण्ड चौकोर होना चाहिये ॥३७॥
उसकी (वीरकाण्ड की) ऊँचाई से पौन भाग कम (एक चौथाई अथवा) एक दण्ड ऊँचा स्कन्ध होना चाहिये । उसके नीचे उसके आधे माप का पद्म होना चाहिये, जो पत्रों से अलंकृत हो । उसके नीचे माला-स्थान होना चाहिये, जो दण्डप्रमाण ऊँचा हो ॥३८॥
पोतिका
पोतिका (स्तम्भ का ऊपरी भाग, जो स्तम्भ से बाहर निकला हो) का विस्तार स्तम्भ के विस्तार के बराबर होना चाहिये एवं उसकी ऊँचाई भी विस्तार के बराबर होनी चाहिये ॥३९॥
उत्तम पोतिका की चौड़ा पाँच दण्ड एवं उसकी ऊँचाई की आधी होनी चाहिये । कनिष्ठ पोतिका की चौड़ाई तीन दण्ड एवं मध्यम पोतिका की चौड़ाई तीन भाग कम चार दण्ड होनी चाहिये । (स्तम्भ का) पूर्वोक्त प्रमाण मण्डी एवं कुम्भ के साथ चार गुना हो जाता है ॥४०-४१॥
(मण्डी, कुम्भ आदि से रहित) केवल स्तम्भ का माप तिन गुना होता है । सभी पादों का यथोचित माप वर्णित किया गया है ॥४२॥
पोतिका की ऊँचाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर पोतिका के ऊपर अग्रपट्टिका निर्मित होती है । इसका छायामान आधा, दो-तिहाई अथवा तीन-चौथाई होना चाहिये ॥४३॥
तीन भाग अथवा चौथे भाग में तरङ्ग-स्थान (लहरों की रचना) होना चाहिये । यह क्षुद्र-क्षेपण, मध्य पट्ट एवं पट्टो से अलंकृत होना चाहिये ॥४४॥
सभी लहरें सम एवं एक-दुसरे से हीन नही होती है । इनका अग्र भाग एवं निष्क्राम (प्रथम छोर से अन्तिम छोर) अपने विस्तार का आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये ॥४५॥
इसके ऊर्ध्व भाग में सर्प की कुण्डली के सदृश मुष्टिबन्ध होना चाहिये, जो नालियों के सहित समतल एवं नाटकों (नाट्य चित्रों) से युक्त हो ॥४६॥
पोतिका के ऊर्ध्व भाग में भूत (जीव-जन्तु), गज, मकर एवं व्याल आदि का अलङ्करण होना चाहिये । पोतिका का मध्य पट्ट दोनों पार्श्वों मे स्तम्भ के समान विस्तृत होना चाहिये ॥४७॥
जिस पोतिका की अग्रस्थ पट्टिका (ऊपरी पट्टी पर) रत्नजटित लता अङ्कित हो अथवा अनेक प्रकार के चित्रों से जिसकी सज्जा की गई हो, उसे चित्रपोतिका कहते है ॥४८॥

विभिन्न प्रकार के पत्रों से अलंकृत पोतिका को पत्रपोतिका कहते हैं । जिस पोतिका में सागर के लहरों के सदृश लहरें निर्मित हो, वह तरङ्गिणी पोतिका होती है । इन लहरों की संख्या चार, छः, आठ, दश या बारह होनी चाहिये । अथवा बहुत सी सम संख्याओं में लहरे होनी चाहिये, जो एक-दूसरे से आगे बढ़ती हुई हो ॥४९-५०॥

स्तम्भ के विषय में विशेष - भित्ति के स्तम्भ का निर्गम इस प्रकार होना चाहिये - यदि चतुष्कोण हो तो चौथाई, अष्टकोण हो तो आधा तथा वृत्ताकार हो तो तीन चौथाई ॥५१॥

स्तम्भान्तर दो हाथ से लेकर चार हाथ तक कहा गया है । छः-छः अङ्गुल की वृद्धि करते हुये इसके नौ भेद कहे गये हैं ॥५२॥

सभी स्थानों पर सभी भवनों मे यथोचित अंश (उपर्युक्त मापों में से) ग्रहण कर स्तम्भ एवं स्तम्भान्तर में प्रयोग करना चाहिये ॥५३॥

यदि स्तम्भ-स्थापन नियमानुकूल न हो तो वह भूमि एवं भवन (तथा उसके स्वामी) का विनाश करने वाला होता है । अनुकूल स्तम्भ-स्थापन कल्याण प्रदान करता है ॥५४॥

जितना विस्तृत काष्ठस्तम्भ होता है, उतना विस्तृत, उसका आधा, दुगुना या तीन गुना विस्तृत प्रस्तरस्तम्भ हो सकता है; किन्तु इसका प्रयोग केवल देवालय में होना चाहिये, मनुष्यालय मे नही होना चाहिये ॥५५॥

प्राचीन मनीषियों ने सभी स्तम्भों को ईट, प्रस्तर अथवा काष्ठ से निर्मित कहा है । देवगृहोंमे स्तम्भ की संख्या सम अथवा विषम हो सकती है; किन्तु मनुष्यों के गृह में स्तम्भों की संख्या विषम होनी चाहिये ॥५६॥

जिस प्रकार आजुसूत्र (मापसूत्र) हो, उसी के अनुसार अन्तःस्तम्भ एवं बहिःस्तम्भ का निर्माण करना चाहिये । उसी के अनुसार गृह की भित्ति के मध्य शालाओं की भी स्थिति होनी चाहिये ॥५७॥

यह माप देवालयों मे स्तम्भ के बाहर से लिया जाता है । (किन्तु) शयन एवं आसन के निर्माण में पाद (पाये = स्तम्भ) के अन्दर से लिया जाता है । (प्रासादों के निर्माण में ऊँचाई का माप) कुछ विद्वानों के अनुसार उपान से शिरःप्रदेश तक माप लेना चाहिये तथा कुछ के मतानुसार मापन कार्य प्रासाद की स्तूपी तक होना चाहिये । ॥५८॥

सभी स्थानों पर प्रासादों की ऊँचाई का माप इसी प्रकार लेना चाहिये, ऐसा मुनियों का मत है । सभागार एवं मण्डप में स्तम्भों के बाहर से अथवा स्तम्भ के मध्य से माप-सूत्र ले जाना चाहिये ॥५९॥

भवनों में मानसूत्र बाहर (भित्ति अथवा स्तम्भ के बाहर) से, भीतर से एवं मध्य से प्रयुक्त होना चाहिये । इस प्रकार का (विविध प्रकार से मानसूत्र का) प्रयोग सभी सम्पदाओं को प्रदान करने वाला होता है । इसके विपरीत (मानसूत्र द्वारा भली-भाँति मापन न करने पर) होने पर गृहस्वामी के लिये विपत्तिकारक होता है, ऐसा शास्त्रों का मत है ॥६०॥

द्रव्यपरिग्रहः

पदार्थों का संग्रह - स्तम्भ एवं उत्तर (स्तम्भ के ऊपर निर्मित भित्ति) आदि अङ्गों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य काष्ठ, प्रस्तर एवं ईटे है ॥६१॥

वृक्षलक्षण

वृक्ष के लक्षण - (भवनों में प्रयुक्त होने वाले काष्ठ के गुण-धर्म इस प्रकार है-) स्निग्धसार (ठोस एवं चिकना), महासार (अत्यन्त दृढं) न ही बहुत पुराना तथा न ही अपरिपक्व हो, टेढ़ा न हो तथा वृक्ष में किसी प्रकार का चोट एवं दोष न हो; ऐसा वृक्ष गृहनिर्माण में ग्रहण करने योग्य होता है ॥६२॥

पवित्र स्थल, पर्वत, वन एवं तीर्थों मे स्थित, देखने में सुन्दर तथा मन को आकृष्ट करने वाले वृक्ष सभी प्रकार की सम्पत्ति एवं समृद्धि प्रदान करने वाले होते है, इसमेम सन्देह नही है ॥६३॥

स्तम्भ में प्रयोग के योग्य वृक्ष इस प्रकार है - पुरुष, कत्था, साल, महुआ, चम्पक, शीशम, अर्जुन, अजकर्णी, क्षीरिणी, पद्म, चन्दन, पिशित, धन्वन, पिण्डी, सिंह, राजादन, शमी एवं तिलक । इसी प्रकार निम्ब, आसन, शिरीष, एक, काल, कट्फल, तिमिस, लिकुच, कटहल, सप्तपर्णक, भौमा एवं गवाक्षी के वृक्ष भी ग्रहण करने योग्य होते है ॥६४-६५-६६॥

शिलालक्षणम्

शिला के लक्षण - शुभ शिला एक रंग की, दृढ़, (किन्तु छूने पर) चिकनी, छूने पर अच्छी लगने वाली, भूमि में गड़ी होने पर पूर्वमुख अथवा उत्तर की ओर मुख वाली होती है ॥६७॥

इष्टकालक्षण

ईटो के लक्षण - इष्टकाये स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग, एवं नपुंसक लिङ्ग की होती है । इन्हे दोषहीन, घनी (जिसमें मिट्टी खूब दबा कर बैठायी गई हो), आग मे चारो ओर समान रूप से पकी हो, (बजाने पर) सुन्दर स्वर वाली, दरार, टूटन तथा छिद्ररहित होनी चाहिये । (ये लक्षण) स्त्रीलिङ्ग, एवं पुँल्लिङ्ग (दोनो) इष्टकाओं के लिये कहे गये है ॥६८-६९॥

इस प्रकार के इन पदार्थो से निर्मित भवन निश्चित रूप से धर्म, अर्थ एवं काम के सुख को प्रदान करने वाला होता है ॥७०॥

वर्ज्या वृक्षाः

त्याज्य वृक्ष - गृहनिर्माण में त्याज्य वृक्ष इस प्रकार है - देवालय के निकट स्थित वृक्ष, शस्त्रादि से आहत वृक्ष, आकाशीय बिजली से जला हुआ वृक्ष, वन की अग्नि से जला हुआ तथा प्रेतस्थल पर उगा हुआ वृक्ष (भवन के काष्ठ के लिये) ग्राह्य नही होता है ॥७१॥

प्रधान मार्ग पर उगा हुआ वृक्ष, ग्राम में उत्पन्न वृक्ष, घट के जल से सिञ्चित वृक्ष तथा पक्षियों एवं पशुओं से सेवित वृक्ष गृहनिर्माण के लिये ग्राह्य नही होता है ॥७२॥

वायु द्वारा तोड़ा गया, गजों द्वारा तोड़ा गया, समाप्त जीवन वाला, चण्डालवर्ग के लोगों को शरण देने वाला तथा जिस वृक्ष के नीचे (चण्डालवर्ग को छोड़ कर) अन्य सभी वर्ग के लोग शरण लेते हो (इस वर्ग के वृक्ष भी भवन के लिये अग्राह्य होते है) ॥७३॥

दो वृक्ष आपस में लिपटे हुये हो, टूटे हो, दीमक लगे हो, उस वृक्ष से घनी लता लिपट हो तथा उस वृक्ष पर पक्षियों के घोसले हो इस प्रकार के वृक्ष भवन के लिये अग्राह्य होते है ॥७४॥

जिस वृक्ष के सभी अङ्गो पर अङ्कुर निकले हो, भ्रमरो तथा कीटों से दोषयुक्त, विना समय फलने वाले तथा श्मशान के समीप उगे वृक्ष (गृहनिर्माण के लिये) ग्राह्य नही होते है ॥७५॥

सभागार एवं चैत्य (ग्राम का पूजनीय स्थल) के समीप तथा देवालय के समीप उगे वृक्ष तथा वापी, कूप एवं तालाब आदि निर्माण-स्थलों पर उगे वृक्ष भी (भवन निर्माण के लिये) ग्राह्य नही होते है ॥७६॥

अग्राह्य वृक्षादि से निर्मित पदार्थ (जब भवन मे प्रयुक्त होते है तो) सभी प्रकर की विपत्तियों के कारक बनते है । इसलिये प्रयत्नपूर्वक शुद्ध पदार्थों को ही लेना चाहिये ॥७७॥

प्रस्तर का प्रयोग देवालय, ब्राहमण, राजा तथा पाषण्डियों (विधर्मी) के गृह में होना चाहिये; किन्तु वैश्य एवं शूद्र के भवन में नही करना चाहिये ॥७८॥

यदि उस प्रकार का (वैश्य एवं शूद्र के भवन में शिलाप्रयोग) भवन निर्मित किया गया तो वह धर्म, काम एवं अर्थ का नाश करता है । एक पदार्थ से निर्मित भवन की संज्ञा 'शुद्ध' दो द्रव्य से निर्मित भवन 'मिश्र' तथा तीन द्रव्य-मिश्रित पदार्थ से निर्मित भवन की संज्ञा 'सङ्कीर्ण' होती है । पहले वर्णित नियमों के अनुसार निर्मित भवन सम्पत्ति प्रदान करता है ॥७९-८०॥

वृक्षसंग्रहण

काष्ठ हेतु वृक्ष का संग्रह - (गृहनिर्माण हेतु काष्ठ के संग्रह के लिये) पदार्थों की कामना रखने वाले (गृहस्वामी) को शुभ कृत्य करके सर्वद्वारिक नक्षत्र में शुभ (शुक्ल) पक्ष में एवं शुभ मुहूर्त मे वन की ओर प्रस्थान करना चाहिये ॥८१॥

अच्छे लक्षणों वाले शकुनों एवं मङ्गलध्वनि के साथ वनदेवताओं एवं सभी अभीष्ट वृक्षों की गन्ध, पुष्प, धूप, मांस, खिचड़ी, दूध, भात, मछली एवं विविध प्रकार की भोज्य सामग्रियों से पूजा करनी चाहिये ॥८२-८३॥

(वृक्षों में निवास करने वाले) भूतों (प्रेत, पिशाच, ब्रहम आदि) के लिये क्रूर बलि (रक्त, मांस आदि) देकर अपने कार्य के अनुकूल वृक्ष का चयन करना चाहिये । ये वृक्ष जड़ से शिरोभाग तक सीधे, गोलाकार एवं अनेक शाखाओं से युक्त होने चाहिये ॥८४॥

उपर्युक्त वृक्ष 'पुरुष' होते है । जो वृक्ष मूल में स्थूल एवं ऊर्ध्व भाग में पतले होते है, वे 'स्त्री' वृक्ष हैं तथा जिनका मूल कृश एवं ऊर्ध्व भाग स्थूल हो, वे वृक्ष 'षण्ड' (नपुंसक) होते है ॥८५॥

'मुहूर्तस्तम्भ' (शिलान्यास के स्थान पर स्थापित होने वाला स्तम्भ) पुरुष वृक्ष का होना चाहिये । गृह के अन्य भागों के लिये पुरुष, स्त्री एवं षण्ड तीनों वृक्षों का प्रयोग हो सकता है ॥८६॥

(काष्ठानयन के लिये गये व्यक्ति को) बुद्धिमान एवं पवित्र व्यक्ति (स्थपति) को वृक्ष के नीचे पूर्व दिशा में कुश बिछा कर एवं अपने दाहिने भाग में परशु रख कर रात्रि में वही शयन करना चाहिये ॥८७॥

इसके पश्चात रात्रि (शेष रहने पर) शुद्ध जल पीकर पश्चिमाभिमुख होकर सुन्दर वेष धारण कर हाथ में परशु लेकर स्थपति को इस प्रकार मन्त्रपाठ करना चाहिये ॥८८।

अयं मन्त्रः-

इस वृक्ष से भूत-प्रेत, देवता, गुहयक आदि दूर हो जायँ । हे वृक्षों! आपको सोम देवता बल प्रदान करें ॥८९॥

हे वृक्षों, देवों एवं उनके साथ गुहयकों! (हमारा) कल्याण हो । मैं अपना (इन काष्ठों से गृहनिर्माणरूपी) कार्य सिद्ध करना चाहता हूँ । आप दूसरे स्थान पर निवास ग्रहण करें ॥९०॥

इस प्रकार मन्त्र बोल कर पवित्र स्थपति वृक्षों को प्रणाम करके दूध, तेल एवं घी से परशु (फरसा, कुल्हाड़ी) के मुख (धार) को भली)भाँति तेज करे ॥९१॥

(परशु को तेज करके) उस अभीष्ट वृक्ष के पास उसे काटने के लिये जाना चाहिये । उस वृक्ष के मूल से एक हाथ छोड़कर तीन बार (परशु द्वारा) छेद कर उसका निरीक्षण करना चाहिये ॥९२॥

कटे स्थान से यदि जल बहे तो वह वृक्ष गृहस्वामी को वृद्धि प्रदान करता है । यदि दूध का स्त्राव हो तो पुत्रों की वृद्धि प्रदान करने वाला तथा रक्त का (लाल वर्ण का स्त्राव) स्त्राव गृहस्वामी को मृत्यु प्रदान करने वाला होता है । ऐसे वृक्ष को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये ॥९३॥

कटे वृक्ष के गिरने के समय यदि सिंह, शार्दूल एवं गज के स्वर सुनाई पड़े तो शुभ होता है । इसके विपरीत विद्वानों ने रोदन, हँसने, आक्रोशपूर्ण एवं गुञ्जन के स्वर को निन्दनीय कहा है ॥९४॥

वृक्ष यदि पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर गिरे तो दोनो दिशायें शुभ होती है । अन्य दिशाओं में वृक्ष का पतन विपरीत परिणाम प्रदान करता है ॥९५॥

यदि साल, अश्मरी एवं अजकर्णी वृक्षों का ऊर्ध्व भाग गिरे तो शुभ; किन्तु यदि पतन होते समय ऊपरी भाग नीचे एवं पृष्ठ या मूल भाग ऊपर होकर गिरे तो गृहस्वामी के बन्धु-बान्धवों एवं परिचारोंका विनाश होता ॥९६॥

काटने के पश्चात अन्य वृक्षो के मध्य गिरता हुआ वृक्ष यदि अन्य वृक्षों के शीर्ष भाग से सहारा पाकर गिरने से रुक जाता है तो गृहस्वामी का विनाश होता है तथा जड़ के सहारे रुकने पर गृहस्वामी के अस्वास्थ्य का कारण बनता है ॥९७॥

यदि वृक्ष का मध्य भाग टूट जाय तो वृक्ष काटने वाले का नाश होता है तथा शीर्ष भाग के टूटने पर सन्तति का नाश होता है । वृक्षों का एक-दूसरे पर गिरना (एक वृक्ष के ऊपर दूसरे कटे वृक्ष का गिरना) प्रशस्त होता है । वृक्षों के दोनों भागों को बराबर काटना चाहिये ॥९८॥

(कटे वृक्ष के दोनों छोरों को बराबर काट कर) काष्ठ को चौकोर एवं सीधा बनाना चाहिये तथा उसे मुहूर्तस्तम्भ के लिये ग्रहण करना चाहिये । तत्पश्चात उस काष्ठ को श्वेत वस्त्र से ढँककर स्यन्दन (रथ, गाड़ी) मे रखना चाहिये ॥९९॥

देवों, ब्राह्मणों, राजाओं एवं वैश्यों का काष्ठ शकट (गाड़ी) द्वारा ले लाया जाना चाहिये तथा बुद्धिमान व्यक्ति को शूद्र के गृह का काष्ठ पुरुष के कन्धों द्वारा ढ़ोकर ले जाना चाहिये ॥१००॥

वृक्षों (काष्ठों) को लिटा कर दोनों पार्श्वों से शकट में रखना चाहिये । स्थपति द्वारा चुने गये वृक्षों को प्रशस्त द्वारा द्वारा (कर्ममण्डप में) प्रवेश कराना चाहिये ॥१०१॥

कर्ममण्डप (कार्यशाला) में वृक्षों का प्रवेश कराकर उन्हें बालू पर लिटा देना चाहिये । उनका शीर्ष भाग पूर्व अथवा उत्तर की ओर होना चाहिये । इनके सूखने तक इनकी रक्षा करनी चाहिये ॥१०२॥

छः मासों तक इन वृक्षों को अपने स्थान से नहीं हिलाना चाहिये । इसी प्रकार सभी इन्द्रकीलों (कीलों) को भी प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये ॥१०३॥

अन्य धातु आदि पदार्थों का संग्रह करके उन्हें भी इसी प्रकार करना चाहिये । ॥१०३॥

<u>मुहूर्तस्तम्भ</u>

मुहूर्त-स्तम्भ - देवों एवं द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के मुहूर्तस्तम्भ (का काष्ठ) क्रमशः इस प्रकार होता है- कार्तमाल, खदिर, खादिर, मधूक एवं राजादन । इनका विस्तार एवं लम्बाई क्रमशः इस प्रकार वर्णित है ॥१०४-१०५॥

इनकी ऊँचाई (या लम्बाई) बारह, ग्यारह, दश या नौ वितस्ति (बित्ता) एवं विस्तार भी इतने ही अंगुल का होता है । इसके अग्र भाग (शीर्ष भाग) का विस्तार दश भाग कम होता है ॥१०६॥

गर्त में रहने वाले मूल भाग की चौड़ाई पाँच, साढ़े चार, चार या तीन बित्ता होनी चाहिये । अथवा स्तम्भ की ऊँचाई एवं चौड़ाई भवन के तल के अनुसार रखनी चाहिये ॥१०७॥

झषालाङ्घ्रि स्तम्भ में सभी स्थानों पर गर्त का परित्याग करना चाहिये ॥१०७॥

अश्वत्थ (पीपल), उदुम्बर (गूलर), प्लक्ष (पाकड़), वट (बरगद), सप्तपर्ण, बिल्व (बेल), पलाश, कुटज, पीलु, श्लेष्मातकी (लिसोढ़ा), लोध्र, कदम्ब, पारिजात, शिरीष, कोविदार (कचनार), तिन्त्रिणी, महाद्रुम, शिलीन्ध्र, सर्पमार, शाल्मली (सेमल), सरल (चीड़), किंशुक, अरिमेद, अभया, अक्ष, आमलकद्रुम, कपित्थ (कैथा), कण्टक, पुत्रजीव, डुण्डुक, कारस्कर, करञ्ज, वरण, अश्वमारक, बदर, बकुल, पिण्डी, पद्मक, तिलक, पाटली, अगरु तथा कपूर के वृक्षों का प्रयोग गृहनिर्माण मे नही करना चाहिये । ये सभी वृक्ष देवों के योग्य है; लेकिन मनुष्यों लिये अनर्थकारक होते है । इसलिये मनुष्यों के गृह-निर्माण के लिये इनको प्रयत्नपूर्वक नहीं ग्रहण करना चाहिये अर्थात इन वृक्षकाष्ठों का परित्याग कर देना चाहिये ।॥१०८-१०९-११०-१११-११२-११३॥

<u>इष्टकासंग्रहणम</u>

ईंटों का संग्रह - (मृत्तिका चार प्रकार की होती है-) ऊषर (लोनी, नमकीन), पाण्डुर (सफेद), कृष्ण-चिक्कण (काली और चिकनी) एवं ताम्रपुल्लक (लाल वर्ण की खिली हुई) ॥११४॥

मृत्तिकायें चार प्रकार की होती है । इनमें ताम्रपुल्लक मृत्तिका इष्टकादि के लिये ग्रहण करने योग्य होती है । इसमें कंकड़, पत्थर, जड़ एवं अस्थि के टुकड़े नही होने चाहिये; साथ ही इसमें महीन बालू होना चाहिये ॥११५॥

यह मृत्तिका एक रंग की एवं छूने में सुखद होनी चाहिये । लोष्ट (टाइल्स) एवं ईट के निर्माण के लिये (गर्त में) घुटने के बराबर जल में मिट्टी डालनी चाहिये ॥११६॥

मिट्टी एवं पानी को अच्छी तरह से मिलाकर पैरों से चालीस बार उनका मर्दन करना चाहिये । इसके पश्चात क्षीरद्रुम, कदम्ब, आम, अभया एवं वृक्ष के छाल के जल से एवं त्रिफला के जल से सिञ्चित कर तीस बार मर्दन करना चाहिये अर्थात पैरों से सानना चाहिये ॥११७॥

(उपर्युक्त विधि से तैयार की गई मिट्टी से) चार, पाँच, छः या आठ अङ्गुल चौड़ी, चौड़ाई की दुगुनी लम्बी तथा चौड़ाई की चतुर्थांश, आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर मोटी ईटो का निर्माण करना चाहिये । इनकी मोटाई एक छोर से दूसरे छोर तक बराबर होती है । ईटों को पूर्ण रूप से सुखाकर पुनः इन्हें समान रूप से पकाया जाता है ॥११८-११९॥

इसके पश्चात एक, दो, तीन या चार मास बीत जाने पर बुद्धिमान (स्थपति) को ईटों को यत्नपूर्वक जल में डाल कर पुनः जल से निकालना चाहिये । जब ईटे सूख जायँ तब इच्छित निर्माणकार्य मे इनका प्रयोग करना चाहिये ॥१२०॥

इस प्रकार विधिपूर्वक वृक्ष (काष्ठ), ईट एवं शिला आदि लेकर भवननिर्माण करना चाहिये । श्रेष्ठ जन ऐसे भवन को समृद्धिदायक कहते है । जो पदार्थ निन्दित है अथवा दूसरे भवन से लिये गये है (पुरने भवन से निकले ईट, काष्ठ आदि), उनसे निर्मित भवन नष्ट हो जाते है तथा (गृहस्वामी के लिये) विपत्ति के कारण बनते है, ऐसा प्राचीन जनों का मत है ॥१२१॥

स्तम्भों की लम्बाई, मोटाई एवं आकारों का वर्णन उनके अलङ्कार एवं सज्जासहित क्रमानुसार किया गया है । मनुष्यों एवं देवों के गृह में विधिपूर्वक इनका प्रयोग सम्पत्ति प्रदान करता है, ऐसा मय द्वारा वर्णित है ॥१२२॥

मयमतम् - अध्याय १६

प्रस्तर-निर्माण -

मैं (मय ऋषि) सभी प्रकार के भवनों के अनुरूप उत्तर से प्रारम्भ कर वृति (प्रति) पर्यन्त प्रसात (प्रस्तर) के अंगों का सम्यक् रूप से क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ ॥१॥

उत्तरवाजनौ

उत्तर एवं वाजन - उत्तर (स्तम्भ के ऊपर की भिति) तीन प्रकार का होता है । प्रथम की चौड़ाई स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये एवं उसकी ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये । दुसरे उत्तर की ऊँचाई चौड़ाई से तीन चौथाई अधिक होनी चाहिये एवं तीसरे उत्तर की ऊँचाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये ॥२॥

इन तीनों उत्तरों की संज्ञा खण्डोत्तर, पत्रबन्ध एवं रूपोत्तर है । इनका कर्णनिर्गम (कोणों पर निकली निर्मिति) तीन चौथाई, तीन भाग कम अथवा आधा होना चाहिये । ॥३॥

उत्तर से वृति (अथवा प्रति) के मध्य होने वाले निवेश स्वस्तिक, वर्धमान, नन्द्यावर्त अथवा सर्वतोभद्र आकृति के होते है ॥४॥

वाजन के तीसरे अथवा चौथे भाग से चार कोणों वाले एवं ऊपरी भाग में पर्ण से युक्त निर्गम का प्रारम्भ होना चाहिये । निर्गम के ऊपर मुष्टिबन्ध निर्मित होना चाहिये । ॥५॥

वाजन के ऊपर मुष्टिबन्ध तुलाच्छेद के द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से निर्मित होना चाहिये । स्तम्भ की चौड़ाई का आधा चौड़ा एवं अपनी चौड़ाई का आधा मोटा अम्बुजपट्ट निर्मित होना चाहिये । वाजन के नीचे वाली से युक्त दण्डनिर्गम का निर्माण होना चाहिये ॥६॥

उसके ऊपर मूल एवं ऊर्ध्व भाग में शिखा से (चूल) युक्त प्रमालिका निर्मित होती है । यह स्तम्भ के व्यास के बराबर ऊँची एवं उसके तीसरे या चौथे भाग के बराबर मोटी होती है । साथ ही हाथी के सूँड के समान आकृति वाली कुम्भ एवं मण्डि से युक्त होती है ॥७-८॥

उसके ऊपर दण्डिका होती है । यह स्तम्भ की आधी चौड़ी, चौड़ाई की आधी मोटी एवं एक दण्ड माप की होती है । इसका निष्क्रम नीव्र का आधा होता है । इसकी आकृति मुष्टिबन्ध के समान चौकोर होती है ॥९॥

वलयं गोपानञ्च

इसके ऊपर ऊँचाई पर इच्छानुसार चौड़ा एवं ऊँचा वलय होना चाहिये । उसके ऊपर गोपान तथा उसके ऊपर क्षेपणाम्बुज पट्टिका होती है, जो मुष्टिबन्ध के समान विस्तृत एवं ऊँची होती है ॥१०-११॥

यह पट्टिका दण्डिका के ऊपर छील-काट कर लगाई जाती है । उसके ऊपर उसके प्रमाण के अनुसार काट कर बुद्धिमान (स्थपति) को गोपान निर्मित करना चाहिये ॥१२॥

उत्तर के अन्तिम भाग में इच्छानुसार युक्तिपूर्वक अवलम्ब निर्मित करना चाहिये । वाजन अथवा तुला के ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को गोपान लगाना चाहिये ॥१३॥

जितना (भित्ति से) तुला का अन्तर होता है, उतना ही अन्तर गोपान का भी होना चाहिये । गोपान यदि दण्डिका के ऊपरी भाग में निर्मित हो तो वाजन के अन्तिम भाग में अवलम्बन होना चाहिये ॥१४॥

गोपान के ऊपर दण्ड का आधा चौड़ा एवं चौड़ाई का आधा मोटा कम्प निर्मित होना चाहिये । इसे वलयछिद्र अन्तर के बराबर अन्तर पर रखते हुये उसके समानान्तर निर्मित करना चाहिये ॥१५॥

कायपाद

दण्डिका एवं वाजन के बीच में पूर्वोक्त वर्णित भाग के अनुसार कायपाद (स्तम्भ को सहारा देने वाली कड़ी) लगाना चाहिये । यह स्तम्भ के विस्तार के बराबर होता है एवं उसका निष्क्रान्त उसके विस्तार के आधे का आधा होता है एवं अग्रपट्टी से युक्त होता है ॥१६॥

स्तम्भों के मध्य भाग को सार वृक्ष के काष्ट के फलकों (पटरों) से छा देना चाहिये । इसे दण्ड़ के आठवें भाग की मोटाई वाले फलकों से छाना चाहिये । इसके ऊपर गोपान के ऊपर धातुनिर्मित लोष्टकों (टाइल्स) से आच्छादन करना चाहिये । इसके साथ दो या तीन दण्ड माप की ऊँचाई पर निकली हुई कपोतपालिका निर्मित होनी चाहिये ॥१७-१८॥

छोटे भवन में एक हाथ की एवं बड़े भवन में दो हाथ की सुन्दरता के ल्ये चित्रयुक्त कर्णपालिका कपोत पर निर्मित करनी चाहिये । अथवा इसे भवन के मध्य भाग में प्रस्तर-निर्मित कर्णपालिका लगानी चाहिये ॥१९॥

वाजन के ऊपर भूत (प्राणी, पशु आदि) एवं हंस आदि की पंक्ति एक दण्ड या पौन दण्ड ऊँची होनी चाहिये । वाजन पूर्व के सदृश होना चाहिये । वहाँ आधे दण्ड या एक दण्ड माप का कपोतालम्बन होना चाहिये ॥२०-२१॥

कपोत की ऊँचाई से निकला निर्गम डेढ़ दण्ड से लेकर तीन द्ण्डपर्यन्त होता है । वाजन के ऊपर वसन्तक अथवा निद्रा निर्मित करनी चाहिये । यह उसके ऊपर पौन दण्ड ऊँची होनी चाहिये एवं कपोत की ऊँचाई पूर्ववर्णित रखनी चाहिये ॥२२॥

इस प्रकार पूर्वोक्त वर्णित भागों को प्रस्तर अथवा ईंटो से दृढ़ बनाना चाहिये । जिस वस्तु के प्रयोग से स्थिरता प्राप्त हो, उसी का प्रयोग बुद्धिमान (स्थपति) को करना चाहिये । कपोत की ऊँचाई के तीन भाग अथवा चतुर्थांश के बराबर क्षुद्रनिष्कृति (बाहर निकला भाग) बनाना चाहिये ॥२३-२४॥

कपोत के नीव्र के ऊपर नासिका (खिड़की के सदृश आकृति) होती है, जो कर्णिका (लता) की भाँति होती है । यह सवा दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड विस्तृत होती है ॥२५॥

इसके शीर्ष भाग की आकृति सिंह के कान के सदृश होती है । पट्टिक के अन्तिम भाग में स्वस्तिक की आकृति वाली पट्टिका होती है । नासिका के ऊपर नासिका निर्मित होनी चाहिये । इसके मूल भाग एवं ऊर्ध्व भाग का प्रमाण शोभा के अनुसार होना चाहिये । प्रतिवाजनक के ऊपर नासिका की ऊँचाई नहीं होनी चाहिये ॥२६-२७॥

प्रस्तर का ऊपरी भाग - प्रस्तर के ऊर्ध्व भाग की योजना इस प्रकार है - आलिङ्ग का माप पाद के चतुर्थांश माप का होता है एवं पादविनिर्गत (बाहर निकला भाग) भी चतुर्थांश माप का होना चाहिये । उन दोनों के मध्य में ऊर्ध्व भाग पर निष्क्रान्त स्थापित करना चाहिये ॥२८॥

दो स्तम्भों के मध्य, स्तम्भों के ऊपर स्तम्भ की ऊँचाई का त्रिपट्टाग्र (तीन पट्टियों की आकृति) निर्मित होनी चाहिये। उसके ऊपर प्रति का निर्माण करना चाहिये, जिसका माप एक दण्ड, तीन चौथाई अथवा आधा दण्ड होना चाहिये ॥२९॥

प्रतिवक्त्र संज्ञक भाग का माप प्रति के माप का तीन चौथाई, आधा, एक दण्ड, सवा दण्ड अथवा डेढ़ दण्ड रखना चाहिये ॥३०॥

उसके ऊपर उसकी गति का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। प्रति की रचना व्याल के सहित, सिंह के सहित, गज के सहित अथवा सीधी करनी चाहिये। ॥३१॥

इसके ऊपर इसकी ऊँचाई के तीसरे अथवा चौथे भाग से वाजन एवं निर्गम का प्रारम्भ करना चाहिये। ये समकर, चित्रखण्ड एवं नागवक्त्र - तीन प्रकार के होते है। ॥३२॥

नागवक्त्र आकृति में नाग के फण एवं स्वस्ति की आकृति में (नाग का) सिर निर्मित होता है। देवों एवं ब्राह्मणों के भवन में समकर प्रति का निर्माण करना चाहिये। ॥३३॥

(समकर प्रति) आकृति में चौकोर एवं शीर्षभाग में मकर निर्मित होता है। चित्रखण्ड प्रति राजाओं, व्यापारिओं (वैश्यों) एवं शूद्रों के (भवन के) अनुकूल होता है। इसकी आकृति अर्धचन्द्र के सदृश होती है। इसका शीर्षभाग गज की आकृति से युक्त होता है। इस प्रति का अग्र भाग चित्र की भाँति होता है; इसलिये इसे ककर, कर्कट, बन्ध अथवा अन्य संज्ञा से भी सम्बोधित करते है ॥३४-३५॥

वाजन के ऊपर (अथवा) वलीक के ऊपर भली-भाँति तुला (बीम) को स्थापित करना चाहिये। इसकी ऊँचाई एक दण्ड अथवा तीन चौथाई दण्ड होनी चाहिये तथा इसकी मोटाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये ॥३६॥

वलीक की लम्बाई तीन, चार या पाँच दण्ड होनी चाहिये। इसके अग्र भाग में नालियाँ, व्याल या बिन्दु होना चाहिये एवं इसका पार्श्व भाग तरङ्ग की भाँति होना चाहिये ॥३७॥

(उपर्युक्त वर्णन के अनुसार) वलीक होना चाहिये। वलीक के ऊपर वर्णपट्टिका का निर्माण करना चाहिये। इसका विस्तार आधा दण्ड एवं ऊँचाई विस्तार का आधा होना चाहिये। उसके मध्य भाग को फलकों द्वारा छेदरहित करना चाहिये। इसके ऊपर एक दण्ड ऊँची स्थिर तुला स्थापित करनी चाहिये। तुला का विस्तार तीन चौथाई दण्ड होना चाहिये। इसे द्वार की ओर उन्मुख होना चाहिये ॥३८-३९॥

तुला के ऊपर तुला की चौड़ाई के बराबर ऊँचाई वाली जयन्ती रक्खी जानी चाहिये। जयन्ती के ऊपर आधा दण्ड ऊँचा अनुमार्गक रखना चाहिये ॥४०॥

उसके ऊपर फलको को स्थापित करना चाहिये। इसकी मोटाई दण्ड के चौथे या छठवे भाग के बराबर होनी चाहिये। प्रस्तर एवं स्तम्भ के विस्तार को ईंटों एवं चूर्ण से जोड़ना चाहिये ॥४१॥

कराल, मुद्गि, गुल्मास, कल्क एवं चिक्कण (ये सभी ईंटो को जोड़ने एवं लेप में प्रयुक्त होते है) का प्रयोग करना चाहिये। उत्तर एवं वाजन पार्श्व में लगने चाहिये। ॥४२॥

तुला (की स्थापना) द्वार के अनुसार होनी चाहिये। जयन्ती (उसके ऊपर) तिरछी रक्खी जानी चाहिये। उसके ऊपर द्वार के अनुसार अनुमार्ग रक्खा जाना चाहिये। ॥४३॥

देवालय एवं राजभवन में तुला द्वार से तिरछी होनी चाहिये। वलीक एवं तुला के मध्य का अवकाश दो या तीन दण्ड होना चाहिये ॥४४॥

जयन्तियों के मध्य का अन्तर डेढ़ या ढ़ाई दण्ड होता है । उनके ऊपर एक-एक दण्ड के अन्तर पर रक्खे अनुमार्ग उनके मध्य के छिद्र को भर देते है ॥४५॥

इस प्रकार प्रस्त्र-क्रिय चित्र-विचित्र अङ्गो से निर्मित होती है । क्षुद्रं एवं तुला को इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि वे दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायँ ॥४६॥

रूप (आकृति) के साथ अथवा विना रूप के (प्रस्तर-प्रकल्पन में) सभी अङ्गों का प्रयोग करना चाहिये । तुला के ऊपर फलकों द्वारा आच्छादन करना चाहिये । अथवा ईंटों से आच्छादन करना चाहिये । शेष कार्य पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये ॥४७॥

प्रस्तर की ऊँचाई मसूर की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये एवं स्तम्भ की ऊँचाई से दश या आठ भाग कम होनी चाहिये । प्रस्तर की ऊँचाई एवं माप इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि भवन को दृढ़ता एवं सौन्दर्य प्रदान किया जा सके, ऐसा विद्वानों का मत है ॥४८॥

लेप

लेप-सामग्री - लेप के लिये यह मिश्रण तैयार किया जाता है - शहद, घृत, दही, दूध, उड़द का पानी, चमड़ा, केला, गुड़, त्रिफला एवं नारियल । इन्हें क्रमशः एक-एक भाग बढ़ाते हुये लेना चाहिये । इनमें एक सौ भाग चूना मिलाना चाहिये तथा इस मिश्रण में दुगुनी मात्रा में बालू मिलाना चाहिये ॥४९॥

युग्मायुग्ममान

सम एवं विषम मान - मनुष्यों के गृह में हस्त, स्तम्भ तथा तुला आदि का प्रयोग विषम संख्याओं में करना चाहिये; किन्तु देवालय में हस्त आदि का प्रयोग सम अथवा विषम संख्याओं में होता है ।

द्वार

देवता, ब्राह्मण एवं राजाओं के गृह में मध्य में द्वारस्थापन निन्दनीय नही है; किन्तु अन्य वर्ण वालों के लिये द्वार मध्य के पार्श्व में शुभ होता है ॥५०॥

वेदि

प्रति के ऊपर वेदि का निर्माण होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई प्रति की डेढ़, पौने दो या दुगुनी होनी चाहिये ॥५१॥

कम्प की संख्या दो, चार या छः होनी चाहिये । इनकी मोटाई चौथाई दण्ड होनी चाहिये । इनकी वेदिका पद्मपुष्प, शैवाल एवं पत्र आदि चित्रों से सज्जित होनी चाहिये ॥५२॥

कम्प के नीचे स्तम्भों को उचित रीति से जोड़ना चाइये । इन स्तम्भों का मूल एवं अग्र भाग कम्प के अनुसार होना चाहिये तथा इसे पद्मपट्टी एवं अग्रबन्धन से युक्त होना चाहिये ॥५३॥

जालकानि

झरोखा, जाल - विद्वानों के अनुसार वेदियों के ऊपर जालकों (खिड़की, रोशनदान) का प्रयोग करना चाहिये । इन्हे भित्ति के साथ स्तम्भ के मध्य भाग में नही होना चाहिये । इनकी चौड़ाई चार दण्ड होनी चाहिये ॥५४॥

इनकी चौड़ाई दो दण्ड से प्रारम्भ कर (चार दण्डपर्यन्त) तथा ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये । अथवा ऊँचाई डेढ़ या पौने दो भाग (चौड़ाई की) होनी चाहिये । यह स्तम्भ के मध्य रन्ध्र को छोड़ कर होनी चाहिये ॥५५॥

सम एवं विषम संख्याओं वाले पादों एवं कम्पों से युक्त सजावटी खिड़कियों का यथोचित ऊँचाई एवं विस्तार के साथ प्रयोग करना चाहिये । इनकी संज्ञा गवाक्श, कुञ्जराक्ष, नन्द्यावर्त, ऋजुक्रिय, पुष्पखण्ड एवं सकर्ण है । गवाक्ष संज्ञक जालक (ख़िड़की, झरोखा) लम्बा, अनेक कोणों वाला एवं छिद्रयुक्त होता है ॥५६-५७॥

चौकोर एवं कर्णकछिद्र (विभिन्न प्रकार के छिद्रों वाले) से युक्त जालक कुञ्जराक्ष संज्ञक होता है । पाँच सूत्रों से प्रदक्षिणक्रम (बायें से दाहिने) से निमित छिद्रयुक्त जालक नन्द्यावर्त आकृति का होने के कारण नन्द्यावर्त संज्ञक होता है । तिरछे एवं सीधे स्तम्भों से निर्मित एवं कम्पयुक्त जालक की संज्ञा ऋजुक्रिय होती है ॥५८-५९॥

पुष्पखण्ड एवं सकर्ण जालक नन्द्यावर्त के समान होते है । भित्ति के मध्य से हट कर जालकों के स्तम्भों का योग होता है एवं जालक कवाट (पल्लों) से युक्त होते है ॥६०॥

ये कवाट एक अथवा दो होते है एवं खुलने तथा बन्द होने में समर्थ होते है । जालकों की स्थिति स्तम्भ के बराबर अथवा भवन की ग्रीवा के बराबर होती है ॥६१॥

गोल आकृति वाले जालक सूर्य की आकृति वाले एवं छिद्रयुक्त होते है । ये स्वस्तिक, वर्धमान तथा सर्वतोभद्र प्रकार के होते है ॥६२॥

भित्ति

दीवार - बुद्धिमान, (स्थपति) को गृहस्वामी की इच्छानुसार अथवा आवश्यकतानुसार) काष्ठ, प्रस्तर अथवा ईंटो से भित्ति-निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार जालक (काष्ठ-निर्मित), फलक (प्रस्तरफलकों से निर्मित) तथा ऐष्टक (ईंटो से निर्मित) तीन प्रकार की भित्तियाँ होती है ॥६३॥

जालक भित्ति जालकों (काष्ठनिर्मित) से युक्त, ऐष्टक भित्ति ईंटों से युक्त तथा फालक भित्ति फलकों (प्रस्तरखण्डों) से युक्त होती है । भित्ति के मध्य में पाद होते हैं ॥६४॥

दीवार बनाते समय ऊपर एवं नीचे कमलपुष्पों के समूह से युक्त पट्टिका का निर्माण करना चाहिये । फलकों की मोटाई स्तम्भ के चौथे, छठे या आठवें भाग के बराबर होनी चाहिये ॥६५॥

अथवा सभी स्थान पर शिबिका (पालकी) की भित्ति के समान फलका निर्मित होनी चाहिये । (यहाँ सम्भवतः काष्ठखण्डों से निर्मित भित्ति का तात्पर्य है) इस प्रकार जहाँ-जहाँ उचित हो, फलका कुड्य वहाँ-वहाँ (फलकनिर्मित भित्ति) का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा वास्तुशास्त्र के विशेषज्ञो का मत है ॥६६॥

इस प्रकार प्रस्तर-करण, वेदिकाङ्ग, जालक एवं तीन प्रकार की भित्तियों का वर्णन एवं उनकी रीति का वर्णन विद्वानों के मतानुसार किया गया । जालक के निर्माण के लिये वेदिका को कभी नहीं तोड़ना चाहिये तथा प्रति के अङ्गो को भी नही तोड़ना चाहिये ॥६७॥

मयमतम् - अध्याय १७

सन्धिकार्य का विधान -

पार्श्व में खड़े एवं लेटे (ऊर्ध्वाधर एवं क्षैतिज स्थिति) पदार्थों की सन्धि होती है । एक वस्तु (के निर्माण) में बहुत वस्तुओं के संयोग से, वृक्ष के अग्र भाग (के काष्ठों) की दुर्बलता के कारण, दुर्बल के बलवृद्धि के कारण सन्धिकर्म प्रशस्त होता है । समान जाति वाले वृक्षों (कोष्ठों) का सन्धिकर्म प्रशस्त होता है ॥१-२॥

सन्धि के भेद - सन्धियाँ छः प्रकार की होती है- मल्ललील, ब्रह्मराज, वेणुपर्वक, पूकपर्व, देवसन्धि एवं दण्डिका ॥३॥

सन्धिविधि

जोड़ने के विधि - स्थपति घर के बाहर खड़े होकर चारो दिशाओं से उसका निरीक्षण करे । तत्पश्चात् दक्षिण को उत्तर से एवं दीर्घ (लम्बाई) को अदीर्घ (छोटी लम्बाई) से क्रमशः जोड़े ॥४॥

यदि मध्य एवं दक्षिण में सन्धि करना चाहते हों तो मध्य के अति दीर्घ को पूर्व की भाँति छोटे दीर्घ से जोड़ना चाहिये ॥५॥

अथवा वाम भाग एवं दक्षिण भाग में समान माप के द्रव्य हो तथा मध्य में स्थित पदार्थ दीर्घ हों तो उनमें सन्धि करनी चाहिये । यदि मध्य का पदार्थ न हो तथा दोनों ओर समान माप के द्रव्य हो तो भी सन्धि करनी चाहिये ॥६॥

इस प्रकार गृह के बाहरी भाग कि सन्धि करनी चाहिये । भीतरी भाग की सन्धि के लिये गृह के मध्य स्थान में खड़े होकर स्थपति को चारो दिशाओं का निरीक्षण करना चाहिये । जिस प्राकर बाहरी भाग की सन्धि होती है, उसी प्रकार भीतरी भाग की भी सन्धि होती है ॥७॥

दीर्घ, छोटे एवं समान माप के द्रव्यों की सन्धि पूर्ववर्णित विधि से करनी चाहिये । आधार एवं आधेय के नियम (दीर्घ का अल्प दीर्घ से, दीर्घ को मध्य में रखकर सम माप की सन्धि आदि) का पालन करते हुये पदार्थों को जोड़ना चाहिये ॥८॥

किसी पदार्थ के मूल को मूल से एवं अग्र भाग को अग्र भाग से नही जोड़ना चाहिये । मूल एवं अग्र भाग को जोड़ने से सन्धिकार्य सुखद होता है । मूल भाग को नीचे लिटा कर रखना चाहिये एवं उसके ऊपर अग्र भाग को जोड़ना चाहिये ॥९॥

दो द्रव्यों को जोड़ कर एक सन्धि होती है । इसे मल्ललील कहा गया है । तीन पदार्थो को जोड़ने से दो सन्धियाँ बनती है । इसे ब्रह्मराज कहते है । चार एवं पाँच पदार्थों के योग से क्रमशः तीन एवं चार सन्धियाँ होती है ॥१०-११॥

(तीन एवं चार सन्धियों को) वेणुपर्व कहते है । यह देवालय एवं मनुष्यों के गृहों में होता है । छः एवं सात पदार्थो के योग से पाँच एवं छः सन्धियाँ बनती है ॥१२॥

(उपर्युक्त सन्धियों के) पूकपर्व कहा गया है; साथ ही इसे धन-धान्य प्रदान करने वाला कहा गया है । आठ एवं नौ पदार्थों के योग से सात एवं आठ सन्धियाँ निर्मित होती है ॥१३॥

(पूर्वोक्त सन्धियों को) देवसन्धि कहते है । यह सभी प्रकार के गृहों के अनुकूल होती है । बहुत-से पदार्थों से बहुत-सी सन्धियाँ निर्मित होती है । इनमें दीर्घ एवं अल्प दीर्घ (कम लम्बा) के संयोग का नियम पहले की भाँति ही लगता है । इस सन्धि को दण्डिका कहा गया है । यह सन्धि धन, धान्य एवं सुख प्रदान करती है ॥१४॥

(सर्वतोभद्र सन्धि में) दक्षिण एवं अपर भाग (दक्षिण-पूर्व) में पदार्थ का मूल रखना प्रशस्त होता है; साथ ही इसका ऊर्ध्व भाग ईशान कोण में होना चाहिये । अब इनके बन्धन का उल्लेख किया जाता है । प्रथम आधार पूर्व दिशा होती है, जहाँ मूल एवं अग्र छेद से युक्त पदार्थ रक्खा जाता है । उसके ऊपर दक्षिण एवं उत्तर में अग्र भाग से युक्त पदार्थ रक्खा जाता है । इनके मूल भाग एवं ऊर्ध्व छेद से युक्त अग्र भाग संयुक्त होते है । पश्चिमी दिशा में रक्खे पदार्थ का छेद नीचे की ओर रखना चाहिये एवं इसे आधेय होना चाहिये । इस प्रकार दक्षिण से प्रारम्भ होने वाला यह संयोग (सन्धि) सर्वतोभद्र संज्ञक होता है ॥१५-१८॥

नन्द्यावर्तसन्धि

नन्द्यावर्त सन्धि नन्द्यावर्त आकृति के अनुसार बनाई जाती है । दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाली लम्बाई में दक्षिण दिशा में निकला भाग कर्णकयुक्त होता है ॥१९॥

पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले आयाम (लम्बाई) का कर्णक पश्चिम में होता है । दक्षिण एवं उत्तर की लम्बाई (सन्धि के दूसरी ओर) में उत्तर दिशा में कर्णक होता है ॥२०॥

पूर्व एवं पश्चिम की (दूसरी दिशा में) लम्बाई में पूर्व दिशा में कर्णक होता है । आधार एवं आधेय नियम के अनुसार पूर्व आदि में इस प्रकार रखना चाहिये । इस नन्द्यावर्त सन्धि को दक्षिणक्रम से करना चाहिये ॥२१॥

स्वस्तिबन्धसन्धि

जब पूर्व-उत्तर की ओर शीर्ष भाग वाले दीर्घ से बहुत से पदार्थ जुड़ते है, जब तिरछे अग्र भाग वाले दीर्घ से दो या बहुत से पदार्थ शिखाओं (चूलों) से जुड़ते है एवं यह योग यदि स्वस्तिक की आकृति का होता है तो इसे स्वस्तिबन्ध सन्धि कहते है ॥२२-२३॥

वर्धमानसन्धि

जब चारो ओर बहुत से पदार्थों का संयोग होता है एवं इसी प्रकार भीतर भी होता है तथा मध्य भाग में आँगन जैसी आकृति होती है तो बाह्य भाग से युक्त यह आकृति सभद्रक होती है ॥२४॥

पूर्व दिशा का पदार्थ दक्षिण की ओर एवं पश्चिम दिशा का पदार्थ उत्तर की ओर कक्षों की भित्ति का आश्रय लेते हुये उचित रीति से रखते हुये जोड़ना चाहिये । इस बन्ध को वर्धमान कहते है । निचले तल के कार्य के अनुसर ऊपर एवं उसके ऊपर के तल में भी करना चाहिये ॥२५-२६॥

इसके विपरीत करने से विपत्ती आती है, ऐसा शास्त्रों का मत है । दीर्घ एवं अदीर्घ (कम लम्बा) का संयोग पदार्थों का विधिवत् परीक्षण एवं निरीक्षण करके ही करना चाहिये ॥२७॥

जिस स्थान पर जितने बल की एवं जिस प्रकार के योग (सन्धि, जोड़) की आवश्यकता हो, वहाँ उसी प्रकार की सन्धि का प्रयोग बुद्धिमान (स्थपति) को करना चाहिये । इस प्रकार विशेष विधि से की गई सन्धि सम्पत्तिकारक होती है ॥२८॥

सन्धि के भेद - स्तम्भों की पाँच प्रकार की सन्धियाँ इस प्रकार कही गई है- मेषयुद्ध,त्रिखण्ड, सौभद्र, अर्धपाणिक एवं महावृत्त ॥२९॥

(खड़ी स्थिति की सन्धियाँ पूर्ववर्णित है) लेटी स्थिति (अथवा क्षैतिज) की पाँच प्रकार की सन्धियाँ इस प्रकार है - षट्शिखा, झषदन्त, सूकरघ्राण, सङ्कीर्णकील एवं वज्राभ ॥३०॥

स्तम्भसन्धय

स्तम्भ की सन्धियाँ - जब सन्धि वाले पदार्थ का मध्य भाग चौड़ाई में स्तम्भ के तीसरे भाग के बराबर एवं लम्बाई चौड़ाई कि दुगुनी अथवा ढाई गुनी हो तो इसे मेषयुद्ध सन्धि कहते है ॥३१॥

त्रिखण्ड सन्धि स्वस्तिक के आकार की होती है । इसके तीन भाग एवं तीन चूलियाँ होती है । पार्श्व में चार शिखा (चूली) से युक्त सन्धि सौभद्र कहलाती है ॥३२॥

जिस सन्धि के लिये स्तम्भ की मोटाई के अनुसार आधा भाग मूल (निचले) भाग का एवं आधा भाग अग्र (ऊर्ध्व) भाग का काटा जाता है, उसे अर्धपाणि सन्धि कहते है ॥३३॥

जब चूलिका का आकार अर्धवृत्ताकार हो एवं मध्य भाग (जहाँ जोड़ बैठाया जाय) में अर्धवृत्त हो तो उस सन्धि को महावृत्त कहते है । बुद्धिमान (स्थपति) स्तम्भों के वृत्ताकार भाग में इस सन्धि का प्रयोग करते है ॥३४॥

स्तम्भों में की जाने वाली सन्धि स्तम्भों की लम्बाई के मध्य भाग के नीचे करनी चाहिये । स्तम्भ के मध्य एवं उसके ऊपर यदि सन्धि हो तो वह सर्वदा विपत्ति प्रदान करती है ॥३५॥

कुम्भ एवं मण्डि आदि से युक्त स्तम्भ की सन्धि (उपर्युक्त दोनों की सन्धि) सम्पति-कारक होती है । सज्जा से युक्त प्रस्तर-स्तम्भ की सन्धि जैसी आवश्यकता हो, उसके अनुसार करनी चाहिये ॥३६॥

खड़े वृक्ष के (काष्ठों के) विविध अङ्गों का संयोग अनुकुलता के अनुसार करना चाहिये । ऊर्ध्व भाग का मूल भाग के साथ एव निचले भाग के साथ शीर्ष भाग की सन्धि सभी प्रकार की सम्पत्तियों का नाश करती है ॥३७॥

शयितसन्धय

क्षैतिज सन्धियाँ - जिसके दोनो छोरों पर अर्धपाणि सन्धियाँ हो एवं सन्धि वाले पदार्थ में छः लाङ्गल (हल के) आकार की शिखायें (चूले) बनी हो, साथ ही मध्य की कील मोटी हो, उस सन्धि को षट्शिखा सन्धि कहते है ॥३८॥

झषदन्तक सन्धि में पदार्थ के ऊपर एवं नीचे दोनों ओर बहुत-सी शिखायें होती है । ये सभी शिखायें आवश्यकतानुसार एवं बल के अनुसार निर्मित होती है ॥३९॥

सूअर की नाक के समान, आवश्यकतानुसार शक्ति एवं योग से युक्त, विभिन्न बल की शिखाओं वाली सन्धि सूकरघ्राण कही जाती है ॥४०॥

विभिन्न प्रकार की कीलों से युक्त सन्धि को सङ्कीर्णकीलक कहते है । वज्रसन्निभ सन्धि में वज्र के आकृति की शिखा होती है ॥४१॥

इस प्रकार एक पंक्ति को जोड़ने में ऊपर से निचे तक एक की आकार की सन्धि का प्रयोग करना चाहिये । इसके विपरीत सन्धि करने पर विपत्ति आती है ॥४२॥

(सन्धि करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि) मूल भाग भीतर की ओर एवं अग्र भाग बाहर की ओर रहे । यदि अग्र भाग भीतर एवं मूल भाग बाहर रहता है तो वह स्वामी के विनाश का कारण बनता है ॥४३॥

विद्ध एवं कील -

शिखा, दन्त, शूल एवं विद्ध - ये सभी (चूली, चूल के) पर्याय है तथा शल्य, शङ्कु, आणि तथा कील- ये सभी शब्द (कील के) पर्याय है । शूल एवं कील का माप स्तम्भ की चौड़ाई का आठ, सात या छठवें भाग के बराबर होता है ॥४४॥

सन्धिदोषा

सन्धि के दोष - बुद्धिमान (स्थपति) को चाहिये कि कील का पार्श्व स्तम्भ के मध्य में लगाये ॥४५॥

स्तम्भ का अन्तिम भाग एवं दन्त, (शिखा, चूल) का अन्तिम भाग यदि आपस में जुड़े तो विनाश के कारण बनते है । इसी प्रकार यदि दन्त का अन्तिम भाग स्तम्भ के मध्य में पड़े तो भी वही परिणाम होता है । यदि स्तम्भ का अन्तिम भाग सन्धि के मध्य पड़े तो वह रोगकारक होता है तथा सन्धि का मध्य एवं पाद का मध्य यदि एक साथ हो तो वह क्षय का कारण होता है ॥४६॥

दिक्, विदिक् एवं द्वार के देवताओं के सभी भागों को छोड़कर सन्धि का प्रयोग करना चाहिये । अर्क (सूर्य), अर्कि (यम), वरुण एवं इन्दु देवों का स्थान दिक् कहलाता है (ये दिशायें क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर है) ॥४७॥

अग्नि, राक्षस, वायु एवं ईश देवता का स्थान विदिक् (कोण) कहलाता है । गृहक्षत, पुष्पाख्य, भल्लाट एवं महेन्द्र देवों का भाग द्वारभाग है । इन स्थानों पर सन्धि नही करनी चाहिये । पूर्व-वर्णित स्थानों पर शल्य (कील) एवं दन्त (चूल) का प्रयोग नही करना चाहिये ॥४८-४९॥

इसी प्रकार दन्त का प्रयोग मध्य अथवा मध्यार्ध के मध्य (चतुर्थांश भाग के बिन्दु) को छोड़ कर करना चाहिये । दन्त का प्रयोग पदार्थ के केन्द्र-सूत्र के दाहिने एवं बाँयें भाग में करना चाहिये ॥५०॥

पदार्थ के विस्तार के मध्य में स्थित शिखा (चूल) शीघ्र ही विनाश करती है । शिखा के लिये निर्मित स्थान में कील लगाना तथा कील के स्थान में शिखा का प्रयोग करना वेधन होता है ॥५१॥

(उपर्युक्त वेधन) धर्म, अर्थ, काम एव सुख का नाश करती है । बाँये स्थान में होने वाली सन्धि दाहिने एवं दाहिने स्थान की सन्धि बाँये हो तो इसका (प्रतिसन्धि का) परित्याग करना चाहिये ॥५२॥

पदार्थ की चौड़ाई के बराबर स्थान पर लम्बाई में हुई सन्धि कल्प्यशल्य कहलाती है । पूर्ववर्णित विधि से पदार्थ के मध्य स्थान को छोड़ कर सन्धि करनी चाहिये ॥५३॥

अज्ञानता अथवा शीघ्रता के कारण वर्जित स्थान पर यदि सन्धि की जाय तो सभी वर्ण वाले गृहस्थो की सभी सम्पत्तियों का नाश होता है ॥५४॥

पुराने पदार्थों की नये पदार्थ से तथा नये पदार्थों की पुराने पदार्थों के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिये । नये पदार्थों की नये से एवं पुराने पदार्थों का पुराने पदार्थ से सन्धि करनी चाहिये ॥५५॥

उचित रीति से पदार्थों की सन्धि सम्पत्तिकारक होती है । इसके विपरित करने से निश्चय ही विनाश होता है ॥५६॥

(स्तम्भ के) ऊपर के सभी वाजन आदि पदार्थ शिखा के साथ अथवा विना शिखा के पूर्ववर्णित विधि के अनुसार उचित रीति से जोड़ना चाहिये ॥५७॥

सन्धि स्तम्भ के ऊपर होती है । उनके मध्य में सन्धि नही करनी चाहिये । ब्रह्मस्थल (मध्य स्थान) के ऊपर पदार्थों की सन्धि विपत्तिकारक होती है ॥५८॥

ब्रह्मस्थान पर स्थित स्तम्भ गृहस्वामी का विनाश करता है । तुला आदि यदि ऊपर स्थित पदार्थ वहाँ पड़े तो दोष नहीं होता है ॥५९॥

पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुसंकलिङ्ग वृक्षों के काष्ठों के सन्धि की समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि पुरुष-काष्ठ से पुरुष-काष्ठ का एवं इसी प्रकार स्त्री-काष्ठ से स्त्रीकाष्ठ का ही सन्धिकर्म हो । इनके साथ नपुंसक काष्ठ की सन्धि नहीं होनी चाहिये । नपुंसक काष्ठ का सजातीय काष्ठ से संयोग होना चाहिये । एक जाति के काष्ठों की सन्धि शुभ परिणाम देती है ॥६०॥

इस विधि से मनुष्यों एवं देवों के आवास में पदार्थों की सन्धि करनी चाहिये । इस रीति से की गई सन्धि सम्पत्ति प्रदान करती है । इसके विपरीत रीति से हुई सन्धि सभी सम्पत्तियों का नाश करती है ॥६१॥

अच्छे स्थपति को छोटा, किन्तु गहरा छिद्र बनाना चाहिये । कील काष्ठ, प्रस्तर या गजदन्त निर्मित से होना चाहिये । पकी ईंट में छिद्र छोट एवं कम गहरा होना चाहिये ।इसके छिद्र को सुधा को प्रयोग से पतला एवं उचित घेरे वाला बनाना चाहिये । जिनका यहाँ वर्णन नही किया गया है, उनके योग को बुद्धिमान स्थपति को अपनी बुद्धि द्वारा युक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥६२॥

मयमतम् - अध्याय १८

प्रासाद के उर्द्धा वर्ग -

अब मैं (मय ऋषि) इन (प्रासादों) के गले के अलङ्करणों का, शीर्ष-भाग के आच्छादन का, लुपा के प्रमाण का एवं स्तूपिका के लक्षण का क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥१॥

गललक्षण

गल का लक्षण - भवन का गल वेदिका की ऊँचाई का दुगुना ऊँचा होना चाहिये । उसके ऊपर शिखरोदय गल का दुगुना अथवा तीन गुना ऊँचा होना चाहिये । अथवा गल की ऊँचाई वेदिका की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये ॥२॥

गर्भ-भित्ति (कक्ष की दिवार) के तीन भाग के एक भाग के बराबर अङ्घ्रि (पद, चरण, स्तम्भ) की वेदी में अङ्घ्रि का निवेश होना चाहिये । इसी प्रकार भित्ति के ऊपरी भाग में ग्रीवा (काष्ठ, गल) का निवेश होना चाहिये । यह विधान देवालय एवं मनुष्यगृह-दोनों के लिये कहा गया है ॥३॥

(अथवा) भित्ति-विष्कम्भ के पाँचवे भाग के बराबर पाद-निवेश की वेदिका एवं ग्रीवावेश (कण्ठ-निवेश) होता है । इसी प्रकार ये दोनों भित्ति-विष्कम्भ के चौथे भाग के बराबर भी हो सकते हैं ॥४॥

इस प्रकार इन तीन प्रकारों से (किसी एक नियम से आवश्यकतानुसार) प्रयत्नपूर्वक कण्ठ निर्मित करना चाहिये । उत्तरवाजन, मुष्टिबन्ध, मृणालिका, दण्डिका एवं वलय गल के भूषण होते है । मुष्टिबन्ध के ऊपर व्याल एव नाट्य-दृश्य ऊपर से (नीचे तक) होते है । दण्डिका का निर्माण (इस प्रकार) होना चाहिये (जिससे) उसके ऊपर शिखर-निर्माण हो सके ॥५-६॥

शिखर के भेद - शिखर की ऊँचाई वर्णित भाग के मान के अनुसार होती है । अथवा दण्डिका के मध्य के विस्तार के अनुसार रक्खी जाती है । इसका माप इस प्रकार होता है - पाँच भाग में दो भाग, सात भाग में तीन भाग, नौ भाग में चार भाग, ग्यारह भाग में पाँच भाग, तेरह भाग में छः भाग, पन्द्रह भाग में सात भाग, सत्रह भाग में आठ भाग अथवा दण्डिका की मोटाई का आधा भाग । इस प्रकार शिखर के आठ भेद बनते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है- पाञ्चाल, वैदेह, मागध, कौरव, कौसल, शौरसेन, गान्धार एवं आवन्तिक । इसे इस प्रकार समझा जा सकता है -

१. पाँच भाग में दो भाग - पाञ्चाल

२. सात भाग में तीन भाग - वैदेह

३. नौ भाग में चार भाग - मागध

४. ग्यारह भाग में पाँच भाग - कौरव

५. तेरह भाग में छः भाग - कौसल

६. पन्द्रह भाग में सात भाग - शौरसेन

७. सत्रह भाग में आठ भाग - गान्धार

८. दण्डिका मोटाई का आधा भाग - आवन्तिक ॥७-१०॥

ज्ञानियों द्वारा इनका (पाञ्चाल आदि का) नाम क्रमशः जानना चाहिये । ये सभी जङ्घा के बाहर निकले होते है । इन शिखरों में नीचे वाला (आवन्तिक) शिखर मनुष्य के आवास के योग्य एवं शेष सभी देवालय के योग्य होते है ॥११॥

इन आवन्तिक आदि शिखरों पर लुपा-संयोजन के लिये दश भाग से प्रारम्भ कर एक-एक अंश बढ़ाते हुये सत्रह भाग पर्यन्त आठ प्रकार की ऊँचाइयाँ प्राप्त होती है । इनके नाम इस प्रकार है - व्यामिश्र, कलिङ्ग, कौशिक, वराट, द्राविड, बर्बर, कोल्लक तथा शौण्डिका ॥१२-१४॥

<u>शिखराकृति</u>

शिखर की आकृति - देवों एवं साधुओं-संन्यासियों का भवन के शिखरों के आकार चौकोर, वृत्ताकार, षट्कोण, अष्टकोण, द्वादश कोण, षोडश कोण, पद्माकार, पके आँवले के आकार का, लम्बी गोलाई के आकार का और गोलाकार होता है । ॥१५-१६॥

हर्म्यों (महलों) के शिखर आठ कोण एवं आठ धाराओं वाले होते है; किन्तु ये छः कोण से लेकर साठ कोणपर्यन्त हो सकते है ॥१७॥

<u>स्थूपिकोत्सेध</u>

शिखर की ऊँचाई के चौथे या पाँचवें भाग के बराबर ऊँचा कमल होना चाहिये ।

उसके ऊपर पद्म के बराबर अथवा उसके तीसरे भाग के बराबर लम्बी स्थूपिका (स्तूपिका) होती है ॥१८॥

अत्यन्त छोटे भवन में स्थूपिका (स्तूपिका) का प्रमाण शिखर का आधा अथवा तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये । इस प्रकार संक्षेप में स्थूपिका को अलङ्करणों का वर्णन ऊपर किया गया ॥१९॥

<u>लुपासंख्या</u>

देवों एवं मनुष्यों के भवन में चार प्रकार के लुपाओं (लट्ठे, लकड़ी के पट्टे) की संख्या होती है । यह पाँच से लेकर ग्यारह पर्यन्त (पाँच, सात, नौ, ग्यारह) अथवा चार से लेकर दस तक (चार, छः, आठ, दश) होती है ॥२०॥

पुष्कर

पूर्व-वर्णित अन्तर की ऊँचाई व्यामिश्र नामक पुष्कर (शिखर का एक भाग) की है । ऊर्ध्व-स्थितं एवं अधोभाग में स्थित पुष्कर का माप आधे प्रमाण से रखना चाहिये ॥२१॥

आधे प्रमाण से प्रारम्भ कर सबसे ऊँचे प्रमाण तक जाना चाहिये । इसके पश्चात् वापस (नीचे तक) लौटना चाहिये । आरोह एवं अवरोह का यह गोपनीय क्रम इस प्रकार वर्णित है ॥२२॥

लुपामान

(दो) दण्डिकाओं के मध्य के मोटाई (चौड़ाई) के आधे माप के बराबर एक सम चतुर्भुज बनाना चाहिये । इस चतुर्भुज के चारो भुजाओं (सूत्रों) की संज्ञा क, उष्णीष, आसन एवं सीम होती है ॥२३॥

आसन सूत्र के नीचे दण्डिका एवं उत्तर के बराबर सूत्र फैलाना चाहिये (रेखा बनानी चाहिये) । इसके पश्चात् आसनसूत्र पर चार से प्रारम्भ कर दश भागपर्यन्त (चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दश) बिन्दु चिह्नित करना चाहिये ॥२४॥

क सूत्र एवं उष्णीष सूत्र की सन्धि से उस बिन्दु को सीम की छाया (शिखर का एक भाग) की ऊँचाई तक ले जाना चाहिये । छाया की ऊँचाई तक लम्बाई के मान को क सूत्र के म्ल से आसानसूत्र पर न्यस्त करना चाहिये ॥२५॥

ये ही सूत्र दण्डिका आदि तक होते है । लुपाओं की लम्बाई क एवं उष्णीष सूत्र के सन्धिस्थल से बिन्दु के अन्त तक होती है ॥२६॥

क सूत्र पर उनका (लुपाओं का) विस्तार पुनः विन्यस्त करना चाहिये (अर्थात् लुपायें कहाँ-कहाँ लगनी है - इसे चिह्नित करना चाहिये) । सभी को अपने कर्ण से छायामान तक मापना चाहिये ॥२७॥

वे पर्यन्त सूत्र मल्ल (शिखर के एक भाग) तक सूत्र की भाँति होते है । इस प्रकार मध्य में स्थित लुपा अन्य लुपाओं (पार्श्व के स्थित लुपा) की संख्या के अनुसार बढ़ सकते है ॥२८॥

इस प्रकार (लुपा-संयोजन) करने से तथा आरोह एवं अवरोह से पुष्कर निर्मित होता है एवं इससे मल्ल की लम्बाई ज्ञात होती है ॥२९॥

पञ्चलुपाभेद

लुपायें (अपनी स्थिति के अनुसार दो प्रकार की) समध्य (मध्य में लगने वाली) एवं विमध्य (मध्य से हट कर लगने वाली) होती है । लुपायें पाँच प्रकार की क्रमशः इस प्रकार होती है - मध्य, मध्यकर्ण, आकर्ण, अनुकोटिक एवं कोटि । यदि रेखा का विभाजन सम भागों में हुआ हो तो लुपा की संख्या विषम होती है एवं विषम भागों में सम संख्या में लुपायें होती है ॥३०-३१॥

कान्ता, अन्तरा, असिका, उष्णीष, सीमान्त, चूलिका, भ्रमणीया, समया एवं असमया उन सूत्रों से स्थित होकर दन्त एवं स्तन संज्ञक सुत्रों को सूत्र में बाँधती है (दन्त से स्तन संज्ञक सूत्र के मध्य उपर्युक्तों की स्थिति होति है) । नीचे स्थित शयित सूत्र (क्षैतिज सूत्र) पृष्ठवंश (लुपायें जिस पर टिकती है) को सूत्र में बाँधते है । ॥३२-३३॥

शयित सूत्र के भीतरी भाग में स्थित कील के ऊर्ध्व भाग में कूट को अर्धचन्द्र की भाँति स्थापित कर सभी सम चूलिकाओं को चिह्नित करना चाहिये ॥३४॥
लुपा एवं विलुप के मध्य में भीतर स्थिर चूलिका की आकृति निर्मित होती है । इस प्रकार ऋजु निर्मित होता है एवं इसकी आकृति कुक्कुट पक्षी के पंख के समान होती है ॥३५॥
बालकूट के विस्तार में स्थित सूत्रस्तन के मध्य में, वलय के छिद्र के मध्य में स्थित कूट का मध्यम सूत्र होता है ॥३६॥
पर्यन्त-सूत्र से अन्तर-दण्डिका के वाम भाग में जो विस्तार होता है, वहाँ अन्तर्जानुक का व्यास एव उसके मध्य में चूलिका की स्थिति होती है ॥३७॥

शिखरावयवमान

शिखर के अङ्गों के प्रमाण - लुपा की चौड़ाई एक दण्ड, सवा दण्ड या डेढ़ दण्ड होती है तथा उसकी मोटाई का माप विस्तार का तीसरा, चौथा या पाँचवाँ भाग होता है ॥३८॥
जानु का व्यास उत्तर का आधा अथवा चूलिका के आधे का आधा (चतुर्थांश) होना चाहिये । इसकी मोटाई दण्डिका के बराबर, तीन चौथाई अथवा आधी होनी चाहिये ॥३९॥
वलय एवं जानु के नीव्र (किनारा) का माप दण्डिका के विस्तार का आधा होना चाहिये । मल्ल का मध्य एवं आदिक अमीली एवं जानु के आलम्बन से जानु के अन्त तक चूलिका का अंश होता है । नीव्र का आलम्बन-सूत्र शयन से होता है । ॥४०-४१॥
कुठारिका, ललाट एव जघन का मान एक समान होता है । पाद-विष्कम्भ एवं कर्ण का माप समान होता है अथवा विष्कम्भ का दुगुना होता है ॥४२॥
कूट के व्यास के बराबर लुपा की पिण्डी होती है एवं कर्ण की लम्बाई उसकी दुगुनी होती है । उसके आधे माप का नालिका-लम्ब होता है । इसके ऊपर मल्ल के अग्र भाग को जोड़ा जाता है ॥४३॥
छिद्र उसकी मोटाई के अनुसार होना चाहिये, जिससे उसमें मल्लों का प्रवेश हो सके । जानुक, लुपामध्य एवं मध्य पृष्ठ पर स्थित वंश समान के माप के होते है । उनकी मोटाई चूली के भाग के अथवा लुपा के मध्य भाग के बराबर होती है । अथवा लुपा की मोटाई के आठवें भाग के बराबर वलय एवं वंश का विस्तार होता है ॥४४-४५॥

छादन

आच्छादन, छाजन - उपर्युक्त माप का आधा मोटा (आच्छादन होना चाहिये) । काष्ठ के फलकों, धातु के लोष्टकों (धातुनिर्मित पट्ट) अथवा मृत्तिका-निर्मित लोष्टकों से इच्छानुसार (भवन के शीर्ष को) इस प्रकार आच्छादित करना चाहिये, जिससे आच्छादन स्थिर रहे । लुपा के ऊपर फलकों (या लोष्टकों) को रखकर नीचे एवं ऊपर अष्टबन्ध (विशिष्ट गारा) लगाना चाहिये ॥४६॥

वलयसन्धि

वलय की सन्धि - वलय के छिद्र लुपा के मध्य के नीचे होता है । इसके लिये सोलह संख्या में परलेखायें (विशिष्ट रेखायें) निर्मित करनी चाहिये । इसका प्रमाण कुक्षि के व्यास के आठवे भाग के अङ्गुलिमान के बराबर होनी चाहिये ॥४७-४८॥
उस भाग से साढ़े सात से प्रारम्भ कर ढ़ाई भाग बढ़ाते हुये पन्द्रह संख्या तक ले जाना चाहिये । इस प्रकार सोलह परलेखायें बनती है ॥४९॥

लुपा के नीचे एवं पर बिन्द्वादि को मध्य में करना चाहिये। उस बिन्द्वादि से बुद्धिमान (स्थपति) को परलेका का अवलोकन करना चाहिये ॥५०॥

प्रासादों (महलों, देवालयों) की ये परलेखायें गृहों मे सोलह संख्याओं मे होती है। लुपाओं में प्रथम से दुगुना मान करते हुये उनका मान बुद्धिमान (स्थपति) को स्वीकार करना चाहिये ॥५१॥

क, उष्णीव तथा आसन सूत्र के नीचे शफर को अङ्कित करना चाहिये। उसके ऊपर बुद्धिमान (स्थपति) को मल्ल का अङ्कन करना चाहिये ॥५२॥

मल्ल के नीचे लम्बाई के पन्द्रह भाग करने चाहिये। उन-उन भागों के अन्त से मत्स्य की आकृति बनानी चाहिये ॥५३॥

सभी परलेखाओं का यही क्रम कहा गया है। पाञ्चाल आदि लुपाओं में से प्रत्येक के विषय में बुद्धिमानों ने वर्णन किया है ॥५४॥

आसन एवं क सूत्र के अग्रभाग से एवं मल्ल से संयुक्त, मध्य भाग एव उसके बाद सीधी रेखा को बुद्धिअमन ने परलेखा कहा है ॥५५॥

घटिका

लुपा की चौड़ाई के मान से चौकोर घटिका का निर्माण करना चाहिये। यह एक वितस्ति (बित्ता, बालिश्त) लम्बी, सीधी, मध्यम सूत्र से युक्त होती है ॥५६॥

चूलिका, अन्तर्वर्ण, लुपा एवं तिर्यक सूत्र के मध्य में घटिका को स्थापित करना चाहिये। इसके पश्चात् इसे शमन सूत्र के समान छिद्रयुक्त करना चाहिये ॥५७॥

प्रत्येक वर्ण की घटिका को उसके वर्ण पर स्थापित करना चाहिये। क्षिप्त सूत्र के शेष भाग के वर्ण लुपा के उदर भाग पर दण्डिका, उत्तर एवं वलय पर स्थित समसूत्र का आलेखन करना चाहिये। उदर भाग की लम्बाई के मध्य भाग में सम-सूत्र के अङ्कन से ककर निर्मित होता है ॥५८-५९॥

जिस प्रकार घटिका ललाट के मध्य में हो तथा ककर सम हो, उस विधि से लुपा के उदर भाग में लम्बाई में रखकर उसे ललाट की आकृति में काटना चाहिये। वलय आदि को लुपा के उदर भाग में इच्छित भाग रखना चाहिये। वलय के छिद्रों के साथ छाया के स्थापित करना चाहिये ॥६०-६१॥

उस-उस घटिका के साथ तथा मध्य में स्थित उनके मध्य भाग से संयुक्त जो ललाट से सम्बद्ध छाया है, वह उन-उन (घटिकाओं) की होती है ॥६२॥

दण्डिका, वलय, छिद्र, स्तन, जानु एवं उत्तर आदि पर, शिर के मध्य भाग में तथा अर्ध के मध्य में तुला के ऊपर मुण्ड (सजावटी अङ्ग) स्थापित करना चाहिये। ॥६३॥

विट भाग (शीर्ष भाग) शिखा से युक्त, तुला-पाद से युक्त, वंश से युक्त, वर्ण से युक्त, मत्स्य-बन्ध एवं खर्जूर-पत्र के समान आकृति से युक्त होती है ॥६४॥

पुनश्छादन

पुनः आच्छादन - शिखर के भीतरी भाग में वलयक्ष के साथ लुपा रखनी चाहिये। लुपा के ऊपर फलक अथवा कम्प रखना चाहिये तथा सुधा (गारा) एवं ईटों से आच्छादन को सुन्दर बनाना चाहिये (अर्थात उन्हे सही एवं सुन्दर बनाना चाहिये)। ॥६५॥

स्थूपिकाकील

स्तूपिका की कील - स्थूपिका (स्तूपिका) के कील की लम्बाई स्तम्भ की लम्बाई के बराबर होनी चाहिये । इसके शीर्ष भाग की चौड़ाई चौथाई दण्ड एवं मूल की चौड़ाई आधा दण्ड होनी चाहिये । इसके मूल का वेधन शङ्क्कु के मूल से लेकर मुण्ड पर्यन्त होना चाहिये ॥६६-६७॥
वंश के नीचे मन्डनाग, अग्रपट्टिका, बालकूट, स्तन, शङ्कुमूल एवं मुण्डक स्थापित करना चाहिये ॥६८॥
शिखर के भीतरी भाग की सज्जा अन्तःस्थ वलय, नालियों से युक्त वर्णपट्टिका, मत्स्यबन्धन, खर्जूरपत्र, मलय, वलक्ष तथा स्वस्ति धाराओं से करनी चाहिये ॥६९॥
मुखपट्टी का विस्तर एक दण्ड या डेढ़ दण्ड होना चाहिये । नीप्र का माप उसके छटवें या आठवें भाग के बराबर होना चाहिये एवं सुअकी चौड़ाई कर्णिका की ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये ।
शक्तिध्वज के मूल की चौड़ाई एक दण्ड होनी चाहिये । उसका कण्ठ उसके बराबर, उसका सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होना चाहिये । ग्रीवा के अन्त तक जाने वाले गग्रपत्र का मान स्तम्भ की चौड़ाई का आधा ऊँचा होना चाहिये । ॥७०-७१-७२॥
दो गग्रपत्रों के मध्य का भाग दो दण्ड से प्रारम्भ कर तीन दण्ड तक होना चाहिये । कर्णिका वायु के वेग से हिलती हुई लता की भाँति होनी चाहिये ॥७३॥
नीचे अर्धकर्ण होना चाहिये एवं उसके ऊपर शिर होना चाहिये । डेढ़ भाग से अनति होनी चाहिये । ग्रीवा के ऊपर कपोल-पर्यन्त का भाग तीन या साढ़े तीन दण्ड होना चाहिये ॥७४॥
उससे पत्र एवं शूल से युक्त शक्तिध्वज लगा होना चाहिये । वहाँ नेत्र से युक्त मल्ल, चूलिका एवं स्तनमण्डल आदि निर्मित होना चाहिये ॥७५॥
क्षैतिज स्थित पट्ट कमल आदि से अलङ्कृत होना चाहिये । अर्धकर्ण, ऊर्ध्वपट्ट एवं ऊर्ध्वप्रति के ऊपर मुष्टिबन्ध निर्मित होना चाहिये ॥७६॥
शोभा के अनुसार निष्क्रान्त होना चाहिये । उसके ऊपर त्रिमुख होना चाहिये, जो शूल के समान, मतल के सदृश, व्याल (गज अथवा सर्प) के सदृश अथवा नृत्यादि के दृश्यों से युक्त हो ॥७७॥

<u>ललाटभूषण</u>

ललाट के अलङ्करण - उसके ऊपर कूट एवं कोष्ठ आदि से अलङ्कृत विमान (मन्दिर) के सदृश रचना होती चाहिये, जो पट्ट, क्षुद्रकम्प आदि अङ्गों अथवा मध्य तोरण से युक्त हो ॥७८॥
तोरण के मध्य में लक्ष्मी अङ्कित होनी चाहिये, जिनका (गजों द्वारा) ऐषेक किया जा रहा ओ एव हाथ में कमल-पुष्प हो । इस प्रकार अथवा अन्य विधि से ललाटिका को सजाना चाहिये ॥७९॥
ललाट के वंश विद्ध, मध्य के शूल से दृढ़ बनाई गई, एक दण्ड विस्तृत कुठारिका होनी चाहिये । इसका कर्ण पत्र एवं मकर से अलङ्कृत तथा उस पर टिका होना चाहिये । अथवा पत्र तथा मकर मध्य में या अर्धकर्ण पर रुचि एवं योजना के अनुसार निर्मित करना चाहिये ॥८०-८१॥

<u>स्थूपिका</u>

स्तूपिका - अग्र भाग (ऊपरी भाग) में जोड़े गये ईंटों के मध्य में तिरछी लुपायें प्रविष्ट होती है । उसके ऊपर उनको भेद कर स्थूपिका-यूप निकली होती है ॥८२॥
स्थूपिका के प्रमाण का पहले वर्णम किया चुका है । अब उसके अलङ्करणों के बाईस भागों का (प्रमाणसहित) वर्णन किया जा रहा है; जो इस प्रकार है - पद्म - एक, क्षेपण, आधा, वेत्र - आधा, क्षेपण - आधा, पङ्कजः, एक, घट - पाँच, पङ्कज - एक , क्षेपण - आधा, धृक - एक, क्षेपण - आधा,

वेत्र - एक, क्षेपण - आधा, धृक - एक, कम्प - आधा, पद्म - आधा, फलक - एक, अम्बुज - आधा, वेत्र - आधा तथा मुकुल - साढ़े चार ॥८३-८६॥
पद्म से आरम्भ कर मुकुल पर्यन्त (ऊपर वर्णित क्रम से अङ्गों) की चौड़ाई इस प्रकार होनी चाहिये - पद्म - सात भाग, क्षेपण - दो, वेत्र - तीन, क्षेपण - दो, पङ्कज - क्षेपण - तीन, धृक - दो, कम्प - तीन, पद्म - पाँच, फलक - छः, अम्बुज - पा~म्च, वेत्र - दो एवं मुकुल - तीन भाग ॥८७-८८॥
मुकुल के अग्र भाग को शोभा के अनुसार एक या डेढ़ भाग बढ़ाया जा सकता है । इसका आकार चार, आठ या सोलह कोण वाला अथवा गोल रक्खा जा सकता है । जिस प्रकार से ऊपरी भाग को सहारा दे सके (वही आकृति चुनी जानी चाहिये)। ॥८९॥
अथवा इसकी आकृति भवन के शीर्ष भाग के अलङ्करण के अनुसार रखनी चाहिये । ये आकृतियाँ देवों, राजाओं, ब्राह्मणों एवं वैश्यों के अनुकूल होती है ॥९०॥
देवों, ब्राह्मणों , क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिये तो यह अनुकूल ऐ; किन्तु शूद्रो के लिये नही है । इन अङ्गों को (यथोचित रीति से) नियोजित कर ध्वजदण्ड को उसके ऊपर रखना चाहिये । इन लक्षणों से युक्त विमान (देवालय, ऊँचा भवन) सम्पतिकारक होता है ॥९१॥

लेप एवं गारा -

कराल, मुद्गी, गुल्माष, कल्क एवं चिक्कण - ये पाँचों चूर्ण सभी (निर्माण) कार्यो के लिये उचित होते है । कराल अभया (हर्र, हरीतकी) अथवा अक्ष (बहेड़ा, बिभीतक) के बीज के बराबर आकार के कङ्कड़ होते है ॥९२-९३॥
मूँग के दाने के बराबर छोटे कङ्कड़ को मुद्ग कहते है । डेढ़ भाग, तीन चौथाई अथवा दुगुने माप में बालू से युक्त किञ्जल्क (कमल के सूत्र, रेशे) में शर्करा (कङ्कड़) एवं सीपियों (के चूर्ण के साथ) चूना मिलाने पर गुल्माष (एक प्रकार का गारा) तैयार होता है । करालं एव मुद्गी को भी इसी माप से तैयार किया जाता है ॥९४-९५॥
पूर्व-वर्णित माप में बालू के साथ चणक (चने के आकार का चूना) को एक साथ पीसना चाहिये । यह कल्क होता है । चिक्कण केवल (सादा, इसमें कुछ नही मिलाया जाता) होता है ॥९६॥
पूर्ववर्णित कराल, मुद्गी आदि पदार्थों का प्रयोग अलग-अलग करना चाहिये । इनसे ईटों को आपस में इस प्रकार जोड़ा जाता है; जिससे उनमें छिद्र शेष न रहें । ॥९७॥
उपर्युक्त पदार्थों में से किसी एक का चूनाव करना चाहिये । (चुने गये पदार्थ को) केवल जल के साथ पहले तीन बार कूटना चाहिये ॥९८॥
इसके पश्चात् क्षीरद्रुम, कदम्ब, आम, अभया, (हर्र) तथा अक्श (बहेड़ा) के छाल के जल के साथ, इसके पश्चात् त्रिफला (हर्र, बहेड़ा एवं आँवला) के जल के साथ, तदनन्तर उड़द के पानी के साथ (कूटा जाता है) ॥९९॥
इसके पश्चात् कुङ्कड़, सीपियाँ एवं चूने में कूप का (अथवा गड्ढ़े का) जल मिला कर खुर से विधिवत् कुटाई करना चाहिये । पुनः इसको कपड़े से छानना चाहिये ॥१००॥
इस (तरल पदार्थ) से कल्क एवं चिक्कण को बुद्धिमान (स्थपति) को तैयार करना चाहिये । दही, दूध, उड़द का पानी, गुड़,घी, केला, नारियल का पानी एवं पके आम का रस- इन पदार्थों का उचित मात्रा में संयोजन कर शिल्पी लोग 'बुद्धोदक' तैयार करते है ॥१०१-१०२॥

प्रथमतः साफ पानी से (भित्ति आदि) स्थान को शुद्ध कर (साफ कर) पुनः बन्धोदक का लेप करना चाहिये । लेप के पश्चात् सुधा से लेप करके विभिन्न प्रकार के रूपों (चित्रों) आदि का निर्माण करना चाहिये ॥१०३॥

गोपान के ऊपर पकी मिट्टी के द्वारा निर्मित अथवा धातु-निर्मित लोष्ट (टाइल्स) से बुद्धिमान स्थपति को आच्छादन करना चाहिये ॥१०४॥

उसके ऊपर कराल, मुद्गी एवं गुल्माष को एक-एक अङ्गुल, कल्क को उसका आधा (आधा अङ्गुल) तथा चिक्कण को कल्क का आधा मोटा रखना चाहिये ॥१०५॥

जल वाले स्थान पर उपर्युक्त पदार्थों को पर्याप्त मोटा लगाना चाहिये । इन्हें बन्धोदक से गीला कर यदि छः मास के लिये छोड़ दिया जाय तो उत्तम परिणाम प्राप्त होता है (इससे ईंटो की जोड़ाई अत्यधिक द्रुढ़ होती है) । चार मास छोड़ने पर मध्यम एवं दो मास छोड़ने पर कम परिणाम प्राप्त होता है ॥१०६-१०७॥

लुपाओं के ऊपर ईंटों को बिछाना चाहिये एवं उसके ऊपर चूना डालना चाहिये । छत को प्रयत्नपूर्वक (पूर्वोक्त लेप से) घना आच्छादित करना चाहिये ॥१०८॥

देवताओं एवं ब्राह्मणों के सभी भवनों के भीतर एवं बाहर बुद्धिमान को व्यक्ति को चित्रों से युक्त करना चाहिये ॥१०९॥

विप्र आदि सभी वर्ण वालों के गृहों मे माङ्गलिक कथाओं से युक्त, श्रद्धा, नृत्य एवं नाटक आदि के चित्र बनाने चाहिये । ये चित्र गृहस्वामी को समृद्धि प्रदान करने वाले होते है ॥११०॥

युद्ध, मृत्यु, दुःख से युक्त देवासुर की कथा का चित्रण, नग्न, तपस्वियों की लीला तथा रोगियों-दुःखियों का अङ्कन नही करना चाहिये । अन्य लोगो के निवास स्थान में उनकी इच्छानुसार अङ्कन करना चाहिये ॥१११॥

(अच्छे सुबन्धन के लिये) पाँच भाग उड़द का पानी, नौ भाग गुड़, आठ भाग दही, दो भाग घी, सात भाग क्षीर, छः भाग चर्म, दश भाग त्रिफला, चार भाग नारियल का पानी, एक भाग शहद एवं तीन भाग केला होना चाहिये । इनमें दश भाग चूना मिलाने से सुबन्धन (अच्छा मसाला, लेप) प्राप्त होता है । इन सभी पदार्थों में गुड़, दही एवं दूध अधिक होना चाहिये ॥११२-११४॥

दो भाग चूना, कराल, मधु, घी, केला, नारियल, उड़द, शुक्ति (सीपी) का जल, दूध, दही, गुड़ एवं त्रिफला-इनसे प्राप्त चूर्ण में इनके सौवें भाग के बराबर चूना मिलाना चाहिये । इस विधि से तैयार बन्ध (ईंटों को जोड़ने का गारा) पत्थर के समान दृढ़ होता है - ऐसा तन्त्र के ज्ञाता ऋषियों का कथन है ॥११५॥

शिरोभाग की ईंट - अब देवों, ब्राह्मणों, क्षत्रियो एवं वैश्यों के भवन में मूर्ध्नेष्टका (भवन के ऊर्ध्व भाग में रक्खी जाने वाली इष्टका) रक्खी जानी चाहिये । इसे चार लक्षणों से युक्त होना चाहिये - ये चिकनी हो, भली-भाँति पकी हों, (ठोकने पर) इससे सुन्दर स्वर उत्पन्न हो तथा देखने में सुन्दर हों ॥११६-११७॥

ये ईंटे स्त्रीलिङ्ग अथवा पुल्लिङ्ग होनी चाहिये । ये टूटी न हों तथा छिद्र आदि से रहित हो । लम्बाई, चौड़ाई एवं मोटाई में ये प्रथम ईंटों (शिलान्यास की ईंटो) के समान होती है ॥११८॥

प्रस्तर से निर्मित भवन में शिला को सभी दोषों से रहित होना चाहिये । जन्म (नींव) से लेकर शिखर के अन्तिम बाग तक भवन जिस द्रव्य से निर्मित होता है, उसी द्रव्य (ईंटो अथवा शिलाओं)

से निर्मित इष्टका को भवन के प्रारम्भ एवं अन्तिम भाग (शिखर) में भी स्थापित करना चाहिये । यह प्रशस्त होता है । मिश्रित द्रव्यों से निर्मित भवन में ऊपरी भाग में जो द्रव्य ऊपर स्थित हो, उसी द्रव्य का विन्यास भवन के ऊपरी भाग में करना चाहिये । यह रहस्य (ऋषियों द्वारा) कहा गया है । ॥११९-१२०॥

स्थूपिकाकील

स्तूपिका की कील - स्थूपिका (स्तूपिका) की कील धातुनिर्मित या काष्ठनिर्मित होनी चाहिये ॥१२१॥
कील की चौड़ाई ऊर्ध्व भाग एवं अधोभाग में समान होनी चाहिये । इसकी लम्बाई (ऊपरी मञ्जिल के) स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये तथा अग्र भाग (ऊपरी भाग का अन्तिम भाग) एक अङ्गुल चौड़ा एवं नीचे की अपेक्षा पतला होना चाहिये ॥१२२॥
कील के नीचे का एक-तिहाई भाग चौकोर होना चाहिये तथा उसके ऊपर गोलाकार होना चाहिये । इसके निचले भाग में मोर के पैर की आकृति होनी चाहिये । ॥१२३॥
इसकी लम्बाई चौड़ाई की तीन गुनी होनी चाहिये एवं चौड़ाई ऊपरी स्तम्भ के बराबर होनी चाहिये । यह भूमि पर दृढ़तापूर्वक टिका रहे एवं इसे पञ्चमूर्तियों से युक्त होना चाहिये ॥१२४॥
अथवा स्तूपिका-कील की लम्बाई भवन की शिखा की लम्बाई से दुगुनी तथा चौड़ाई स्तम्भ के व्यास की आधी, तीसरे अथवा चौथे भाग के बराबर होनी चाहिये । ॥१२५॥
यदि कील के अग्र भाग का व्यास आधा अङ्गुल हो तो मयूर-पाद बल की आवश्यकता के अनुसार रखना चाहिये । शिखर की आकृति के अनुसार कील की आकृति अथवा लिङ्ग की आकृति का स्तूपिक-कील निर्मित होना चाहिये । इस प्रकार तीन प्रकार के स्तूपिका-कील वर्णन विद्वानों ने किया है ॥१२६॥

मूर्ध्नेष्टकादिस्थापन

मुर्ध्नेष्टका आदि की स्थापना - गृह के उत्तरी भाग में मण्डप को स्वच्छ करके, चार दीपों से युक्त, वस्त्रों से आच्छादित करके सभी मंगल पदार्थों से युक्त करना चाहिये । शुद्ध शालिधान्य को बिछा कर स्थण्डिल वास्तुमण्डल अथवा मण्डूक वास्तुमण्डल निर्मित करना चाहिये । इसके पश्चात् वास्तुमण्डल में ब्रह्मा आदि देवों का विन्यास कर उनको श्वेत तण्डुल (अक्षत) समर्पित करना चाहिये ॥१२७-१२९॥
गन्ध तथा पुष्प आदि से गृह-देवता की पूजा एवं स्तवन करना चाहिये । देवताओं को उनके नाम से विधिपूर्वक बलि प्रदान करनी चाहिये ॥१३०॥
स्थपति को पच्चीस सुन्दर लक्षणों वाले कलश स्थापित करने चाहिये । इन कलशों में सुगन्धित जल भरना चाहिये तथा पाँच रत्नों को डालना चाहिये । सूत्र, वस्त्र, कूर्च तथा स्वर्ण से युक्त करके इन कलशों को ढँक देना चाहिये । उपपीठ संज्ञक वास्तुमण्डल में देवों को उनके नाम से आहूत कर 'ॐ से प्रारम्भ कर 'नमः' से अन्त करते हुये उन देवों की गन्ध आदि से क्रमशः पूजा करनी चाहिये ॥१३१-१३२॥
इष्टकाओं एवं कील को पञ्चगव्य से, नवरत्नों एवं कुशा के जल से प्रक्षालित करके क्रमशः सूत्रों से लपेटना चाहिये । प्रत्येक कुम्भ के दाहिने भाग में शुद्ध शालिधान्य के द्वारा निर्मितस्थण्डिल वास्तुमण्डल में ॥१३३-१३४॥

वास्तुदेवों की पूजा गन्ध एवं पुष्पों से करके एवं उन्हे विधि के अनुसार बलि प्रदान कर ईंटो एवं कीलों को शुभ वस्त्र से लपेटना चाहिये ॥१३५॥
श्वेत वस्त्र के आस्तरण (चादर, बिछा वस्त्र) के ऊपर बिछे हुये पवित्र कुश पर इष्टका एवं कीलों को रखना चाहिये । स्थपति को अच्छा वेष, श्वेत पुष्पों की माला, श्वेत (चन्दन) का लेप, श्वेत वस्त्र के उत्तरीय को ऊपर ओढ़ कर तथा सुवर्णनिमित अंगूठी धारण कर शुद्ध जल पीना चाहिये तथा रात्रि में उपवास रखते हुये वहीं निवास करना चाहिये ॥१३६-१३७॥
स्थपति को (रात्रि में) कलश के उत्तरी भाग में श्वेत वस्त्र के बिस्तर (अथवा चादर, बिछावन) पर रहना चाहिये । इसके पश्चात् प्रभात वेला में शुद्ध नक्षत्र एवं करण में, सुन्दर मुहूर्त एवं शुभ लग्न में स्थपति को स्थापक (भवन-स्वामी) के साथ पुष्प, कुण्डल, हार, कटक (हाथ के आभूषण) एवं अंगूठी- इन पाँच अंगों के सुवर्ण निर्मित आभूषणों से अलङ्कृत होकर सुवर्ण-निर्मित जनेऊ तथा नवीन वस्त्र का परिच्छद (ओढ़ने का वस्त्र) धारण करना चाहिये । श्वेत लेप तथा सिर पर सफेद पुष्प धारण करना चाहिये एवं पवित्र होना चाहिये ॥१३८-१४०॥
(पवित्र तन एवं मन से) दिशाओं के गजों, समुद्रों एवं पर्वतों से युक्त तथा अनन्त सर्प पर स्थित पृथिवी का ध्यान करते हुये सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के आधार, भुवनों के अधिपति देवता का जप (स्तुति) करना चाहिये ॥१४१-१४२॥
पूर्ववर्णित कलशों के जलों से इष्टका एवं कील को स्नान कराकर गन्ध, पुष्प, धूप एवं दीप से वास्तुदेवों की पूजा करनी चाहिये ॥१४३॥
नियमानुसार वास्तुदेवों को बलि प्रदान कर जय आदि मङ्गल शब्दों, ब्राह्मणो द्वारा किये जा रहे वेदपाठ एवं शङ्ख तथा भेरी आदि वाद्यों की ध्वनि के साथ मुर्ध्नेष्टका को क्रमानुसार पूर्व से दक्षिण क्रम में स्थापित करना चाहिये । इसे विमान (भवन) के शिखर के अर्ध भाग में अथवा गग्र एवं पत्र के मध्य में स्थापित करना चाहिये । ॥१४४-१४५॥
शिखर के तीसरे अथवा चौथे भाग के अन्त तक, पद्म के नीचे से, स्थूपिका (स्तूपिका) की लम्बाई से कील की लम्बाई ग्रहण करनी चाहिये ॥१४६॥
इष्टका के स्थान को पहले ही छिद्ररहित एवं दृढ़ करना चाहिये; साथ ही उसके मध्य में नवरत्नों को क्रमानुसार रखना चाहिये ॥१४७॥
इन्द्र के पद पर मरकत मणि, अग्नि के पद पर वैदूर्य मणि, यम के स्थान पर इन्द्रनील मणि एवं पितृपद पर मोती स्थापित करना चाहिये ॥१४८॥
वरुण के स्थान पर स्फटिक, वायु के स्थान पर महानील मणि, सोम के पद पर वज्र (हीरा) तथा ईशान में प्रवाल (मूँगा) स्थापित करना चाहिये ॥१४९॥
मध्य भाग में माणिक्य, सोना, रस (धातुर्निमित अन्न के दाने), उपरस (रंगे हुये पदार्थ), बीज, धान्य (अन्न) एव औषध (जड़ी) डालना चाहिये ॥१५०॥
उसके ऊपर बराबर एवं स्थिर करते हुये स्तूपिका-कील स्थापित करना चाहिये । इससे निचली भूमि तक उत्तर दिशा में महाध्वज स्थापित होता है ॥१५१॥
इसे रेशमी वस्त्र अथवा सूती वस्त्र से निर्मित सुन्दर (ध्वज) ईशान कोण में लटकाना चाहिये । यदि यह ईशान कोण की भूमि को छूता है तो वह भवन सभी (वर्णों) के प्राणियों के लिये सम्पत्ति एवं समृद्धिदायक होता है ॥१५२॥

भवन के स्थूपिकील (स्तूपिका-कील) को श्वेत वस्त्रों से लपेट कर चारो दिशाओं में बछड़ो के साथ चार गायें रखनी चाहिये । द्वार को नये रंग-बिरंगे वस्त्रों से सजाना चाहिये ॥१५३-१५४॥

दक्षिणादान

दान-दक्षिणा - यजमान (गृहस्वामी) को शुद्ध मन-मस्तिष्क से गुरु (प्रधान आचार्य), विमान (भवन या मन्दिर), स्थूपिका (स्तूपिका, स्तम्भ, द्वार एवं सज्जा को प्रणाम कर प्रसन्न भाव से स्थपति को वस्त्र, धन, अन्न एवं बछड़े सहित पशु (गाय) प्रदान करना चाहिये एवं शेष (उसके सहायकों) को भक्तिपूर्वक (धनादि द्वारा) तृप्त करना चाहिये ॥१५५-१५६॥

रत्नादिस्थान

रत्न आदि का स्थान - इस प्रकार प्रासादों के शिरोभाग में, भवन के शिलान्यास से जुड़े भित्तियों में, प्रत्येक तल के बीच मेम,मण्डप में, मध्य भाग मे, सभागार आदि में, शिखर पर स्थित पद्म के नीचे एवं गोपुर द्वारों के शीर्ष भाग में प्रासाद के सदृश रत्नादि स्थापित करना चाहिये - ऐसा श्रेष्ठ मुनियों का वचन है ॥१५७-१५८॥

कर्मसमाप्ति

कार्य की समाप्ति - इस प्रकार भवन-निर्माण के प्रारम्भ में एवं अन्त में विधिपूर्वक सभी क्रियायें सम्पन्न करने से गृह में सम्पदा आती है ॥१५९॥

गृहस्वामी के द्वरा विधिपूर्वक किया गया कर्म श्री, सौभाग्य, आयु एवं धन प्रदान करता है ।
गृहस्वामी के अभाव में उसका पुत्र अथवा शिष्य उसकी आकृति को वस्त्र पर रेखाङ्कित कर उसके (वस्त्र पर अंकित चित्र के) द्वारा सभी कार्यो को सम्पन्न करे । अन्य व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य यदि शीघ्रता अथवा अज्ञानतावश सही रीति से नहीं होता है तो गृहस्वामी को विपरीत परिणाम प्राप्त होता है ॥१६०-१६१॥

गृहकर्ता जिस विधि से कार्य का प्रारम्भ करे, उसी विधि से कार्य करते हुये समापन करना चाहिये । यदि बीच में अन्य विधि का अनुसरण किया जाय तो गृहस्वामी का अशुभ होता है ॥१६२॥

इस प्रकार अलङ्कारों से युक्त ग्रीवा, पद्म की आकृति, मल्लों का प्रमाण एवं शीर्ष-स्थान के अलङ्करण का निर्माण करना चाहिये । उचित रीति से कराल आदि से बन्ध (ईंटो का जोड़ने का गारा) बनाकर ऊर्ध्व भाग में भली-भाँति ईंटो को जोड़ना चाहिये ॥१६३॥

स्थूपिकीलवृक्षा

स्तूपिका-कील के वृक्ष - स्थूपिकील के लिये प्रसिद्ध वृक्ष कत्था, चीड़, साल, स्तबक, अशोक, कटहल, तिमिस, नीम, सप्तवर्ण - ये सभी वृक्ष तथा परुष, वकुल, वहिन (अगरु), क्षीरिणी (सनोवर का वृक्ष) आदि वृक्ष एवं इस प्रकार के अन्य सुदृढ़म दोषहीन एवं ठोस वृक्ष उपयुक्त होते है ॥१६४॥

भवन के सम्पूर्ण हो जाने पर यजमान, गुरु एवं वर्धकि (बढ़ई) को शुभ उत्तरायण नक्षत्र एवं पक्ष में जलसम्प्रोक्षण कर्म का प्रारम्भ करना चाहिये ॥१६५॥

अधिवासमण्डप

नवीं, सातवीं, तीसरी एवं पाँचवी रात्रि में विधिपूर्वक अङ्कुरार्पण कर्म करना चाहिये । भवन के उत्तर-पूर्व भाग में स्वधिवास-योग्य मण्डप बनाना चाहिये ॥१६६॥

इस मण्डप को चौकोर, नौ, सात, या पाँच हस्तमाप का एवं आठ स्तम्भों से युक्त निर्मित करना चाहिये तथा नवीन वस्त्रों से सजाना चाहिये । अन्दर वितान को सुन्दर वस्त्र से तथा श्वेत पुष्पों से सजा कर मण्डप को मनोहर बनाना चाहिये ॥१६७॥

उसके मध्य भाग में शालिधान्य से एक दण्ड प्रमाण का स्थण्डिल वास्तुमण्डल निर्मित करना चाहिये ॥१६८॥

चौसठ पद बनाकर श्वेत चावल से ब्रह्मा आदि वास्तुदेवताओ को क्रमानुसार स्थापित कर तथा पुष्प-गन्ध-धूप-दीप आदि से उनकी पूजा कर उनेहं विधिपूर्वक बलि प्रदान करनी चाहिये । इसके ऊपर वस्त्रों से सुशोभित पच्चीस कलश रखना चाहिये । ॥१६९-१७०॥

इन कलशों को रत्नों, सुवर्ण, सूत्रों एवं ढक्कनों से युक्त करना चाहिये । ये कलश दोषरहित, छिद्ररहित एवं हाटक-जल (सुनहरा, पीला जल) अथवा धतूरायुक्त जल से भरे होने चाहिये । उपपीठ वास्तुमण्डल पर रक्खे गये प्रत्येक घट को उस-उस वास्तुदेवता (जिसके पद पर कलश हो) का नाम लेते हुये ओंकार से प्रारम्भ कर नमः से अन्त करते हुये वास्तुदेवता की पुजा (आवाहन करते हुये) करनी चाहिये । ॥१७१-१७२॥

पवित्र मन एवं आत्मा वाले, व्रत में स्थित स्थपति को शुद्ध जल पीकर उपवास रखते हुये कलश के उत्तरी भाग में कुश के बिस्तर पर, जिसके चतुर्दिक चार दीपक जल रहे हों एवं जो माङ्गलिक पदार्थों से सुशोभित हो, रात्रि में निवास करना चाहिये ॥१७३-१७४॥

मन्दिर के अग्र भाग में विधिपूर्वक चार तोरणों से सुसज्जित, चार द्वारों से युक्त याग-मण्डप निर्मित करना चाहिये । इस यागमण्डप को वस्त्रों, कुशमालाओं एवं पुष्पों से अलङ्कृत करना चाहिये । इसके मध्य भाग में याग-मण्डप के विस्तार के तीसरे भाग के माप से वेदिका का निर्माण करना चाहिये ॥१७५-१७६॥

चारो दिशाओं में चौकोर तथा दिक्कोणों में पीपल के पत्ते के सदृश कुण्ड निर्मित करना चाहिये । इन्द्र एवं ईशकोण के मध्य अष्टकोण का तीन मेखला अथवा एक मेखल से युक्त कुण्ड निर्मित करना चाहिये ॥१७७॥

कुम्भस्थापन

कुम्भ की स्थापना - स्थापक को मूर्तिरक्षक के साथ विधिपूर्वक हवन करना चाहिये । शालिधान्य द्वारा वेदि के मध्य में स्थण्डिल वास्तुमण्डल निर्मित कर बुद्धिमान व्यक्ति को बीज-मन्त्र का स्मरण करते हुये सम्यक रीति से मूर्तिकुम्भ का न्यास करना चाहिये ॥१७८-१७९॥

प्रासाद के चारो दिशाओं में वृत्ताकार कुण्ड में स्थापक को विधिपूर्वक अग्नि स्थापित करनी चाहिये ॥१८०॥

विमान (मन्दिर) को जन्म (प्रारम्भ) से लेकर स्थूपिकापर्यन्त वस्त्रों से आवृत्त करना चाहिये । स्थूपिकील को कुशा से युक्त नवीन वस्त्र से सुसज्जित करना चाहिये । ॥१८१॥

स्थापक को बलि का अन्न, खीर, यव (जौ) से पका अन्न, खिचड़ी, गुड़ एवं शुद्ध अन्न (चावल), पीला, काला एवं लाल (रंग में रंगा चावल)- ये सभी सामग्री सुवर्ण-पात्र में लेकर वास्तु-देवता के आगे रखकर दही, दूध, घी, शहद, रत्न, पुष्प, अक्षत एवं जल तथा केला से युक्त पात्र लेकर अन्य शिल्पियों के साथ रात्रि में इन पदार्थों के द्वारा वास्तुदेवता को बलि प्रदान करनी चाहिये ॥१८२-१८४॥

चक्षुर्मोक्षण

आँख खोलना - इसके पश्चात् प्रातःकाल शुभ नक्षत्र एवं करण से युक्त वेला में स्थपति को सुन्दर वेष धारण कर, पाँचों अंगों में आभूषण धारण कर, सुवर्ण-निर्मित जनेऊ तथा श्वेत (चन्दन) का लेप धारण कर, शिर पर श्वेत पुष्प से युक्त पगड़ी तथा कोरे वस्त्र को पहन कर दिशा-मूर्तियों एवं अन्य (मुर्तियों) की ओर चक्षुर्मोक्षण (आँख खोलने का कृत्य) करना चाहिये एवं इन मूर्तियों को गन्ध एवं पुष्प से युक्त कलश के जल से स्नान कराना चाहिये ॥१८५-१८७॥

प्रथमतः सोने की सुई से नेत्र-मण्डल की आकृति बना कर (तदनन्तर) तीक्ष्ण शस्त्र से तीन (नेत्र) मण्डल निर्मित करना चाहिये ॥१८८॥

ब्राह्मणों के लिये नवीन वस्त्र से अन्न के ढेर को ढँक कर बछड़े सहित गाय एवं कन्या को क्रमशः दिखाना चाहिये ॥१८९॥

सम्प्रोक्षण

सम्प्रोक्षण कार्य - इसके पश्चात स्थापक की आज्ञा से शङ्ख, काहल (पीट कर बजाया जाने वाला वाद्य) तथा तूर्य आदि वाद्यों के स्वर एवं (ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले) स्वस्ति-पाठ के साथ स्थपति को मन्दिर पर चढ़ाकर स्तूपिका से प्रारम्भ कर भूमि तक चारो दिशाओं में रेशमी अथवा सूती वस्त्र से निर्मित एवं नर (की आकृति से युक्त) ध्वज को लटकाना चाहिये ॥१९०-१९१॥

बुद्धिमान स्थपति को चन्दन एवं अगरु के जल से, सभी गन्धों से युक्त जल से, कलश के जल से एवं कुश के जल से ऊपर से चारो ओर प्रोक्षण करना चाहिये एवं संसार के स्वामी की स्तुति करनी चाहिये ॥१९२॥

स्थूपिकुम्भ

देवालयों में स्थूपिकुम्भ सुवर्ण, ताँबा, चाँदी, प्रस्तर, ईंट अथवा सुधा-इन पाँच पदार्थो के मिश्रण से निर्मित करना चाहिये । इसे कील के समान रखना चाहिये । ॥१९३-१९४॥

इसे स्थिर करते हुये स्थापित करके सुगन्धित जल से इसका प्रोक्षण करना चाहिये । विमान (देवालय) से उतरने के पश्चात गर्भगृह एवं मण्डप का प्रोक्षण करना चाहिये तथा सम्मुख खड़े होकर वास्तुदेव को प्रणाम कर इस प्रकार कहना चाहिये । ॥१९५॥

(हे ईश्वर) इस भवन की गिरने से, जल के प्रकोप से, (गजादि पशुओं के) दाँत से गिरने से, वायु के प्रकोप से, अग्नि द्वाराजलने से एवं चोरों से रक्षा कीजिये और मेरा कल्याण किजिये ॥१९६॥

रोगरहित, प्रसन्नता, धनय्क्त, कीति का विस्तार करने वाली, बड़े चमत्कारो से एवं बल से युक्त, विना उपद्रव के निरन्तर कर्म से युक्त यह पृथिवी चिरकाल तक धर्मपूर्वक रहे ॥१९७॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी देवता, क्षोणी (पृथिवी), लक्ष्मी, वाग्वधू (सरस्वती), सिंहकेतु, ज्येष्ठा, विश्वदेव तथा देवियाँ प्रजाजनों को श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करें ॥१९८॥

इस प्रकार कहने के पश्चात् स्थपति का कार्य पूर्ण हो जाता है । इसके पश्चात् स्थापक को विधि-पूर्वक यज्ञ आदि कार्य से तथा घट के जल, पञ्चगव्य एवं कुश के जल से प्रोक्षण कर (विमान को) शुद्ध करना चाहिये ॥१९९-२००॥

स्थापक को गन्ध एवं पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये तथा नैवेद्य प्रदान करना चाहिये; साथ ही देवालय के प्रधान देवता को निमित्त बना कर प्रासाद के बीज-मन्त्र का न्यास करना चाहिये ॥२०१॥

दक्षिणादान

दक्षिणा एवं दान - प्रसन-मति यजमान द्वालय के सम्मुख खड़े होकर स्थपति के सम्पूर्ण धर्म (उत्तरदायित्व) को, जो उसके ऊपर कष्ट के साथ थे, उन सबको प्रसन्न भाव से स्थापक की आज्ञा से ग्रहण करे एवं शक्ति के अनुसार स्थापक एवं स्थपति का सत्कार करे ॥२०२-२०३॥
अपने पुत्र, भाई एवं पत्नी के साथ यजमान धन, अन्न, पशु, वस्त्र, वाहन तथा भूमि के दान से एवं सोने तथा सुन्दर वस्त्रों से शेष तक्षक आदि सभी शिल्पियों को भी सन्तुष्ट करे ॥२०४-२०५॥
विमान, स्थूपिका (स्तूपिका), स्तम्भ एं मण्डप को अलङ्करणोम से युक्त, वस्त्रादि, ध्वज एवं गाय को प्रसन्न भाव से स्थपति को देना चाहिये ॥२०६॥

सम्प्रोक्षणावश्यकता

सम्प्रोक्षण की आवश्यकता - इस प्रकार से निर्मित वास्तु युगों तक नित्य वृद्धि को प्राप्त होता है । यजमान को इस लोक एवं परलोक में स्थिर फल भली भाँति प्राप्त होता है ॥२०७॥
यदि वास्तु-कृत्य अन्य विधि से होता है तो वह वास्तु फलदायी नही होता है । उस भवन में भूत, प्रेत, पिशाच एवं राक्षस निवास करते है । इसलिये प्रासाद निर्मित हो जाने पर सब प्रकार से प्रोक्षण कर्म अवश्य करना चाहिये ॥२०८॥
मण्डप में, सभा में, रङ्गमण्डप में, विहारशाला में, हेमगर्भ के सभागार में, तुलाभारकूट में, विश्वकोष्ठ में, प्रपा (जल का प्याऊ) में, धान्यगृह में तथा रसोई में विधिपूर्वक वास्तुदेव को बलिप्रदान कर पवित्र चित्त एवं आत्मा से पाँच अङ्गो में आभूषण धारण कर, नवीन वस्त्र पहन कर तथा नवीन उत्तरीय (ऊपर ओढ़ने का चादर) धारण कर सभी प्रकार के मङ्गल-स्वर के साथ जलसम्प्रोक्षण कर्म सम्पन्न करना चाहिये ॥२०९-२१२॥

सम्प्रोक्षणकाल

सम्प्रोक्षण का समय - यदि सम्प्रोक्षण-कर्म उत्तरायण मासों में किया जाय तो अति उत्तम होता है । इदि शीघ्रता हो तो दक्षिणायन मासों में भी करना चाहिये ॥२१३॥
कर्ता प्रासाद के पूरीतरह पूर्ण हो जाने पर तीन रात्रि, एक रात्रि अथवा उसी दिन वहाँ अधिवास करे तो वह महान फल प्राप्त होता है ॥२१४॥
देवालय मे एक, तीन या पाँच देवतामूर्ति हो तो एक, तीन या पाँच कलशों में मन्त्रसहित उनके नीचे सुवर्ण के साथ रत्नन को देखकर विधिपूर्वक कलशों का न्यास करना चाहिये ॥२१५॥
इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक भवन का निर्माण पूर्ण होता है तो गृहस्वामी, उसके परिवार, उसके परिजन एवं उसके गायों के वंश की वृद्धि होती है । इसके विपरीत वास्तुकार्य सम्पन्न होने पर एवं वास्तुदेवता के बलि से रहित होने पर वह निर्मित भवन अनर्थकारी होता है ॥२१६॥

मयमतम् - अध्याय १९

एक तल का विधान -

एक तल वाले भवन (देवालय) का शास्त्र के अनुसार चार प्रकार का प्रमाण संक्षेप में कहता हूँ । यह तीन हाथ से प्रारम्भ कर नौ हाथ तक एवं चार हाथ से प्रारम्भ कर दस हाथ तक विस्तृत होता है ॥१॥

इनकी ऊँचाई चौड़ाई के दस भाग में सातवें भाग के बराबर, चौड़ाई का डेढ़ गुना, चौड़ाई का तीन चौथाई (अर्थात् चौड़ाई के दुगुने से चतुर्थांश कम) या चौड़ाई का दुगुना ऊँचा (ये चार प्रकार के मान) होनी चाहिये । चार प्रकार की ऊँचाई वाले भवन की संज्ञा शान्तिक, पौष्टिक, जयद एवं अद्भुत होती है ॥२॥

इन (देवालयों) की आकृति चौकोर, गोल, आयताकार, दो कोणों के साथ गोलाई लिये, षट्कोण तथा अष्टकोण होती है । इनका शिखर भी इनकी आकृति के अनुरूप होता है ॥३॥

मुखमण्डप

देवालय के मुखभाग पर निर्मित मण्डप का माप देवालय के समान, तीन चौथाई अथवा आधा होना चाहिये ॥४॥

(देवालय के) समान मण्डप अन्तराल (मण्डप एवं मन्दिर का मध्य भाग) एवं वेशक (प्रवेश, पोर्च) से युक्त तथा सम संख्या वाले स्तम्भों से युक्त एवं सम्पूर्ण अङ्गों से अलंकृत होना चाहिये ॥५॥

अन्तराल का विस्तार डेढ़ हाथ, दो हाथ या प्रासाद के बराबर एवं उसकी लम्बाई दो दण्ड होनी चाहिये । उसका वेशन अवकाश एवं अन्तराल से युक्त हो तो उसका माप दो या तीन हाथ का होना चाहिये । वेशन के बगल में सोपान निर्मित हो एवं वह गज के सूँड़ से सुसज्जित हो ॥६-७॥

भित्तिनिष्कम्भ का मान प्रधान भवन की भित्ति के बराबर, उसका आधा या उससे चतुर्थांश कम होना चाहिये । पार्श्व भाग में दो या तीन दण्ड माप का वेशन एवं अग्र भाग में मण्डप होना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान (ऋषि) का मत है॥८॥

विस्तार, ऊँचाई एवं लम्बाई के हस्तमान में एक हाथ कम (अर्थात्) तीन चतुर्थांश, आधा अथवा चौथाई प्रमाण होना चाहिये । वहीं (प्रधान) भवन के निर्माण में अनेक शास्त्रकारों द्वारा किसी भी प्रकार की वृद्धि अथवा हानि को वर्जित किया गया है ॥९॥

भवन के पर्यायवाची नाम - विद्वानों के अनुसार भवन के पर्यायवाची शब्द ये है - विमान, भवन, हर्म्य, सौध, धाम, निकेतन, प्रासाद, सदन, सद्म, गेह, आवासक, गृ, आलय, निलय, वास, आस्पद, वस्तु, वास्तुक, क्षेत्र, आयतन, वेश्म, मन्दिर, धिष्ण्यक, पद, लय, क्षय, अगार, उदवासित तथा स्थान ॥१०-१२॥

गर्भगृहमान

गर्भगृह-प्रधान भूतिकक्ष का मान - विस्तार में गर्भगृह का प्रमाण मन्दिर के प्रमाण के तीन भाग में एक भाग, पाँच भाग में तीन भाव, सात में चार भाग, नौ में पाँच भाग, ग्यारह में छः भाग, तेरह में सात भाग, पन्द्रह में आठ भाग, सत्रह में नौ भाग या आधा होना चाहिये ॥१३-१४॥

स्थूपिकामान

स्तूपिका का प्रमाण - फलिक के पाँच भाग में दो भाग के बराबर पद्म की चौड़ाई रखनी चाहिये । पद्म की चौड़ाई के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ की चौड़ाई रखनी चाहिये । कुम्भ के विस्तार के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ के नीचे वलग्न का मान होना चाहिये । वलग्न के तीसरे भाग के बराबर कुम्भ के ऊपर कन्धर होना चाहिये । कन्धर का तीन गुना पाली का प्रमाण एवं उसके तीसरे भाग के बराबर कुड्मल का मान होना चाहिये ॥१५-१७॥

महानासी (सजावटी खिड़की) का विनिर्गम (निर्माणयोजना शिखर के विशिष्ट भाग के) बराबर, तीन चतुर्थांश अथवा आधा चौड़ा होना चाहिये । इसकी ऊँचाई उसकी चौड़ाई से तीन या चार भाग कम एवं स्कन्ध के अन्तिम भाग तक रखनी चाहिये ॥१८॥

शक्तिध्वज को उसका आधा ऊँचा अथवा तीन चौथाई प्रमाण का होना चाहिये । कन्धर की ऊँचाई के तीसरे भाग से वेदिका का उदय (प्रारम्भ) कहा गया है । क्षुद्रनासा (छोटी सजावटी खिड़की) की चौड़ाई आधा दण्ड या दो दण्ड होनी चाहिये ॥१९॥

द्वार

द्वार की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई के दश भाग में नौ भाग, आठ में नौ भाग या सात में आठ भाग के बराबर होनी चाहिये । इसकी चौड़ाई ऊँचाई की आधी होनी चाहिये । राजभवन के मध्य भाग में द्वार होना चाहिये ॥२०॥

द्वार के पाख (चौखट का पार्श्व) की चौड़ाई स्तम्भ के बराबर अथवा उससे चतुर्थांश अधिक होनी चाहिये एवं उसकी मोटाई चौड़ाई की आधी या तीन चतुर्थांश होनी चाहिये । बाहरी भाग में द्वार का बाहुल्य पद्मों से सुसज्जित होना चाहिये एवं इसकी मोटाई चौड़ाई के तीन चतुर्थांश भाग के माप की होनी चाहिये ॥२१॥

भित्ति के व्यास के बाहरी भाग के बारह भाग करने चाहिये । पाँचवे भाग में द्वार योग का मध्य भाग होना चाहिये तथा दूसरी ओर से भी इतनी ही दूरी रखनी चाहिये । इन दोनों (बिन्दुओं) के मध्य विद्वानों ने भित्तिमध्य कहा है ॥२२॥

नालमान

नाली का मान - सभी भवनों में तल के पाँच भेद होते है - जन्म का अन्तिम भाग, जगती का अन्तिम भाग, कैरव का अन्तिम भाग, गल का अन्तिम भाग एवं पट्टिका का अन्तिम भाग । इनके निचले एवं ऊपरी भाग में छिद्र होना चाहिये एवं नाली बाहर होनी चाहिये ॥२३-२४॥

बारह अङ्गुल से प्रारम्भ करते हुये तीन-तीन अङ्गुल की वृद्धि से चौबीस अङ्गुल पर्यन्त पाँच प्रकार की नाली की लम्बाई होती है ॥२५॥

आठ अङ्गुल से प्रारम्भ कर दो-दो अङ्गुल बढ़ाते हुये सोलह अङ्गुलपर्यन्त पाँच प्रकार की नाली की चौड़ाई होती है ॥२६॥

इनकी मोटाई (गहराई) चौड़ाई के बराबर, तीन चौथाई या आधी होनी चाहिये । मध्यम माप तीन, चार, पाँच या छः अङ्गुल चौड़ा एवं उतना ही गहरा होता है ॥२७॥

नाली के अग्र भाग (दूसरे छोर) की चौड़ाई मूल भाग के पाँच भाग में से तीन भाग के बराबर एवं धारा से युक्त होनी चाहिये । इसका अग्र भाग मूल भाग से कुछ नीचा (ढालदार) एवं सिंह के मुख से युक्त होता है ॥२८॥

इस प्रकार देवालय के मध्य भाग के वाम भाग में प्रणाल का निर्माण करना चाहिये । अन्तःपीठ का नाल बराबर (सतह पर) एवं बाहर होना चाहिये ॥२९॥

अलङ्करण

सज्जा - प्रासाद के सभी अङ्गों का संक्षेप में क्रमशः विस्तार, लम्बाई एवं ऊँचाई का वर्णन किया गया है । अब उसके अलङ्करण का वर्णन किया जा रहा है ॥३०॥

यदि देवालय का ग्रीवा एवं मस्तक (शीर्ष भाग) वृत्ताकार हो तो उसकी संज्ञा 'वैजयन्त' होती है । यदि देवालय के कर्णभाग (कोणों) में कूट निर्मित हों तो वह 'श्रीभोग' संज्ञक होता है । यदि मध्य भाग में भद्र हो, तो वह 'श्रीविशाल' एवं शीर्षभाग यदि अष्टकोण हो तो वह 'स्वस्तिबन्ध' संज्ञक प्रासाद होता है ॥३१॥

चार कोण वाले शीर्ष से युक्त प्रासाद 'श्रीकर', दो कोण एवं वृत्ताकार प्रासाद 'हस्तिपृष्ठ' तथा छः कोण के शीर्ष वाला प्रासाद 'स्कन्दकान्त' संज्ञक होता है । ये सभी भवन लम्बाई लिये होते है ॥३२॥
केसर संज्ञक प्रासाद में मध्य भाग में भद्र एवं शीर्षभाग में कर्णकूट, कोष्ठक एवं भद्रनासी आदि अङ्ग निर्मित होते है । इसके गल एवं मस्तक (छत, आच्छादन) वृत्ताकार अथवा चतुष्कोण होते है । मध्य-भद्रक का प्रमाण (भवन की चौड़ाई के) पाँच, सात या छः भाग के तीसरे एवं दूसरे भाग के बराबर होनी चाहिये ॥३३-३४॥

धामभेद

भवन के भेद - भवन के तीन भेद होते है - नागर, द्राविड एवं वेसर । सम, चतुर्भुज एवं आयताकार भवन नागर कहे गये है ॥३५॥
आठ भुजा (एवं कोण) तथा छः भुजा (एव कोण) वाला लम्बा भवन द्राविड़ कहा जाता है । वृत्ताकार, लम्बाई लिये वृत्ताकार, दो कोण एवं वृत्ताकार भवन वेसर कहलाता है ॥३६॥
स्तूपिका पर्यन्त चौकोर भवन को नागर कहते है । ग्रीवा से अष्टकोण विमान (भवन, प्रासाद) द्राविड होता है । ग्रीवा से वृत्ताकार भवन वेसर कहलाता है ।

विमानतलदेवता

विमान - देवालय के तलों के देवता - विमानों (देवालयों) के प्रत्येक तल में दिशाओं में देवताओं का क्रमशः न्यास करना चाहिये । पूर्व दिशा में नन्दी एवं काल के रूप में द्वारपाल का विन्यास करना चाहिये ॥३९॥
दक्षिण दिशा में दक्षिणामूर्ति को, पश्चिम दिशा में अच्युत को या लिङ्गसम्भूत को एवं उत्तर में पितामह को विन्यस्त करना चाहिये ॥४०॥
मण्डप के मध्य भाग में दक्षिण में विनायक, एवं उनके पूर्व या पश्चिम में नृत्तरूप का विन्यास विशेष रूप से करना चाहिये ॥४१॥
उत्तर भाग में कात्यायनी एवं क्षेत्रपाल को तथा स्थानक का आसन (खड़े अथवा बैठे) मुद्रा में दिशामूर्तियों का विन्यास करना चाहिये । विशिष्ट कथाओं से युक्त आकृतियों का भी नियमानुसार अङ्कन करना चाहिये । इस प्रकार मूल-तल (भूतल) के देवता-विन्यास का वर्णन किया गया । अब ऊपरी तलों के विन्यास का वर्णन किया जा रहा है ॥४२-४३॥
दूसरे तल में पूर्व दिशा में पुरन्दर या सुब्रह्मण्य को, दक्षिण में वीरभद्र को, पश्चिम में नरसिंह को एवं उत्तर में विधाता या धनद को विन्यस्त करना चाहिये । तीसरे तल में मरुद्गणों का विन्यास करना चाहिये । प्रत्येक तल में देवों, सिद्धों, गन्धर्वादिकों एवं मुनियों का विन्यास करना चाहिये । प्रत्येक तल में सोलह प्रतिमाओं का विन्यास होना चाहिये ॥४४-४६॥
ग्रीवा के नीचे एवं प्रति के ऊपर कोने-कोने पर वृषभों का विन्यास करना चाहिये । सभी देवों के वाहन का वर्णन किया गया है । सभी देवालयों में देवता के दक्षिण भाग में उनका विन्यास करना चाहिये । इस प्रकार सभी विशेषताओं से युक्त विमान (मन्दिर) सम्पतियाँ प्रदान करता है । कूट, नीड, तोरण, मध्य भद्र आदि से युक्त, सभी अलङ्करणों से सुशोभित, विविध प्रकार के अधिष्ठान, स्तम्भ एवं वेदियों आदि से युक्त देवालयों का वर्णन मेरे (मय ऋषि) द्वारा किया गया है ॥४७-४९॥

मयमतम् - अध्याय २०

(मन्दिर के) दूसरे तल के पाँच प्रकार के प्रमाण को क्रमशः संक्षेप में कहता हूँ । पाँच-छः हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ की वृद्धि से तेरह या चौदह हाथपर्यन्त उसकी ऊँचाई पूर्व-वर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये । (निचले तल के) विस्तार के छः या सात भाग करने चाहिये । उसके एक भाग को सौष्ठिक (कर्णकूट) के लिये ग्रहण करना चाहिये ॥१-२॥

कोष्ठ (मन्दिर के मध्य भाग का कूट) की लम्बाई के लिये दो या तीन भाग का प्रमाण एवं शेष भाग में हार (गलियारा) एवं पञ्जर (अलङ्करणविशेष) होना चाहिये । विमान (देवालय) की ऊँचाई को अट्ठाईस भागों में बाँटना चाहिये ॥३॥

(उपर्युक्त अट्ठाईस भाग में) तीन भाग मसूरक (अधिष्ठान), छः भाग अङ्घ्रि (भूतल), तीन भाग मञ्च, पाँच भाग अंघ्रि (तल), दो भाग मञ्च, एक भाग वितर्दिक (वेदिका), दो भाग कन्धर, साढ़े चार भाग शिकर एवं डेढ़ भाग कुम्भ के लिये होता है । यह परिकल्पना मूल से (शिखरपर्यन्त) की गई है ॥४-५॥

स्वस्तिक

(स्वस्ति देवालय का) अधिष्ठान चतुर्भुज होता है एवं कन्धर तथा मस्तक (शीर्षभाग) भी उसी प्रकार होता है । यह चार कूटों एवं चार कोष्ठों (मध्य-कूट) से युक्त होता है ॥६॥

ऊपरी भाग में आठ दभ्रनीड (सजावटी खिड़कियाँ) तथा अड़तालीस अल्पनासिक (अत्यन्त छोटे अलङ्करण-विशेष) होते है । शिखरभाग में चार बड़े आकार के नीड (सजावटी खिड़कियाँ) होते है ॥७॥

हार (चारो ओर निर्मित गलियारा) के मध्य भाग में भित्ति पर कुम्भ से निर्गत लतायें निर्मित होती है तथा तोरण, वेदिका एवं विभिन्न प्रकार के अङ्कनों से भवन सुसज्जित रहता है । यह भवन सभी देवों के अनुकूल होता है एवं इसका नाम स्वस्तिक होत है ॥८॥

यदि देवालय के सौष्ठिक (कर्णकूट) नीचे हों एवं कोष्ठक (मध्य-कूट) ऊँचा हो तथा अन्तर प्रस्तर से युक्त हो तो उसे 'विपुलसुन्दर' कहते है ॥९॥

कूट का लक्षण -

द्वितल आदि वाले विमान (देवालय) में पादोदय, (पूरे देवालय) के दश भाग होने चाहिये । एक भाग से वितर्दि, तीन भाग से अङ्घ्रि, पौने दो भाग से प्रस्तर, सवा भाग से ग्रीव तथा तीन भाग से मस्तक निर्मित होना चाहिये । अन्तर प्रस्तर से युक्त ऊँचे भवन को 'कूटशाल' कहते है ॥१०-११॥

यदि कोष्ठक नीचा हो एवं सौष्ठिक ऊँचा हो तथा अन्तर-प्रस्तर से युक्त हो तो उस भवन (देवालय) को कैलास कहते है ॥१२॥

यदि वेदी, कन्धर, शिखर एवं घट वर्तुलाकार हो, आठ कूट हो, चार शाल से युक्त हो, छप्पन नासिक (सजावटी खिड़कियों की आकृतियाँ) हों, कोष्ठक (मध्य कूट) से प्राराम्भ हुये दो या तीन दण्ड के निर्गम सौष्ठिक से सम्बद्ध होते है । समान माप वाले ग्रीवा एवं शीर्षभाग से युक्त कूट-कोष्ठ होते है । विविध प्रकार के अधिष्ठान से युक्त एवं विविध प्रकार के स्तम्भों से सुसज्जित विमान की संज्ञा 'पर्वत' होती है एवं यह सभी के अनुकूल होती है ॥१३-१५॥

देवालय के शिखर पर चार अर्धकोष्ठ हो, इनका शिरोभाग चौकोर हो एवं चार कूटों से युक्त हो, अनेक प्रकार के अधिष्ठान से युक्त हों एवं अड़तालीस अल्पनासिक हो, तो उसकी संज्ञा 'स्वस्तिबन्ध' होती है एवं यह विभिन्न अङ्गों से सुसज्जित होता है ॥१६-१७॥

यदि कोणों एवं मध्य में अन्तर-प्रस्तर से युक्त कोष्ठ हों, हारा (गलियारा) एवं अल्प-पञ्जर नीचे हो, बहत्तर अल्प-नासिक हो तथा विभिन्न अलङ्करणों से युक्त हो तो उस देवालय को 'कल्याण' कहते है ॥१८-१९॥

यदि देवालय के शिखरभाग पर अर्धकोष्ठ न हो तथा वहाँ चार नीडा (सजावटी खिड़की की आकृतिविशेष) निर्मिथो तो उसे 'पाञ्चाल' कहते है ॥२०॥

यदि देवालय की वेदी, कन्धर, शिखर एवं घट अष्ट-कोण हो तथा शिखर पर आठ महानासी निर्मित हो, तो उसकी संज्ञा 'विष्णुकान्त' होती है ॥२१॥

यदि देवालय कूट, शाला (मध्य कोष्ठ) एवं अन्तर-प्रस्तर से रहित हो, चार भुजाओं वाला हो तथा लम्बाई चौड़आई से चतुर्थांश अधिक हो, वेदी, कन्धर एवं शिखर आयताकार हो एवं तीन स्तूपियाँ हो तो उसका नाम 'सुमङ्गल' होता है ॥२२-२३॥

यदि देवालय की वेदिका, गल एवं शिरोभाग वृत्तायत (लम्बाई लिये वृत्ताकार) हो तथा सभी अङ्गों से भवन युक्त हो तो उसकी संज्ञा 'गान्धार' होती है ॥२४॥

यदि देवालय आयताकार हो तथा लम्बाई चौड़ाई से आधा भाग अधिक हो, शिरोभाग दो कोण से युक्त गोलाई लिये हो तथा मुखभाग (सामने) पर नेत्रशाला (नेत्र की आकृति का प्रकोष्ठ) हो तो उसे 'हस्तिपृष्ठ कहते है । इसका अधिष्ठान दो कोण से युक्त गोलाकार भी हो सकता है ॥२५॥

यदि देवालय का अधिष्ठान चौकोर हो एवं गर्भगृह वृत्ताकार हो तथा भवन सभी अलङ्करणों से युक्त हो तो उसकी संज्ञा 'मनोहर' होती है ॥२६॥

यदि जन्म (भवन के मूल) से लेकर कुम्भ (शिखर भाग) तक देवालय बाहर एवं भीतर से वृत्ताकार हो एवं शेष भाग पूर्ववर्णित विधि के अनुसार हो तो उसे 'ईश्वरकान्त' कहते है ॥२७॥

यदि देवालय का गर्भगृह चौकोर हो, अधिष्ठान गोलाकार हो तथा जन्म से लेकर स्तूपिकापर्यन्त भवन वृत्ताकार हो तो उसे 'वृत्तहर्म्य' कहते है ॥२८॥

यदि अधिष्ठान चौकोर हो तथा कन्धर एवं शिर षट्कोण हो एवं शेष सभी भाग पूर्ववत् हो तो उस देवालय की संज्ञा 'कुबेरकान्त' होती है ॥२९॥

दो तल वाले भवनों के प्रमाण पाँच प्रकार के होते है एवं उनके भेद पन्द्रह होते है । बुद्धिमान (स्थपति) को भवन का निर्माण उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार उनका वर्णन किया गया है ॥३०॥

पुनः धामभेद

पुनः भवन के भेद - सञ्चित, असञ्चित एव उपसञ्चित संज्ञक भवन के तीन भेद होते है ॥३१॥

उपर्युक्त भेदों को स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक कहते है । ईंटों अथवा शिलाओं से निर्मित भवन 'सञ्चित' होता है ॥३२॥

कपोत आदि जिस भवन के शीर्षभाग पर हो, उसे पुरुष भवन कहते है । ईटों या काष्ठ से निर्मित, भोग एवं आग (शिरोभाग के विशिष्ट निर्माण) से युक्त भवन स्त्रीत्वयुक्त 'असञ्चित' संज्ञक होते है

। काष्ठ अथवा ईंटों से निर्मित भोग एवं अभोग से युक्त तथा घन एवं अघन अङ्गों से युक्त भवन नपुंसक होता है । इसकी संज्ञा 'उपसञ्चित' होती है ॥३३-३४॥

मनीषियों के अनुसार खण्डभवन की स्थूपी (स्तूपिका) का मान ऊपरी तल के स्तम्भके सातवें भाग के बराबर होता है । छत की ऊँचाई (स्तम्भ के सात भाग) के तीन भाग के बराबर, गल दो भाग के बराबर एवं वितर्दिक (गल का आधार) एक भाग के बराबर होता है ॥३५॥

तोरण की ऊँचाई के लिये स्तम्भ के दश, नौ या आठ भाग करने चाहिये । उनमें क्रमशः सातवें, छठे या पाँचवे भाग को ग्रहण करना चाहिये । शेष भाग से झषांश (मछली की आकृति के सदृश गोलाई लिये पट्टिका) निर्मित करना चाहिये । इसकी चौड़ाई लम्बाई की आधी, छठवें भाग, पाँचवे भाग अथवा चौथे भाग के बराबर रखनी चाहिये ॥३६॥

नीड (सजावटी खिड़की की आकृति) की चौड़ाई उसकी ऊँचाई के बराबर होनी चाहिये । उन दोनों (तोरण एवं नीड) की परिधि स्तम्भ के मूल भाग के तीन चौथाई के बराबर होनी चाहिये । हार के मध्य, भवन-मध्य, कूट पर एवं कोष्ठ पर तोरण से अलङ्करण करना चाहिये ॥३७॥

द्वार के रक्षक का कक्ष द्वार के दोनों पार्श्वों में, द्वार के समीप अथवा पद के मध्य में होना चाहिये । इसकी ऊँचाई उत्तरमण्डपर्यन्त, खण्डपर्यन्त, पोतिकापर्यन्त अथवा तोरणपर्यन्त कही गई है । सभी भवनों में उचित रीति से प्रवेश-भाग का निर्माण युक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥३८-३९॥

मयमतम् - अध्याय २१

(त्रिभूमिविधान)

तीन तल वाले भवन का विधान - तीन तल वाले भवन के पाँच प्रकार के प्रमाण को अब संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है । सात या आठ हाथ से प्ररम्भ कर्पन्द्रह या सोलह हाथपर्यन्त दो-दो हाथ क्रमशः वृद्धि करते हुये इसे ले जाना चाहिये । यह इनका व्यास है । ऊँचाई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये ॥१॥

यदि (भूतल की चौड़ाई) सात, आठ या नौ हाथ हो तो उसके सात या आठ भाग करने चाहिये । इसके एक बाग से ऊट की चौड़ाई, दो या तीन भाग से कोष्ठ (मध्य में स्थित कोष्ठ या कूट) की चौड़ाई, आधे भाग से लम्ब पञ्जर (हारा संज्ञक मार्ग के ऊपर लटकती आक्रुति) एवं इसी के बराबर प्रमाण का हारा संज्ञक मार्ग या गलियारा होना चाहिये ॥२-३॥

ऊपरी तल (द्वितीय तल) के छः भाग करना चाहिये । एक भाग से कूट एवं उसका दुगुना चौड़ा कोष्ठक एवं मध्य में एक भाग से हारा का निर्माण करना चाहिये ॥४॥

उसके ऊपरी तल (तृतीय तल) के मध्य भाग में भद्र का निर्माण होना चाहिये । बुद्धिमान् (स्थपति) को भद्र का माप एक दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड रखना चाहिये ॥५॥

देवालय की सम्पूर्ण ऊँचाई को चौबीस भागों में विभक्त करना चाहिये । तीन भाग से धरातल (अधिष्ठान), चार भाग से अधःस्तम्भ (प्रथम तल की ऊँचाई), दो भाग से मञ्च, पौने चार भाग से

(द्वितीय तल का) अङ्घ्रिक (स्तम्भ), डेढ़ भाग से मञ्चक, साढ़े तीन भाग से तलिप (तृतीय मंजिल का स्तम्भ अथवा ऊँचाई), सवा भाग से प्रस्तर, आधे भाग से वेदी एवं गल, साढ़े तीन भाग से शिखर एवं एक बाग से घट का निर्माण करना चाहिये ॥६-८॥
देवालय मे आठ कूट (कोण के कोष्ठ), आठ नीड (कूट एवं कोष्ठ के मध्य के कोष्ठ) एवं आठ कोष्ठक (मध्य कोष्ठ) होना चाहिये । इन्हे जन्म (प्रारम्भ) से स्तूपिकापर्यन्त चौकोर बनाना चाहिये । ऊपरी तल पर सोलह अल्पनीड (छोटे कोष्ठ) एवं छियानबे अल्पनास का निर्माण करना चाहिये । अधिष्ठान, स्तम्भ एवं वेदिका आदि की आकृति विभिन्न प्रकार की हो सकती है । शीर्षभाग पर आठ अभ्रनास (सजावटी खिड़कीयाँ) होती है । कोष्ठ कूट से उन्नत हों एवं आपस में समान ऊँचाई के हों, तो वह देवालय शम्भु का वास होता है एवं यह तीन तल का देवालय 'स्वस्तिक' संज्ञक होता है ॥९-१०॥

विमलाकृतिक

देवालय की चौड़ाई के सात या नौ भाग करने पर सौष्ठिक (कोण के कोष्ठों) को एक भाग चौड़ा, शाला (मध्य का लम्बा कोष्ठ) एक या दो भाग चौड़ा तथा हारा-मार्ग को एक भाग से निर्मित करना चाहिये ॥११॥
(इस देवालय में) आठ कूट, बारह कोष्ठ, आठ नीड तथा एक सौ बीच अल्पनासिक होना चाहिये ॥१२॥
मस्तक, वेदी एवं कन्धर अष्टकोण एवं आठ नासिक होना चाहिये । 'विमलाकृतिक' नामक यह देवालय भगवान् शिव के निवासयोग्य होता है ॥१३॥
जब चौड़ाई सात या नौ हाथ हो तो उसके सात या नौ भाग करने चाहिये । कूट की चौड़ाई एक भाग हो एवं इनकी संख्या आठ हो । बारह कोष्ठ हों, आठ ऊर्ध्वपञ्जर हो, आठ गलनास हो तथा एक सौ बीस (सजावटी आकृति हो) तो उस विमान (देवालय) की संज्ञा 'विमलाकृति' होती है ॥१४॥

हस्तिपृष्ठ

ग्यारह हाथ के विस्तार को आठ भाग में विभक्त करना चाहिये । लम्बाई को विस्तार से चार भाग अधिक रखना चाहिये तथा (एक ओर) वृत्ताकार (एवं एक ओर दो कोण) होना चाहिये ॥१५॥
अधिष्ठान दो कोण (एक सिरे पर एवं दूसरे सिर पर) वृत्ताकार होना चाहिये । इसी प्रकार कन्धर एवं मस्तक (शिखर) होना चाहिये । विस्तार के आधे प्रमाण से वृत्ताकृति निर्मित करना चाहिये ॥१६॥
कोण (एवं भुजा) के बगल एवं पृष्ठ भाग के बारह भाग दो बार करना चाहिये । कूट, कोष्ठक एवं नीड के विस्तार का निर्माण एक भाग से करना चाहिये । कोष्ठक को दुगुना लम्बा तथा हारामार्ग (की चौड़ाई) एक भाग से निर्मित करनी चाहिये ॥१७॥
मुख-मण्डप का प्रमाण भवन के बराबर, तीन चौथाई या आधा होना चाहिये । मण्डप के ऊपर उसी प्रकार का अलङ्करण होना चाहिये, जिस प्रकार भवन के ऊपर होता है । सभी भवनों (देवालयों) में मण्डप को कूट एवं कोष्ठ आदि से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥१८-१९॥
अथवा त्रिवर्गसहित भवन (अर्थात् कूट आदि से रहित तीन वर्ग वाले भवन) को तोरण आदि से सजाना चाहिये । यदि मण्डप प्रधान भवन के बराबर हो तो अन्तराल नीचा होना चाहिये ॥२०॥

कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अवयव मान-सूत्र से बाहर की ओर निकले होते है । ये भाग अपने चौड़ाई के आधे अथवा उसके आधे, एक दण्ड, डेढ़ दण्ड, ढ़ाई दण्ड, तीन दण्डपर्यन्त मानसूत्र से बाहर निकले होते है । जिस भवन में इस विधि से कूटादि अङ्गों का निर्माण होता है, वह सदैव सम्पत्ति प्रदान करता है । एक सीधी रेखा (ॠजु सूत्र) से इसका प्रमाण लेना चाहिये । ॠजुसूत्र का टूटना विपत्ति प्रदान करता है । ॥२१-२२॥

ऊर्ध्व-तल (की चौड़ाई) को छः भाग मे बाँटना चाहिये । उसके पृष्ठ-भाग के दोनों पार्श्वों को बारह-बारह भाग मे बाँटना चाहिये । ऊपरी तल के चार भाग करने चाहिये । चौकोर भाग पर पहले के समान यथोचित रीति से कूट एवं कोष्ठ आदि का निर्माण करना चाहिये ॥२३-२४॥

भवन के शीर्ष भाग में सामने की ओर नेत्रशाला (नेत्र के आकार का प्रकोष्ठ) एवं वक्त्र (मुखभाग) निर्मित करना चाहिये तथा क्षुद्रनासी एवं स्तम्भ से युक्त गर्भकूट का निर्माण करना चाहिये ॥२५॥

कूट एवं कोष्ठ आदि का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये, जिससे भवन सुन्दर लगे । शिखर भाग पर तीस नासिकायें निर्मित होनी चाहिये ॥२६॥

भवन पर आठ कूट एवं आठ कोष्ट तथा बारह नीड होना चाहिये । हारा-मार्ग पर बारह क्षुद्रनीडों का निर्माण होना चाहिये ॥२७॥

विभिन्न प्रकार के मसुरक (अधिष्ठान), स्तम्भ एवं वेदिका आदि से भवन को अलङ्कृत करना चाहिये । अधिष्ठान उपपीठ से युक्त हो अथवा केवल अधिष्ठान हो । यह 'हस्तिपृष्ठ' नामक भवन सभी देवों केलिये अनुकूल होता है ॥२८॥

<u>स्तम्भतोरण</u>

स्तम्भ की ऊँचाई के दो तिहाई भाग के बराबर (स्तम्भतोरण) की ऊँचाई रखनी चाहिये एवं इसके सभी अङ्गों का निर्माण करना चाहिये । इसे पोतिकाविहीन तथा वीरकाण्ड के ऊपर मण्डि से युक्त, उत्तर-वाजन, अब्ज-क्षेपण (पट्टिका पर निर्मित पद्मपुष्प) एवं निम्न-वाजन से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥२९-३०॥

उसके ऊपर झष-काण्ड (मछली की आकृति वाली गोलाई-युक्त पट्टिका) विभिन्न प्रकार के पत्रों से सुसज्जित होना चाहिये । इसे तोरण की आकृति से युक्त एवं कन्धर पर कमल की नाल अङ्कित होनी चाहिये । सभी अलङ्करणों से युक्त 'स्तम्भतोरण' का वर्णन किया गया है ॥३१॥

दो स्तम्भों के मध्य में, हारा-मार्ग पर, कर्ण-प्रासाद के मध्य भाग में, शाला (कोष्ठ) के मध्य के अन्तराल पर सभी भवनों में (स्तम्भ-तोरण का प्रयोग करना चाहिये) ॥३२॥

सभी अवयवों से युक्त दोनों पार्श्वों में स्थित स्तम्भ का तल (ऊँचाई) समान होना चाहिये । वीर-काण्ड अग्र भाग में उत्तर एवं वाजन की स्थापना करनी चाहिये । वाजन के ऊपर दल (पुष्प-पत्र आदि) एवं क्षेपण की स्थापना करनी चाहिये । तोरण के अग्र भाग में नक्र (मकर) एवं पत्र आदि की रचना करनी चाहिये । इस प्रकार के तोरण की देवालय, मण्डप, भवन या अन्य भवन में स्थापना करनी चाहिये । इसमें स्तम्भ की संख्या अयुत (एक) होनी चाहिये ॥३३॥

पुनः हस्तिपृष्ठ

जब मसूरक (अधिष्ठान) आयताकार हो तो उसकी चौड़ाई के आठ भाग एवं लम्बाई के दस भाग करने चाहिये । कूट, कोष्ठक एवं नीड की संरचना एक-एक भाग से करनी चाहिये ॥३४-३५॥

एक भाग से हारा-मार्ग बनाना चाहिये । इसके ऊपर के तल की चौड़ाई के छः भाग होने चाहिये तथा लम्बाई को दो भाग अधिक रखना चाहिये एवं उसके चार भाग करने चाहिये ॥३६॥

वेदिका, गल एव मस्तक आयताकार; किन्तु दो कोण वाला वृत्ताकर (आयताकार आकृति के एक सिरे पर दो कोण हो एवं दूसरा सिरा गोलाई लिये हो) होना चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अङ्गों को पूर्ववर्णित रीति से निर्मित करना चाहिये ॥३७॥

विविध प्रकार के अधिष्ठानों से एवं विभिन्न प्रकार के स्तम्भों से अलङ्कृत होना चाहिये । स्तम्भों के ऊपर स्वस्तिबन्धन से सुशोभित नासी (सजावटी खिड़की) होनी चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को बल के अनुरूप एवं यथोचित रीति से भवन का निर्माण करना चाहिये । प्राचीन मनीषियों ने इस भवन (देवालय) को भी 'गजपृष्ठ' कहा है । सभी देवालयों में सम संख्या का प्रयोग प्रमाण के लिये करना चाहिये ॥३८-३९॥

भद्रकोष्ठ

तेरह हाथ की चौड़ाई को नौ भागों में बाँटना चाहिये । गर्भगृह को तीन भाग से एवं गृहपिण्डी (भित्ति) एक भाग से बनानी चाहिये । अन्धार (अलिन्द, बरामदा) को एक भाग से तथा एक भाग से उसके चारो ओर अन्धारिका (अलिन्द के बाहर की दीवार) बनानी चाहिये ॥४०-४१॥

एक भाग से सौष्ठिक एवं कोष्ठ का विस्तर रखना चाहिये । इसकी लम्बाई चौड़ाई से तीन भाग अधिक होनी चाहिये । आधे भाग से नीड का विस्तार तथा शेष भाग से हारामार्ग निर्मित होना चाहिये ॥४२॥

कोष्ठ के मध्य में तीन दण्ड के प्रमाण से निर्गमन (बाहर की ओर निकला भाग) से युक्त नासी होनी चाहिये । ऊपरी तल के छः भाग करने चाहिये । उसके एक भाग से कूट निर्मित करना चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई दुगुनी होनी चाहिये । एक भाग से पञ्जर से युक्त हारा होनी चाहिये । उसके ऊपरी भाग (तल) के तीन भाग करने चाहिये । मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम होना चाहिये ॥४३-४४॥

यदि अधिष्ठान चौकोर हो तो गल तथा शिखर अष्टकोण होना चाहिये । प्रथम तल के चारो कोनों पर कूट होना चाहिये एवं शिरोभाग चौकोर होना चाहिये ॥४५॥

ऊपरी तल पर सौष्ठिकों (कोष्ठों) का शीर्ष अष्टकोण होना चाहिये । इसी प्रकार आठ कूट, नीड एवं कोष्ठक होना चाहिये ॥४६॥

इसी प्रकार क्षुद्रनीड होना चाहिये । गल-नासिकायें चौसठ होनी चाहिये । नासिकाओं का अलङ्करण स्वस्तिक की आकृति का होना चाहिये । इस भवन की संज्ञा 'भद्रकोष्ठ' उचित ही है ॥४७॥

जब प्रत्येक ऊपरि तल में वृत्ताकर कर्ण-कूट निर्मित हो, शिखर वृत्ताकार हो तथा चार नासियों से युक्त हो, तो उस देवालय को 'वृत्तकूट' कहते है । यह देवालय सर्वदा देवों के अनुकूल होता है ॥४८-४९॥

सुमङ्गल

यदि देवालय चार भुजाओं वाला आयताकार हो तथा उसकी लम्बाई चौड़ाई से आठ भाग अधिक हो, चार भुजाओं वाला कर्णकूट हो एवं उसका शिखर वृत्तायताकार (दीर्घ-वृत्त के आकार का) हो तथा कोष्ठभद्र न हो एवं शेष पूर्ववर्णित अवयव निर्मित हो तो तीन स्तूपिकाओं से युक्त इस देवालय की संज्ञा 'सुमङ्गल' होती है । ॥५०-५१॥

गान्धार

देवालय का पन्द्रह हाथ व्यास होने पर उसके पन्द्रह भाग करने चाहिये । चार भाग से गर्भगृह, एक भाग से अन्धारी (भित्ति की मोटाई), एक भाग से अलिन्द, एक भाग से खण्डहर्म्य, एक भाग से कूट, एक भाग से कोष्ठ एवं एक भाग से पञ्जर निर्मित करना चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई उसकी चौड़ाई से दुगुनी होनी चाहिये, ऐसा बुद्धिमानों का मत है ॥५२-५३॥

ऊपरी तल के छः भाग होने चाहिये । सौष्ठिक की चौड़ाई एक भाग होनी चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई दुगुनी होनी चाहिये एवं हारा एक भाग से होनी चाहिये । उसके ऊपर के तल का चार भाग करना चाहिये एवं दो भाग से मध्य-निर्गम निर्मित करना चाहिये ॥५४-५५॥

इसका माप एक दण्ड, डेढ़ दण्ड या दो दण्ड होना चाहिये । अधिष्ठान चौकोर होना चाहिये एवं इसी प्रकार कन्धर (गल) तथा शीर्ष होना चाहिये ॥५६॥

कूटों की संख्या आठ हो एवं इसी प्रकार नीड एवं कोष्ठक भी होना चाहिये । ऊर्ध्व भाग में वर्षस्थल (जल का स्थान) से युक्त आठ लम्बनीड का निर्माण करना चाहिये ॥५७॥

स्वस्तिक के आकार की नासिका सभी स्थलों पर सुशोभित होती है । विभिन्न प्रकार के मसूरक (अधिष्ठान), स्तम्भ, वेदी, जालक (झरोखा) एवं तोरण इस भवन के अनुकूल होते है ॥५८॥

यदि कूट एवं कोष्ठ ऊँचे एवं अन्तर-प्रस्तर (आधार-वेदिका) से युक्त हो, गल एवं शिर अष्टकोण हों तो ऐसे देवालय को 'गान्धार' कहते है ॥५९॥

श्रीभोग

यदि वेदी, कन्धर एवं शिखर गोलाकार हो तथा अन्य अङ्ग पूर्व-वर्णित विधि के अनुसार हो तो उस देवालय की संज्ञा 'श्रीभोग' होती है ॥६०॥

कूटकोष्ठ

वृत्ताकार, वृत्तायताकार (लम्बाई-युक्त गोलाई), दो कोण वाले (एवं दूसरे सिरे पर) वृत्ताकार, आठ कोण एवं छः कोण वाले भवन में प्रत्येक तल में कूट, कोष्ठक एवं नीड होना चाहिये । इनके ऊपर खण्ड-हर्म्यक (लम्बी सजावटी कक्ष की आकृति) भी हो, जो कूट, कोष्ठ तथा नीडों से सुसज्जित हो ॥६१॥

दो कोण वाले वृत्ताकर एवं वर्तुलाकार भवन में भीतरी भाग में सीधे भाग से कुछ कम हो सकता है या बराबर माप हो सकता है । ऊपरी तल निचले तल से आठ या दश भाग कम हो सकता है । जिस रीति से भवन सुन्दर लगे एवं दृढ़ हो, उस रीति का प्रयोग बुद्धिमान स्थपति को करना चाहिये ॥६२-६३॥

पुनः धामभेद

पुनः भवन के भेद - देवालय दो प्रकार के होते है - अर्पित एवं अनर्पित । अर्पित देवालय में अलिन्द नही होता है एवं अनर्पित में अलिन्द होता है । इस अल्पक्रम का प्रयोग सभी देवालयों में बुद्धिमान स्थपति को करना चाहिये ॥६०-६५॥

नालीगृह

गर्भगृह - गर्भगृह अथवा नाली-गृह का प्रमाण देवालय का तीसरा भाग, पाँच भाग में तीन भाग, सात में चार भाग, नौ में पाँच भाग, ग्यारह में छः भाग, तेरह में सात भाग, पन्द्रह में आठ भाग, सत्रह में नौ भाग अथवा मन्दिर का आधा होना चाहिये ॥६६॥

वेदिका

भवन के अवयवों के नीचे, कूट एवं कोष्ठ आदि के नीचे एवं ग्रीवा के नीचे वेदिका निर्मित करनी चाहिये । हाराभाग के नीचे वेदिका का निर्माण हो भी सकता है तथा नही भी हो सकता है । वहाँ नीड एवं अल्प-नास का निर्माण (ऊपरी भाग में) होना चाहिये ॥६७॥

तोरणादिविधान

तोरण आदि का विधान - तोरण तीन प्राकर के होते है - पत्र तोरण, मकर-तोरण एवं चित्र-तोरण । अब इनकी सज्जा का वर्णन किया जा रहा है ॥६८॥

उगते हुये चन्द्रमा के समान एवं पत्रों से अलङ्कृत तोरण को 'पत्रतोरण' कहते है । मध्य में दो मकरों के मुख पर स्थित पूरिन (शिव) हो एव तोरण पर विविध प्रकार की लतायें निर्मित हो तो वह 'मकरतोरण' होता है ॥६९॥

(चित्रतोरण में) मध्य भाग में पूरिन (शिव) स्थित रहते है, जिन्हे नक्र-तुण्ड (मकरों के मुख का अग्र-भाग) दोनों ओर से पकड़े रहता है । दोनों मकर-मुखों से विद्याधर, भूत, सिंह, व्याल, हंस एवं बच्चे निकलते है जो पुष्पों की माला, अन्य मणिबन्ध आदि आभूषणों से सुसज्जित रहते है । इस तोरण की संज्ञा 'चित्रतोरण' है तथा यह देवों एवं राजाओं के लिये (देवालय एवं राज-भवन में) प्रशस्त होता है ।

इस तोरण की गुहाओं (सजावटी खिड़कियो के भीतर का कक्षनुमा स्थान) में प्रतिमायें होती है । तोरण के दोनो पार्श्वो में स्तम्भ होते है एवं नीचे उत्तर होते है । ॥७३॥

स्तम्भ की ऊँचाई को पाँच, छः या सात भागों में बाँटना चाहिये । दो भाग तोरण के ऊर्ध्व भाग के लिये एवं शेष भाग स्तम्भ के लिये छोड़ना चाहिये । स्तम्भ चौकोर, अष्टकोण या वृत्ताकार होना चाहिये । यह कुम्भ एवं मण्डि से युक्त एवं पोतिका के विना भी हो सकता है । इसके अतिरिक्त उत्तर, वाजन, अब्ज-क्षेपण एवं क्षुद्र-वाजन निर्मित होती है ॥७४-७५॥

पोतिका के ऊपर या वीरकाण्ड के ऊपर (स्तम्भ की) सन्धि के ऊर्ध्व भाग पर मकर-विष्टर (मकराकृति ढलान) निर्मित करना चाहिये ॥७६॥

तोरण की ऊँचाई की आधी उसकी चौड़ाई रखनी चाहिये (अथवा) तीन, चार या पाँच दण्ड तोरण का विस्तार रखना चाहिये । (अथवा) तोरण की ऊँचाई द्वार के बराबर हो एवं चौड़ाई दोनों स्तम्भों के मध्यभाग के बराबर होनी चाहिये । ऊपरी भाग में मकर के आकार का उत्तर निर्मित करना चाहिये, जिस पर अष्ट-मङ्गल पदार्थ अङ्कित हो । फलक पर पञ्चवक्त्र (शिव) अङ्कित हो एवं ऊर्ध्व भाग में शूल निर्मित हो । ऊर्ध्व भाग में छत्र, ध्वज, पताका, श्री, भेरी, कुम्भ, दीप एवं नन्द्यावर्त आकृति (स्वस्तिक) सभी पर इन अष्टमङ्गल चिह्नो का अङ्कन होना चाहिये । इस देवता आदि के (भवनों में) चार प्रकार के तोरणों के भेद वर्णित है ॥७७-७९॥

पद्मासन (पद्म-फलक) के ऊपर कुम्भ के तिरछे (पार्श्व में) सुन्दर लता की आकृति होनी चाहिये । उसके ऊपरी फलक के ऊर्ध्व भाग में कुम्भ की लता के अग्र भाग में पद्म-पुष्प अङ्कित होना चाहिये ॥८०-८१॥

पद्म, कुम्भ एवं लता तथा अन्य सज्जाओं का भी अङ्कन होना चाहिये । ऊपरी जोड़ के ऊपर वीरकाण्ड होना चाहिये । ऊर्ध्व भाग में स्तम्भकुम्भलता एवं स्तम्भतोरण होना चाहिये । देवालय एवं उससे भिन्न (मनुष्य-आवास) में हारा-मार्ग का निर्माण करना चाहिये ॥८२-८३॥

'वृत्तस्फुटित' देवालयों का अलङ्करण होता है । इसकी लम्बाई तोरण के स्तम्भ के बराबर होती है । इसकी चौड़ाई छः, आठ, दश, बारह या चौदह माप (मात्रक) की होनी चाहिये तथा निष्क्रान्त (बाहर निकला भाग) चौड़ाई का आधा, दो तिहाई या एक तिहाई होना चाहिये । इसका आच्छादन गोलाकार होता है । ऊर्ध्व भाग कन्धर (गल)से युक्त होता है, जिस पर 'शुकनासि' निर्मित होती है ॥८४-८५॥

सीढ़ी - प्रत्येक तल में बुद्धिमान व्यक्ति को सीढ़ी का निर्माण करना चाहिये । इसका मूल (प्रारम्भ, प्रकार) तीन प्रकार का सम्भव है - चौकोर, गोलाकार या आयताकार । सीढ़ीयोंके चार प्रकार होते है -त्रिखण्ड, शङ्खमण्डल, वल्ली मण्डल, एवं अर्धगोमूत्र ॥८६-८७॥

मूल (प्रारम्भ) से ऊपर तक चौड़ाई में क्रमशः क्षीण होने वाला सोपान 'शङ्खमण्डल' है । वल्लीमण्डल सोपान की संरचना वृक्ष पर चढ़ी हुई (गोलाई में लिपटी हुई) लता के समान की जाती है । अश्वपाद (अश्व के खुर अथवा अर्धचन्द्र का प्रथम सोपान पट्टी) के ऊपर से प्रारम्भ होकर दक्षिण की ओर मुड़ते हुये दो दण्ड से लेकर सात दण्डपर्यन्त सोपान की चौड़ाई हो सकती है । अश्वपाद का विस्तार सोपान के प्रमाण से दुगुना से लेकर चार गुना तक होता है ॥८८-९०॥

सोपान-पट्टियों के मध्य की ऊँचाई शयित व्यास (लेटाई गई पट्टियों की चौडाई) की चौथाई, आधी या तीन चौथाई होनी चाहिये । गज, बच्चों एवं वृद्धो को ध्यान में रखते हुये सोपान-पट्टियों को बराबर भागों में बाँटना चाहिये (अर्थात उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि पूर्व-निर्धारित प्रमाण में हो) । सोपान के बिछे फलक का व्यास (गहराई) सोलह से अट्ठारह अङ्गुल होना चाहिये एवं ऊँचाई उसके छठे भाग के बराबर होनी चाहिये । इस प्रकार सोपान का निर्माण करना चाहिये ॥९१-९२॥

हस्त की चौड़ाई दो दण्ड एवं मोटाई उसकी चतुर्थांश होनी चाहिये । स्थित (खड़ी स्थिति) एवं शायिन (लेटी स्थिति) वाले फलकों को हस्त में दृढतापूर्वक बैठाना चाहिये । (हस्त सीढ़ी के पार्श्व का एक अङ्ग है) ॥९३॥

सोपानों की संख्या विषम होनी चाहिये । ये गुप्त (भित्ति आदि में छिपी) या प्रकट हो सकती है । मण्डप आदि में बाहर की ओर एक भित्ति (सीढ़ी का एक विशेष भाग) निकली होनी चाहिये ॥९४॥

सभी वर्ण वाले व्यक्तियों के भवन में सीढ़ी दक्षिण (दाहिनी) की ओर घूमनी चाहिये । यह शुभ होता है । इसके विपरी (बाँयी ओर मुड़ना) विनाशकारक होता है ॥९५॥

अधिष्ठान पर चढ़ने के लिये निर्मित सोपान मुख एवं दोनों पार्श्वों की ओर होना चाहिये । हस्तिहस्त (सीढ़ी का एक भाग, सम्भवतः रेलिङ्ग) का निर्माण अश्वपाद से लेकर फलक (ऊपर फलक) तक होना चाहिये ॥९६॥

अधिष्ठान का सोपान उसके स्तम्भ-प्रस्तर के बराबर (ऊँचा) होना चाहिये । इस विधि से निर्मित सोपान सम्पत्ति-कारक होता है ॥९७॥

इस प्रकार देवालय एवं मनुष्यों के आवास के अनुरूप तोरण एवं सोपान के भेद एवं आकार का वर्णन किया गया । वास्तु-विद्या के ज्ञाता को भवन के अनुसार उचित रीति से इनकी योजना बनानी चाहिये ॥९८॥

इस प्रकार इनके (भवन के) तीन भेद- नागर, द्राविड एवं वेसर होते है, जो क्रमशः सत्त्व, रजस एवं तमस के प्रतीक है । ये (मनुष्यों में) ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय) एवं वैश्य के तथा (देवों में) हरि, विधाता एवं शिव के (भवन के लिये) अनुकूल होते है ॥९९॥

मयमतम् - अध्याय २२

चार तल से लेकर बहुतलों के देवालयों का विधान -

चार तल वाले भवन (देवालय) के पाँच प्रकार के प्रमाणों का संक्षेप में क्रमानुसार वर्णन कर रहा हूँ । इसका व्यास तेरह या चौदह हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इक्कीस या बाईस हाथ तक जाता है एवं भवन की ऊँचाई पूर्वोक्त नियम के अनुसार रक्खी जाती है ॥१॥

सुभद्रकम्

विस्तार एवं ऊँचाई के प्रमाण से भवन के भागों की चर्चा कर रहा हूँ । तेरह हस्त के व्यास को बराबर-बराबर आठ भागों में बाँटना चाहिये । एक भाग से कूट का विस्तार, दो भाग से शाला का विस्तार एवं एक भाग से पञ्जर का विस्तार करना चाहिये । उसके ऊपर (दूसरे तल) को भी आठ भागों में बाँटना चाहिये । सभाकक्ष, शाला एवं पञ्जर के ऊपर पूर्ववर्णित (कूटादि) का निर्माण करना चाहिये ॥२-४॥

ऊपरी भाग (तीसरी मञ्जिल) के छः भाग करने चाहिये । एक भाग से कूट का विस्तार, दो भाग से कोष्ठक की लम्बाई एवं आधे भाग से नीड़ का माप करना चाहिये ॥५॥

उसके ऊपर (के तल) के तीन भाग करना चाहिये । मध्य का भाग एक अंश (आधा) रखना चाहिये एवं निर्गम का माप एक दण्ड रखना चाहिये । बुद्धिमान स्थपति को ऊँचाई के उन्तालीस भाग करने चाहिये ॥६॥

(प्रथम तल में) ढ़ाई भाग से अधिष्ठान, पाँच भाग से स्तम्भ की लम्बाई (प्रथम तल के भवन की ऊँचाई), (द्वितीय तल में) इसके आधे माप की प्रस्तर की ऊँचाई एवं पौने पाँच भाग से (तल की) स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये । (तीसरे तल में) सवा दो बाग से मञ्चक और उसके दुगुने प्रमाण से जङ्घा होनी चाहिये । इसके ऊपर (चौथे तल में) दो भाग से प्रस्तर एवं सवा चार भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये । इसके ऊपर सवा एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से वेदिका, गल की ऊँचाई दो भाग से, शिखर सवा चार भाग से तथा शेष भाग से शिखा का प्रमाण रखना चाहिये । पूरा भवन भूतल से चौकोर होता है ॥७-१०॥

इस भवन में बारह सौष्ठी, बारह कोष्ठं एवं पञ्जर शिखर पर चार नासी होनी चाहिये एवं अल्पनासियों से अलङ्कृत होना चाहिये । तल के नीचे (अधिष्ठान) पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होना चाहिये तथा स्तम्भ, अलङ्करण एवं तोरण निर्मित होना चाहिये । सभी अलङ्करणों से युक्त इस भवन (देवालय) की संज्ञा 'सुभद्रक' होती है । ॥११-१२॥

श्रीविशाल

जिस देवालय के (कोणों पर तथा मध्य में) कूट एवं कोष्ठ आदि हो तथा बीच-बीच में भवन की छत गोलाई लिये हो, कोणकोष्ठ भी मण्डलाकार हो, गर्भगृह भवन के विस्तार के आधे पर (मध्य) स्थित हो, भीतर की भित्ति की मोटाई शेष का तृतीयांश हो तथा यही माप बाहर की भित्ति (अन्धार

हार) का होना चाहिये । इस भवन के अनुरूप विविध प्रकार के अधिष्ठान स्तम्भ एवं वेदि आदि होते है एवं इस देवालय की संज्ञा 'श्रीविशाल' होती है ॥१३-१४॥

भद्रकोष्ठ

भवन के पन्द्रह हाथ के व्यास को नौ भागों में बाँटना चाहिये । तीन भाग से गर्भगृह की चौड़ाई रखनी चाहिये । भीतरी भित्ति की मोटाई के लिये एक भाग एवं चारो ओर अलिन्द की चौड़ाई के लिये एक भाग तथा खण्डहर्म्यक के लिये एक भाग रखना चाहिये ॥१५-१६॥

सभा, शाला एवं नीड की चौड़ाई एक-एक अंश से रखनी चाहिये । इनकी लम्बाई चौड़ाई की तीन गुनी होनी चाहिये । इनकी चौड़ाई के माप से इनका निर्गम निर्मित करना चाहिये । शाला के मध्य भाग में महानासी निर्मित होनी चाहिये, जिसकी चौड़ाइ एवं गहराई एक भाग माप की हो । सभा, कोष्ठक एवं नीडों के मध्य आधे भाग से हारक (हारामार्ग) निर्मित होना चाहिये ॥१७-१८॥

ऊपरी (दूसरे) तल की चौड़ाई को आठ भागों में बाँटना चाहिये । एक भाग से कूट एवं एक भाग से कोष्ठक रखना चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये । कूट एवं शाला के मध्य में एक भाग से नीड की रचना करनी चाहिये । उसके ऊपर (तृतीय बल) के छः भाग करने चाहिये एवं कूट तथा कोष्ठक का निर्माण एक भाग से करना चाहिये ॥१९-२०॥

(कूट एवं कोष्ठक की) लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये । इनके मध्य में आधे भाग से पञ्जर होना चाहिये । इसके ऊपरी भाग के चार भाग होने चाहिये । मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम होना चाहिये । कर्णकूट अष्टकोण हों एवं कोष्ठक क्रकरी (दिशाओं में कोण) हो । महाशिखर अष्टकोण हो तथा आठ नासियों से अलङ्कृत हो । कूट, कोष्ठक एवं नीड की संख्या, विस्तार एवं ऊँचाई आदि के माप पूर्वोक्त रीति से होने चाहिये । चार तल वाला यह देवलय 'भद्रकोष्ठ' संज्ञक होता है ॥२१-२३॥

सत्रह हाथ के व्यास को दश भागों में बाँटना चाहिये । चार भाग से नालीगृह (गर्भगृह), एक भाग से अन्धारिका (भीतरी भित्ति), एक भाग से अलिन्द एवं एक भाग से चारो ओर खण्ड-हर्म्यक का निर्माण करना चाहिये ॥२४-२५॥

कूट, कोष्ठ एवं नीड की रचना एक-एक भाग से करनी चाहिये । कोष्ठ की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी हो एवं शेष भाग से पञ्जरयुक्त हारा का निर्माण करना चाहिये ॥२६॥

इसके ऊपर (दूसरे तल) जलस्थान को छोड़ कर आठ भाग करना चाहिये । एक भाग से कूट की चौड़ाई रखनी चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये । हारा के मध्य में एक भाग से लम्ब पञ्जर (लटकती हुई सजावटी आकृति) होनी चाहिये । इसके ऊपर (तीसरे तल पर) छः भाग करने चाहिये । एक भाग से सौष्ठिक का विस्तार करना चाहिये ॥२७-२८॥

कोष्ठक की लम्बा (चौड़ाई की) दुगुनी होनी चाहिये । हारामार्ग में क्षुद्र-पञ्जर होना चाहिये । उसके ऊपर (चतुर्थ तल पर) के तीन भाग होने चाहिये । मध्य भाग में एक दण्ड का निर्गम निर्मित होना चाहिये ॥२९॥

इस भवन (देवालय) का अधिष्ठान चौकोर होना चाहिये एवं गल तथा मस्तक आठ कोण का होना चाहिये । बारह कोष्ठक, बारह सौष्ठिक एवं आठ पञ्जर होना चाहिये । आठ लम्बपञ्जर एवं सोलह क्षुद्रनीड होना चाहिये । गल पर आठ नासी हों एवं कोष्ठक कुछ ऊँचे हो । विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ, वेदी, जालक (झरोखा, रोशनदान) एवं तोरण हों । नाना प्रकार के अलङ्करणों एवं

विभिन्न प्रकार के अङ्कनों से युक्त हो । अधिष्ठान उपपीठ से युक्त हो या केवल मसूरक हो । स्वस्तिक की आकृति निर्मित हो एवं नासिकाओं से सुसज्जित हो । ऊँचे भाग की संरचना पूर्व-वर्णित विधि से हो । इस देवालय को 'जयावह' संज्ञा दी गई है ॥३०-३३॥

भद्रकूट

उन्नीस हाथ की चौड़ाई को दश भागों में बाँटा जाता है । चार भाग से गर्भगृह, एक भाग से भित्ति की मोटाई, एक भाग से अन्धार, एक भाग स चारो ओर खण्डहर्म्यक, एक-एक भाग से कूट, कोष्ठक एवं नीड की चौड़ाई रखनी चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये तथा एक भाग से हारा-मार्ग की रचना होनी चाहिये ॥३४-३६॥

कपोतपञ्जर

सौष्ठिक का व्यस मध्य में पाँच में से दो भाग से निर्मित होना चाहिये । एक भाग से विनिष्क्रान्त का निर्माण होना चाहिये, जो दो स्तम्भों से युक्त हो । यह उपपीठ, अधिष्ठान, मञ्च, वितर्दिक, कन्धर एवं शिरोभाग से युक्त हो तथा सभी अलङ्करणों से युक्त हो । पादुक से उत्तर के मध्य नौ भाग से उपपीठ, दो भाग ऊँचा मसूरक, उनका दुगुना ऊँचा स्तम्भ, आधे भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, आधे भाग से वेदिका तथा उत्तर से प्रारम्भ कर कपोत तक गल का निर्माण करना चाहिये ॥३७-४०॥

पञ्जर की आकृति से युक्त एवंकपोत से विनिर्गत (कपोतपञ्जर) होता है । जिस प्रकार अच्छा लगे एवं ठीक हो, उस प्रकार शक्ति-ध्वज से युक्त होना चाहिये । यह कपोतपञ्जर सभी प्रकार के देवालय के अनुकूल होता है । इसे हारा के या शाला के मध्य में निर्मित करना चाहिये ॥४१-४२॥

पुनः भद्रकूट

कूट, कोष्ठक एवं नीड अन्तर-प्रस्तर से युक्त होते है । इसके ऊपर जल-स्थल को छोड़ कर आठ भाग बचते है । एक भाग से सौष्ठिक का निर्माण होना चाहिये । कोष्ठक की लम्बाई (चौड़ाई की)दुगुनी होनी चाहिये । उनके मध्य में पञ्जर होना चाहिये । उसके ऊपर छः भाग करना चाहिये । सौष्ठिक एवं कोष्ठ पहले की भाँति होने चाहिये । इसके ऊपरी भाग में जो योजना 'विजय' के लिये कही गयी है, वही यहाँ भी होनी चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अङ्गों की संख्या पूर्व-वर्णित होनी चाहिये । महानीड की संख्या सोलह होनी चाहिये । इस देवालय की संज्ञा 'भद्रकूट' होती है ॥४३-४५॥

मनोहर

यदि भवन के अलङ्करण भिन्न हों एवं शालाओं के मध्य में भद्रक हों, ग्रीवा एवं शिरोभाग गोलाई लिये हों तो इस देवालय का नाम 'मनोहर' होता है ॥४६॥

आवन्तिकम्

यदि अलङ्करण भिन्न हों, कन्धर एवं शिरोभाग चौकोर हो, विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ एवं वेदिका आदि से अलङ्कृत हो तो इस देवालय की संज्ञा 'आवन्तिक' होती है । यह भवन शिव-मन्दिर के लिये उपयुक्त होता है ॥४७-४८॥

सुखावह

यदि विस्तार इक्कीस हाथ हो तो उसके दश भाग करने चाहिये । चार भाग से नाली (गर्भगृह), एक भाग से चारो ओर भीतरी भित्ति की मोटाई, एक भाग से अन्धार, उसके चारो ओर एक भाग से हारामार्ग का विस्तार तथा एक भाग से कूट, नीड एवं कोष्ठक का विस्तार रखना चाहिये । शाला की

लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये। हारा-मार्ग की चौड़ाई एक भाग से रखनी चाहिये। वातायन (खिड़की, झरोखा) एवं मकर-तोरण से सज्जा करनी चाहिये। इसके ऊपरी भाग में जल-भाग को छोड़ कर आठ भाग करना चाहिये। कूट, नीड एवं कोष्ठक का विस्तार एक भाग से रखना चाहिये ॥४९-५०॥

शाला की लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी होती है। उसके ऊपर (के तल के) छः भाग होते है। सौष्ठी की चौड़ाई एक भाग से एवं उसकी लम्बाई उसके दुगुनी होती है। कोष्ठ एवं नीड की चौड़ाई आधे भाग से होनी चाहिये। उसके ऊपर के (तल के) चार भाग होने चाहिये एवं दो भाग से मध्य-भद्र की रचना करनी चाहिये ॥५१॥

दण्ड-प्रमाण से निर्गम होना चाहिये। इसके ऊपर भद्रनीड निर्मित होना चाहिये। गल एवं नासिक ढ़ाई दण्ड चौड़ा होना चाहिये। कन्धर, वितर्दिक एवं मस्तक गोलाई लिये होना चाहिये। आठ अर्धनासिक एवं आठ अल्पनासिक होना चाहिये ॥५२॥

प्रथम तल में कूट, नीड एवं कोष्ठक मध्यम मञ्च (प्रस्तर) से युक्त एवं ऊँचे हो। इसके ऊपर शाला (मध्य कोष्ठ) उन्नत हो, इसके ऊपर ऊँचा ऊर्ध्व-कूट हो, जो गोलाई लिये हो। मध्य में शीर्ष-भाग आठ पट्टो वाला हो। प्रथम तल मेंकूट का शिखर चौकोर हो एवं वहाँ ऊपर विना किसी खुले स्थान के अल्प-नास होना चाहिये। विभिन्न प्रकार के मसूरक, स्तम्भ एवं अलङ्करणों से युक्त इस देवालय की संज्ञा 'सुखावह' होती है ॥५३-५४॥

पाँच तल के देवालय का विधान - पाँच तल के देवालय की ऊँचाई को अड़तालीस बराबर भागों में बाँटना चाहिये। पौने तीन भाग से कुट्टिम, साढ़े पाँच भाग से चरण (स्तम्भ, द्वितीय तल की ऊँचाई), ढ़ाई भाग से मञ्च, सवा पाँच भाग से पादक (स्तम्भ, द्वितीय तल की ऊँचाई) ढाई भाग से प्रस्तर, पाँच भाग से तलिप (तृतीय तल की ऊँचाई), सवा दो भाग से मञ्च, पौने पाँच भाग से अङ्घ्रि (स्तम्भ, चतुर्थ तल की ऊँचाई), दो भाग से प्रस्तर, सवा चार भाग से तलिप (स्तम्भ, पाँचवे तल की ऊँचाई) पौने दो भाग से मञ्च, एक भाग से वेदिका, दो भाग से कन्धर, सवा चार भाग से शिखर एवं दो भाग से कुम्भ की रचना करनी चाहिये। पाँच तल के देवालय की चौड़ाई को नौ, दश या ग्यारह बराबर भागों मे बाँटना चाहिये। ॥५५-५७॥

<u>षडाद्यैकादशभूम्यन्तविधान</u>

(पूर्ववर्णित पाँच तल से ऊपर तल में) निचले तल से ऊपर ऊँचाई में छः भाग से अङ्घ्रि (स्तम्भ, तल की ऊँचाई) एवं तीन भाग से तल (अधिष्ठान) निर्मित करना चाहिये। इसकी चौड़ाई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये ॥५८॥

(सातवें तल के लिये) निचले तल के ऊपर ऊँचाई में साढ़े छः भाग से स्तम्भ एवं मसूरक सवा तीन भाग से निर्मित करना चाहिये तथा विस्तार को ग्यारह या बारह भाग से रखना चाहिये। सात तल वाला यह विमान प्रत्येक स्थान एवं अवसर के लिये उपयुक्त करना होता है ॥५९॥

उसके ऊपरी तल में सात भाग से स्तम्भ एवं साढ़े तीन भाग से कुट्टिम रखना चाहिये। इसकी चौड़ाई को दश, ग्यारह, बारह या तेरह भाग में बाँटना चाहिये। आठ तल के मन्दिर के निर्माण के विषय में मुनियों का विचार इस प्रकार वर्णित है। ॥६०-६१॥

उसके ऊपरी तल (नौ तल) में निचले तल से ऊपर साढ़े सात भाग से स्तम्भ एवं पौने चार भाग से तल (अधिष्ठान) बनाना चाहिये । तल का विस्तार पूर्ववत् होना चाहिये । इस प्रकार नौ तल का मन्दिर निर्मित होता है । अब दशवें तल का वर्णन किया जा रहा है ॥६२॥

(दसवें तल के लिये) निचले तल के ऊपर आठ भाग से पाद (स्तम्भ, तल की ऊँचाई) एवं चार भाग से मसूरक होता है । चौड़ाई पूर्वोक्त रीति से या चौदह भाग में बाँटनी चाहिये ॥६३॥

इसके ऊपरी तल (ग्यारह तल) में निचले तल के ऊपर साढ़े आठ भाग से स्तम्भ एवं सवा चार से मसूरक निर्मित करना चाहिये । चौड़ाई पूर्ववर्णित अथवा पन्द्रह, सोलह या सत्रह भागों में बाँटनी चाहिये । इस प्रकार ग्यारह तल का देवालय निर्मित होता है । अब बारह तल के देवालय का वर्णन किया जा रहा है ॥६४-६५॥

<u>द्वादशतलविधान</u>

बारह तल के देवालय का विधान - (बारह तल के देवालय के लिये) निचले तल (की भूमि) के नौ भाग करने चाहिये । साढ़े चार भाग से मसूरक होने चाहिये । चौड़ाई को सोलह से चौबीस भागों में बाँटना चाहिये । गर्भगृह से लेकर भवन की सीमा तक क्रमशः गृहपिण्डि (भित्ति), अलिन्द्र एवं हारामार्ग को उनके भाग के अनुसार रखना चाहिये । गर्भगृह दो, तीन, चार या छः भाग से या पूर्वोक्त भाग से निर्मित करना चाहिये ॥६६-६८॥

अलिन्द्र की संरचना एक या डेढ़ भाग से करनी चाहिये एवं शेष भाग से भित्ति निर्मित होनी चाहिये । कुछ विद्वानों के अनुसार बारहवें तल के सत्ताईस भाग करने चाहिये । छः भाग से भित्ति एवं पाँच भाग से अलिन्द्र निर्मित होना चाहिये । बाहरी भाग में कूटादि से अलङ्करण होना चाहिये । वहाँ कूट, कोष्ठ, नीड, क्षुद्र-शाल एवं गजशुण्ड निर्मित होना चाहिये ॥६९-७०॥

इन अलङ्करणों को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वे सुन्दर लगें । इन्हे सम-हस्तप्रमाण से या विषम-हस्तप्रमाण से निर्मित करना चाहिये ॥७१॥

यदि प्रमाण सम संख्या में हों तो कूट का व्यास दो भाग से एवं चौड़ाई उसके दुगुनी रखनी चाहिये । अथवा शाला (कूट) की चौड़ाई चार भाग से रखनी चाहिये । सम संख्या का माप होने पर सभी भागों का माप सम संख्या में होना चाहिये । श्रेष्ठ मुनियों ने विभिन्न भागों एवं अलङ्करणो का वर्णन किया है । बुद्धिमान शिल्पी को उन स्थानों पर उसी विधि से निर्माण करना चाहिये ॥७२-७३॥

खण्डहर्म्य में यदि देवालय चार तल का हो तो प्रथम तल की ऊँचाई पर ग्रास (निर्माण का एक विशिष्ट अङ्ग) होना चाहिये । यदि भवन पाँच, छः या सात तल का हो तो दूसरे तल की ऊँचाई पर; यदि भवन आठ, नौ या दश तल का हो तो तीसरे तल पर; यदि ग्यारह तल का भवन हो तो ग्रास चौथे तल पर तथा बारह तल वाले भवन में पाँचवें तल पर निर्मित होना चाहिये ॥७४-७५॥

<u>कूटकोष्ठादि</u>

जो व्यक्ति प्रथम तल से कूट-कोष्ठ आदि का उचित रीति से निर्माण करना चाहता है, उसे प्रत्येक तल का विभाग नियमानुसार करना चाहिये । प्रत्येक ऊपरी तल में कूट-कोष्ठ आदि अङ्गों को पहले जिस प्रकार कहा गया है, उसी ढंग से निर्मित करना चाहिये । कूट, कोष्ठ एवं नीड आदि भेदों का वर्णन पहले किया जा चुका है ॥७६-७७॥

(कूटादि) भेदों का जिस भवन में जिस प्रकार प्रयोग करना चाहिये, उसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इनका प्रयोग दूसरे तल से प्रारम्भ कर बारह तलपर्यन्त करना चाहिये। भवन के कर्ण (कोने) पर कूट, मध्य भाग में कोष्ठ एवं कूट तथा कोष्ठ के मध्य में पञ्जर का निर्माण करना चाहिये। उनके निर्गम का निर्माण मानसूत्र से करना चाहिये ॥७८-७९॥

निर्गमों का माप (उस तल) की चौड़ाई का आधा अथवा उसका भी आधा (चौड़ाई का चौथाई भाग) रखना चाहिये या उनका माप एक, दो अथवा तीन दण्ड होना चहिये। इसके भीतरी भाग केमाप के लिये मानसूत्र का प्रयोग नही करना चाहिये। ऋजुसूत्र माप के अन्त तक होता है। इसका बीच में भङ्ग होना विपत्तिकारक होता है; इसलिये कूट आदि सभी अङ्गों का निर्माण मानसूत्र से हटकर करना चाहिये ॥८०-८१॥

कर्ण पर निर्मित कूट का शीर्ष चौकोर, अष्टकोण, षोडशकोण अथवा गोलाकार एवं स्तूपिका से युक्त होता है। इसके मध्य भाग में नासि एवं अर्धकोटि निर्मित होता है। यह मुखपट्टिका एवं शक्तिध्वज से युक्त होता है ॥८२-८३॥

अनेक स्तूपिकाओं से युक्त कोष्ठ मध्य में होना चाहिये। इसका पिछला भाग हाथी के पीठ की समान एवं अग्र भाग शाला के आकार का होना चाहिये। कूट एवं कोष्ठ मध्यपञ्जर होना चाहिये। इसका मुख पार्श्व में होना चाहिये एवं गज-शुण्ड से सुसज्जित होना चाहिये ॥८४-८५॥

'जाति' (भवन का प्रकारविशेष) का वर्णन इस प्रकार किया गया। (छन्दभवन में) भवन के कर्ण (कोणों) पर कोष्ठ, मध्य भाग में कूट तथा इन दोनों के मध्य में क्षुद्रकोष्ठ आदि निर्मित हो तो उसे 'छन्द' कहा जाता है। (विकल्प भवन में) कूट या कोष्ठ अन्तर-प्रस्तर से युक्त हो, ऊँचे या नीचे हों तो उस भवन को 'विकल्प' कहा जाता है। 'आभास' भवन में इन दोनों व्यवस्थाओं के मिश्रित रूप का प्रयोग किया जाता है। यह छोटे, मध्यम एवं उत्तम श्रेणी के भवनों के अनुकूल होता है। 'जाति' आदि भेदों से युक्त देवालय सम्पत्ति प्रदान करते है। इसके विपरीत रीति से निर्मित देवालय विनाश के कारण बनते है ॥८९॥

(कूट आदि के) षट्कोण, अष्टकोण, वृत्ताकार, द्व्यस्त्रवृत्ताकर (दो कोण एवं अगले सिर पर गोलाई) होने पर उनके व्यास के क्रमशः पाँच, आठ, नौ एवं दश भाग करने चाहिये एवं एक भाग से उसके बाहर उसी की आकृति का घेरा बनाना चाहिये। यहाँ कोटि के छेद के लिये स्थान रक्खा जाता है। चौकोर के घेरे को इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे माप सम बना रहे। उनकी वर्तनी से उनका (कूटादि का) मान पूर्ण होता है। यदि भवन का मान पूर्ण होताहै तो संसार सम्पूर्णता को प्राप्त होता है (अर्थात् गृहकर्ता को समृद्धि एवं पूर्णता इस संसार में प्राप्त होती है) ॥९०-९२॥

इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को प्रत्येक अङ्ग का निर्माण अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना चाहिये। इस प्रकार मन्दिरों का लक्षण संक्षेप में वर्णित किया गया। एक तल से लेकर बारह तल तक के भवन की ऊँचाई एवं चौड़ाई हस्त-मान से वर्णित की गई है। कूट एवं कोष्ठ आदि अङ्गों के भेदों का क्रमानुसार वर्णन किया गया। देवों के प्रिय एवं पवित्र विमानों एवं उअनेक विभिन्न भेदों का दोषहीन वर्णन जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों ने किया, जिसका प्रथमतः ब्रह्मा ने उपदेश दिया, उसे संक्षिप्त करके मय ने यहाँ प्रस्तुत किया ॥९३-९४॥

मयमतम् - अध्याय २३

तत्र प्राकारविधान

चार दीवारी एवं सहायक देवपरिवार के स्थान का विधान - बुद्धिमान ऋषियों ने देवालय की रक्षा के लिये, शोभा के लिये एवं परिवार (सहायक देव, सेवकवर्ग) के लिये प्राकार का वर्णन जिस प्रकार किया गया है, उसका वर्णन अब किया जा रहा है ॥१॥

प्राकारमान

प्राकार का मान - प्रधान देवालय की चौड़ाई को चार पद में बाँटना चाहिये । प्रथम साल (प्राकार) की संज्ञा 'महापीठ' है एवं इसमें सोलह पद होते है । द्वितीय साल की संज्ञा 'मण्डूक' (चौसठ पद), मध्य साल (तृतीय) की संज्ञा "भद्रमहासन' (एक सौ छत्तीस पद), चतुर्थ 'सुप्रतीकान्त' (चार सौ चौरासी पद) एवं पाँचवे की संज्ञा 'इन्द्रकान्त' (एक हजार चौबीस पद) होती है (ये पाँच प्रकार होते है) । ॥२-३॥

(उपर्युक्त प्राकारभेद) युग्म संख्या वाले पदों के अनुसार वर्णित है । अब असम संख्या के अनुसार (प्राकार) वर्णन किया जा रहा है । विमान (देवालय) का मात्र एक पद होता है । प्रथम साल 'पीठ' (नौ पद), दुसरा 'स्थण्डिल' (उनचास पद), मध्य साल (तृतीय) 'उभयचण्डित' (एक सौ उनहत्तर पद) संज्ञक, चौथ 'सुसंहित' (चार सौ इकतालीस) संज्ञक एवं पाँचवाँ 'ईशकान्त' (नौ सौ इकसठ पद) संज्ञक होता है ॥४-५॥

चतुष्कोण क्षेत्र के अग्र भाग की लम्बाई का वर्णन ऊपर किया जा चुका है । यह लम्बाई (मन्दिर के चौड़ाई की) क्रमशः सवा, डेढ़, तीन, चौथाई एवं दुगुनी होती है । प्राकारों के अग्र भाग की लम्बाई दुगुनी, ढाई गुनी, तीन गुनी या चार गुनी कही गई है ॥६-७॥

छोटे मन्दिरों में भी अत्यन्त छोटे मन्दिर की चौड़ाई के डेढ़ बाग की दूरी पर (प्रथम प्राकार) 'अन्तर्मण्डल', उसके आगे उतनी ही दूरी तीन हाथ पर दूसरा प्राकार, उससे पाँच हाथ दूरी पर तीसरा प्राकार, उससे सात हाथ की दूरी पर चौथा प्राकार एवं नौ हाथ की दूरी पर पाँचवाँ प्राकार होना चाहिये ॥८-९॥

(छोटे मन्दिर के) मध्यम कोटि के देवालय की चौड़ाई के आधे माप की दूरी पर अन्तरमण्डल की रचना की जाती है । दूसरा प्राकार पाँच हाथ की दूरी पर होता है । तीसरा साल (प्राकार) सात हाथ की दूरी पर, चतुर्थ साल नौ हाथ की दुरी पर एवं पाँचवाँ ग्यारह हाथ की दूरी पर होना चाहिये ॥१०-१२॥

(छोटे देवालयों के) उत्तम श्रेणी के देवालयों का प्रथम साल उसकी चौड़ाई के आधे माप की दूरी पर होना चाहिये । दूसरा साल सात हाथ की दुरी पर, तीसरा नौ हाथ की दूरी पर, चौथा ग्यारह हाथ कि दूरी पर एवं पाँचवाँ तेरह हाथ की दूरी पर होना चाहिये । इस प्रकार अत्यन्त छोटे, क्षुद्र-मध्यम एवं क्षुद्र उत्तम कोटि के देवालय के सालों (प्राकारों) का वर्णन किया गया ॥१३-१५॥

बुद्धिमान व्यक्ति को इस विधि से या पूर्वोक्त क्रम से चारो ओर प्राकार की रचना करनी चाहिये । इसके मुखभाग की लम्बाई पूर्व-वर्णित रखनी चाहिये । माप के ज्ञाता भित्ति के भीतर से माप लेते है । कुछ विद्वानों के अनुसार भित्ति के मध्य से एवं कुछ के अनुसार भित्ति के बाहर से माप लेना चाहिये ॥१६-१७॥

प्राकारभित्ति

अन्तर्मण्डल की भित्ति का विष्कम्भ (मोटाई) डेढ़ हाथ होना चाहिये । इसके आगे के प्राकारों के विष्कम्भो का माप तीन-तीन अङ्गुल बढ़ाते हुये दो हाथ तक क्रमानुसार ले जाना चाहिये । पाँचो सालो (प्राकारों) का विष्कम्भ इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये । उनके विष्कम्भ-मान से उनकी ऊँचाई तीन गुनी या चार गुनी अधिक होनी चाहिये । अग्र भाग (ऊपरी भाग) का विस्तार (मूल से) आठ भाग कम होना चाहिये ॥१८-१९॥

प्राकार की ऊँचाई उत्तर के अन्त तक या (स्तम्भ के) कुम्भ या मण्डि तक रखनी चाहिये । प्राकार को मसूरक से युक्त एवं खण्डहर्म्य से सुसज्जित होना चाहिये । यह भित्ति सीधी हो अथवा बुद्बुद (गोल सजावटी बिन्दु) या अर्धचन्द्र उसके शीर्षभाग पर सुसज्जित होना चाहिये ॥२०-२१॥

(छोटे देवालयो के) सबसे छोटे मन्दिर के सालों की भित्ति (प्राकारों की मोटाई) हस्त-प्रमाण से होती है । इसे डेढ़ हाथ से प्रारम्भ होकर पूर्व-वर्णित रीति (तीन-तीन अङ्गुल) से क्रमानुसार बढ़ाना चाहिये ॥२२॥

प्राकार-शीर्ष उत्तर, वाजन एवं छत्र से युक्त होता है । इसकी ऊँचाई भित्ति के चौड़ाई के बराबर, सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होनी चाहिये । ऊँचाई को ग्यारह भागों में बाँटना चाहिये । तीन भाग से उत्तर, तीन भाग से वाजन, दो भाग से अब्ज एवं तीन भाग से क्षेपण की क्रमानुसार योजना करनी चाहिये । भित्ति (का बाहरी भाग) सीधा अथवा खण्डहर्म्य से युक्त हो सकता है । यह अधिष्ठान से प्रारम्भ होकर (ऊँचाई पर) निर्गम से युक्त होता है ॥२३-२५॥

आवृतमण्डप

भित्ति के भीतरी भाग में एक, दो या तीन तल से युक्त आवृतमण्डप का निर्माण करना चाहिये । भित्ति बाहर से सीधी होती है । निचले तल के तीन भाग में से दो भाग के बराबर ऊपरी तल का मान रखना चाहिये । अथवा यह चतुर्थांश या आठवाँ भाग हीन हो सकता है । या इसकी ऊँचाई बाहरी भित्ति के बराबर हो सकती है । यह मालिका की आकृति वाली या महावार (बड़ा बरामदा) से युक्त होती है ॥२६-२७॥

बाह्य भित्ति की सबसे अधिक ऊँचाई प्रधान देवालय की निचली भूमि के स्थलभाग से उत्तर पर्यन्त, प्रस्तर तक, खण्डहर्म्य के उत्तर तक अथवा शिखर पर्यन्त हो सकती है ॥२८-२९॥

दो या एक तलयुक्त मण्डप (देवालय) के चाओ ओर हो सकता है । यह अधिष्ठान से युक्त, उसके बराबर ऊँचा, आठ भाग कम या तीन चौथाई ऊँचा ओ सकता है । मण्डप के स्तम्भ (अधिष्ठान से) दुगुने ऊँचे या (दुगुने से) आठ या छः भाग कम ऊँचे हो सकते है ॥३०-३१॥

सालशीर्षालङ्कार

प्राकार के शीर्षभाग के अलङ्करण - साल (प्राकार) के शीर्षभाग पर वृषभ या बूतों का स्वरूप अङ्कित करना चाहिये । मूल देव-भवन का जन्मतल (अधिष्ठान) साल के जन्म से एक हाथ ऊँचा रखना चाहिये ॥३२॥

अधिष्ठानोत्सेध

अधिष्ठान की ऊँचाई - क्षुद्र देवालय में शेष सालों मे प्रत्येक साल छः-छः अङ्गुल कम होता जाता है । मध्यम देवालय में अट्ठारह अङ्गुल का अन्तर होता है । प्रत्येक साल में (प्रथम से) पाँचवे तक चार-चार अङ्गुल कम होता जाता है । स्थपति को इसी विधि से साल-योजना करनी चाहिये ॥३३-३४॥

परिवारालयविधान

देव-परिवार के भवन का विधान - परिवार देवालय (प्रधान देव-मूर्ति से पृथक् देव-परिवार का मन्दिर, जो मन्दिर परिसर में बने होते है) के गर्भगृह का मान प्रधान देवालय के विस्तार का आधा होता है । इस तीसरे भाग, आधा, तीन चौथाई के बराबर भी रक्खा जाता है । इस भवन का विस्तार तीन, चार, पाँच, छः या सात हात रखना चाहिये ॥३५॥

शास्त्र के ज्ञाताओं के अनुसार आथ, बारह, सोलह या बत्तीस परिवार-देवता होते है । परिवार-देवों की मूर्ति की ऊँचाई नियमानुसार होनी चाहिये । जो प्रमाण सकल बेरों (बेरों, पट्टियों पर निर्मित आकृति) के लिये कही गई है, वही प्रमाण श्रेष्ठ स्थपति को ग्रहण करना चाहिये । ये (मूर्तियाँ) सभी लक्षणों से युक्त बैठी या खड़ी मुद्रा में होनी चाहिये ॥३६-३८॥

अष्टौ परिवार

आठ परिवार-देवता - छोटे देवालयों में एक ही प्राकार एवं आठ परिवार देवता होने चाहिये । यदि पीठ-संज्ञक वास्तु-पद हो तो आर्यक के पद से प्रारम्भ कर ऋषभ, गणाधिप, कमलजा (लक्ष्मी), मातृकायें, गुह, आर्य, अच्युत एवं चण्डेश होने चाहिये ॥३९॥

द्वादश परिवार

बारह परिवार-देवता - उपपीठ वास्तुपद पर बारह परिवार-देवताओं की स्थापना करनी चाहिये । पहले की भाँति आर्यक पद से प्रारम्भ कर वृष, कमलजा, गृह एवं हरि होने चाहिये । सूर्य के पद से दाहिनी ओर रवि, गजवदन, यम, मातृकायें, जलेश, दुर्गा, धनद एवं चण्ड क्रमानुसार होने चाहिये ॥४०-४१॥

षोडश परिवार

षोडश परिवार-देवता - उग्र पीठ वास्तुपद पर सोलह देव-परिवार स्थापित करना चाहिये । आर्यक पद पर वृष आदि देवों को पहले के सदृश स्थापित करना चाहिये । ईश, जयन्त, भृश, अग्नि, वितथ, भृङ्गनृप, पितृ, सुगल, शोष,वायु,मुख्य एवं उदिति के पद पर क्रमशः चन्द्र, चन्द्र, सूर्य, गजवदन, श्री, सरस्वती, मातृकायें, शुक्र, जीव, दुर्गा, दिति एवं उदिति होनी चाहिये ॥४२-४४॥

द्वात्रिंशत् परिवार

बत्तीस परिवार-देवता - स्थण्डिल वास्तुपद पर बत्तीस परिवारदेवता स्थापित किये जाते है । ब्रह्मा के पद के बाहर नौ पदो पर श्री, ज्येष्ठा, उमा एवं सरस्वती को क्रमशः साविन्द्र, इन्द्रजय, रुद्रजय एवं आपवत्स के पद पर रखना चाहिये । आर्यक आदि के पद पर वृषभ आदि देवों को पहले की भाँति स्थापित करना चाहिये । ॥४५-४६॥

ईश, पर्जन्य, महेन्द्र, सूर्य, सत्य, अन्तरिक्ष, अनल, पूषा, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, मृष, पितृ, बोधन, पुष्पदन्त, वरुण, यक्ष, समीरण, नाग, भल्लाट, सोम, मृग एवं उदिति के पद पर क्रमशः देवों की स्थापना करनी चाहिये । (ये देवता है०) ईश, शशि, नन्दिकेश्वर, सुरपति, महाकाल, दिनकर, वह्नि, बृहस्पति, गजवदन, यम, भृङ्गरीटि, चामुण्डा, निऋति, अगस्त्य, विश्वकर्मा, जलपति, भृगु, दक्ष प्रजापति, वायु, दुर्गा, वीरभद्र,

धनद, चण्डेश्वर एवं शुक्त । विद्वानों के कथनानुसार स्थण्डिल वास्तु-विभाग में यह व्यवस्था होनी चाहिये ॥४७-५२॥

वास्तु-विन्यास सम पदों का हो अथवा विषम पदों का हो, परिवार-देवता प्राकार की भित्ति पर निर्मित होने चाहिये । उससे पृथक् होने की स्थिति में मध्य पद के पास होने चाहिये । जहाँ तीन अथवा पाँच प्राकार हो, वहाँ प्रारम्भिक आठ देवता मध्याहार या अन्ताहार पर निर्मित होने चाहिये । यदि देवालय पश्चिम-मुख हो तो मित्र के पद पर वृषभ की स्थिति होनी चाहिये ॥५३-५४॥

कमजल, गृह एवं हरि को भुधर, आर्य एवं विवस्वान् के पद पर होना चाहिये । जिस दिशा में ईश्वर के भवन का मुख हो, उसी दिशा में उनका भी मुख होना चाहिये । शेष देवों को पूर्ववर्णित पदो पर होना चाहिये एवं उनका मुख देवालय की ओर होना चाहिये ॥५५॥

देवालय का मुख चाहे पूर्व दिशा में हो, चाहे पश्चिम में हो, वृष का मुख अथवा पृष्ठभाग शिव की ओर होना चाहिये । चण्डेश एवं गजानन का मुख क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर की ओर होना चाहिये । देव-परिवार के भवन सभी अङ्गो से युक्त, उचित रीति से प्रासाद, मण्डप, सभा अथवा शाला के आकार का निर्मित करना चाहिये । ॥५६-५७॥

मध्यहार एवं अन्तर्हार के बीच में मालिका-पङ्क्ति निर्मित होनी चाहिये । यह एक, दो, तिन, चार या पाँच तल की होनी चाहिये । दीवार के ऊपर एवं स्तम्भ के ऊपर स्तम्भ निर्मित होना चाहिये । भित्ति के ऊपर स्तम्भ निर्मित हो सकते है; किन्तु स्तम्भ के ऊपर भित्ति नही निर्मित होनी चाहिये । मालिका-पङ्क्ति को कूट एवं कोष्ठ आदि से युक्त एवं जालभित्ति से अलङ्कृत होना चाहिये । यह मण्डप के आकृति की, शाला या सभा के आकृति की होनी चाहिये ॥५८-६०॥

अब भक्तिमान (विभाजन, दूरी) एवं स्तम्भ का आयाम संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है । प्रधान देवभवन के उपानत् (अधिष्ठान का ऊपरी भाग) से उत्तरपर्यन्त की दूरी को सात बराबर भागों में बाँट कर दो भाग से मसूरक (अधिष्ठान) की ऊँचाई एवं पाँच भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये । स्तम्भ को सबी अङ्गो से युक्त निर्मित करना चाहिये या स्तम्भ के प्रमाण को नौ भागों में बाँटना चाहिये । दो भाग से अधिष्ठान एवं शेष भाग से स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये । ढ़ाई हाथ से प्रारम्भ कर छः- छः- अङ्गुल बढ़ाते हुये छः हाथ तक स्तम्भ की ऊँचाई रखनी चाहिये । इस प्रकार स्तम्भों की उँचाई पन्द्रह प्रकार की हो सकती है । भीतरी भित्ति की मोटाई के अनुसार स्तम्भ की चौड़ाई होनी चाहिये । यह भक्तिमान एवं लम्बाई छोटे एवं बड़े सभी देवालयों के लिये समान है । अथवा छः अङ्गुल से प्रारम्भ करके एक-एक अङ्गुल बढ़ाते हुये बीस अङ्गुलपर्यन्त पादविष्कम्भ (स्तम्भ की चौड़ाई) रखना चाहिये । ॥६१-६६॥

अधिष्ठान की ऊँचाइ स्तम्भ की ऊँचाई का आधा, छः या आठ भाग कम या स्तम्भ की ऊँचाई का तीसरा अथवा चौथा भाग रखना चाहिये । यह अधिष्ठान पादबन्ध या चारुबन्ध शैली का होना चाहिये । इसका चतुर्थांश कम प्रस्तर होना चाहिये, जो अलङ्करणों से सुसज्जित हो । इस प्रकार पूर्ववर्णित रीति से उचित ढंग से निर्माणकार्य करना चाहिये ॥६७-६९॥

(जिस प्रकार देवालय में मालिका) उसी प्रकार मनुष्यो के आवास में खलूरिका का निर्माण गृह के चारो ओर होना चाहिये, जो प्रथम आवरण (प्राकार) से लेकर तीसरे प्राकार तक होता है ॥७०॥

उनके द्वारों को अभीप्सित दिशा में मनुष्यों के भवन में कहे गये नियम के अनुसर स्थापित करना चाहिये । (मालिकापङ्क्ति में) परिवार-देवालयों को जिन-जिन पदों में कहा गया है, उन्हे क्रमानुसार

वही निर्मित करना चाहिये । आर्यक के पद से प्रारम्भ करते हुये पूर्ववर्णित नियम के अनुसार देवालय की ओर उन्मुख बनाना चाहिये । इन परिवार-देवालयोंके बाहर नृत्य-मण्डप एवं पीठ (वेदी) आदि का निर्माण करना चाहिये अथवा स्नान-मण्डप एवं नृत्य-मण्डप परिवारदेवालय के भीतर भी प्रमाण के अनुसार निर्मित हो सकता है ॥७१-७३॥

पीठलक्षण

पीठ के लक्षण - गर्भगृह के व्यास के आधे प्रमाण से दो पीठों की चौड़ाई एवं ऊँचाई रखनी चाहिये । बलिविष्टर (जहाँ बलि दी जाय) की ऊँचाई एवं चौड़ाई एक, दो या तीन हाथ होनी चाहिये । (पिशाच) पीठ को गोपुर से बाहर प्रासाद की चौड़ाई के आधे भग की दूरी पर निर्मित करना चाहिये । बलिविष्टर की गोपुर से दूरी उपर्युक्त माप के बराबर अथवा तीन चौथाई होनी चाहिये । पिशाचपीठ को पाँचो प्राकारों के बाहर एवं मन्दिर के सम्मुख होना चाहिये तथा बलिविष्टर को पिशाचपीठ एवं प्रासाद के मध्य में निर्मित करना चाहिये ॥७४-७६॥

पीठ की ऊँचाई को सोलह बराबर भागों में बाँटना चाहिये । एक भाग से जन्म, चार भाग से जगती, तीन भाग से कुमुद, उसके ऊपर एक भाग से पट्ट, तीन भाग से कण्ठ, ऊपर एक भाग से कम्प एवं उसके ऊपर दो भाग से वाजन होना चाहिये । ॥७७-७८॥

उसके ऊपर एक भाग से वाजन एवं कमलपुष्प होना चाहिये । कमल का घेरा (पीठ के) व्यास का आधा या तीन चौथाई होना चाहिये । पद्म के ऊपर मध्य भाग में कर्णिका निर्मित करनी चाहिये, जिसका विस्तार पद्म का तीन चौथाई हो । पद्म की ऊँचाई उसकी चौड़ाई का आधा अथवा कर्णिका की ऊँचाई का आधा होना चाहिये । पीठ मध्य भाग में भद्रयुक्त, भद्ररहित या उपपीठ से युक्त हो सकता है । पीठ की आकृति अधिष्ठान के अनुसार या उससे पृथक् हो सकती है । इस प्रकार प्राचीन श्रेष्ठ मुनियों ने पीठ के अलङ्करणों का वर्णन किया है ॥७९-८१॥

प्रासाद के आधे माप से वृषभ के अग्र भाग में ध्वज स्थान का निर्माण होना चाहिये एवं आगे त्रिशिखालय (त्रिशूल) होना चाहिये । ये सभी वृष आदि गोपुर के वाम भाग में (प्राकार के) भीतर होने चाहिये ॥८२॥

प्राकाराश्रितस्थान

प्राकार के आश्रित स्थान - मर्यादि साल (प्राकार) से सटा कर आग्नेय कोण में हवि का प्रकोष्ठ होना चाहिये । अग्निकोण एवं गोपुर के मध्य में धन-धान्य का गृह होना चाहिये । यम के प्रकोष्ठ पर मज्जनशाला (स्नानमण्डप) एवं वही पुष्पमण्डप निर्मित होना चाहिये ॥८३-८४॥

निऋृति के स्थान पर अस्त्र-मण्डप एवं वरुण तथा वायु के स्थान पर शयनस्थान निर्मित करना चाहिये ॥८५॥

सोम के पद पर धर्मश्रवण-मण्डप (जहाँ धर्मसभा, धर्मविषयक प्रवचन होते हो) होना चाहिये । ईश के पद पर एवं आपवत्स के पद पर वापी एवं कूप होना चाहिये । ईश एवं गोपुर के मध्य स्थल में वाद्यस्थान होना चाहिये । विमान के निकट ही ईश के पद पर चण्डेश्वर का स्थान होना चाहिये । अथवा पूर्ववर्णित स्थान पर बुद्धिमान को निर्माण करना चाहिये ॥८६-८७॥

(विमान के) पीठ के सामने विमान के मान के अनुसार शक्तिस्तम्भ होना चाहिये । क्षुद्र (अत्यन्त छोटे) मन्दिर की ऊँचाई के दुगुने माप की शक्तिस्तम्भ की ऊँचाई होनी चाहिये । अल्प (छोटे) विमान का शक्तिस्तम्भ उसके बराबर माप का तथा मध्यम विमान में उसकी ऊँचाई का आधा या

तीन चौथाई माप का शक्तिस्तम्भ होना चाहिये । उत्तम विमान में उसकी ऊँचाई के तीसरे या आधे भाग के बराबर शक्तिस्तम्भ की ऊँचाई होनी चाहिये । इसकी चौड़ाई एक हाथ, सोलह अङ्गुल या दश अङ्गुल होनी चाहिये । शक्तिस्तम्भ को मण्डि एवं कुम्भ से युक्त होना चाहिये एवं उसके ऊपर भूत या वृषभ की आकृति होनी चाहिये । यह भाग प्रस्तर या काष्ठ से निर्मित होना चाहिये तथा इसे वृत्ताकार, अष्टकोण या सोलह कोण का होना चाहिये । ॥८८-९१॥

इतर स्थानानि

<u>अन्य स्थान -</u>

वेशस्थान (पुरोहित का आवास), वापी (बावड़ी), कूप, बगीचा एवं दीर्घिका (तालाब) सभी स्थानों में (कही भी) हो सकते है । इसी प्रकार मठ एवं भोजनशाला भी कहीं भी निर्मित हो सकते है ॥९२॥

यदि विमान में एक प्राकार हो तो वह अन्तर्मण्डल न होकर अन्तर्हार होता है । यदि तीन प्राकार हो तो वे अन्तर्हार, मध्यमहार एवं मर्यादाभित्ति होते है । यदि पाँच प्राकार हो (तो वे पूर्ववर्णित होते है) इन प्राकारों के ऊपर चारो ओर पङ्क्ति में वृषभों की आकृतियाँ निर्मित होती है ॥९३-९४॥

शक्तिस्तम्भ से पूर्व प्रधान देवालय की चौड़ाई के तीन, चार या पाँच गुनी दूरी पर गणिकागृह एवं उसके दोनों पार्श्वों में संवाहिका-स्थान होना चाहिये । प्राकार के बाहर चारो ओर (मन्दिर के) सेवकों का आवास होना चाहिये । इसी प्रकार दासियों का आवास होना चाहिये अथवा पूर्व दिशा में सेवकादिकों का आवास होना चाहिये । गुरुमठ (प्रधान पुजारी का स्थान) दक्षिण दिशा में होना चाहिये अथवा पूर्व दिशा में होना चाहिये, जिसका मुख दक्षिण दिशा में हो । शेष के विषय में, जो नही कहा गया है, वह सब राजा के अनुसार करना चाहिये ॥९५-९७॥

<u>विष्णुपरिवारक</u>

विष्णू-देवालय के परिवार -देवता - अब मै विष्णूभवन के परिवारदेवों के विषय में कहता हूँ । प्रमुख स्थान (पूर्व मे) वैनतेय (गरुड़), अग्निकोण में गजमुख, दक्षिण में पितामह एवं पितृपद पर सप्त मातृकायें कही गई है । जलेश के पद पर गुह, वायव्य कोण में दुर्गा, सोम के पद पर धनाधिप कुबेर तथा ईशान कोण पर सेनापति का स्थान होना चाहिये । पीठ आदि की स्थिति पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होनी चाहिये ॥९८-९९॥

(उपर्युक्त व्यवस्था) एक प्राकार होने पर इस प्रकार होनी चाहिये । अब बारह परिवारदेवों का वर्णन किया जा रहा है । विष्णु के सामने चक्र, उसके दाहिने गरुड एवं वाम भाग में शङ्ख होना चाहिये । सूर्य एवं चन्द्रमा गोपुर के दोनों पार्श्वों मे निर्मित हो एवं इनका मुख भीतर की ओर होना चाहिये । आग्नेय कोण में हविष को पकाने का स्थान होना चाहिये एवं शेष निर्माण पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होना चाहिये ।॥१००-१०२॥

जहाँ सोलह परिवारदेवों की स्थापना करनी हो, वहाँ उनकी स्थापना मध्यहार एवं अन्तर्हार के बीच में करनी चाहिये । मण्डप के आगे पक्षिराज (गरुड) एवं पीथ होना चाहिये । शिव को छोड़कर सभी लोकपालों को उनके स्थानों पर स्थापित करना चाहिये । कोण एवं द्वारपालों के मध्य भाग मे आदित्य, भृगु, दोनो अश्विनीकुमार, सरस्वती, पद्मा, पृथिवी, मुनिगण एवं सचिवदेवों को स्थापित करना चाहिये । यदि देवपरिवार की संख्या बत्तीस हो तो उन्हे वही उचित रीति से स्थापित करना चाहिये । ॥१०३-१०५॥

चण्ड, प्रचण्ड, रथनेमि, पाञ्चजन्य, दुर्गा, गणेश, रवि तथा चन्द्र-इन सभी महान देवों को तथा सर्वेश्वर एवं सुरपति- इन दस को पाँचों प्राकारों के गोपुर की ओर मुख किये हुये निर्मित करना चाहिये ॥१०६॥

वृषलक्षण

वृषभ के लक्षण - वृष (की प्रतिमा) का लक्षण अब संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है । श्रेष्ठ वृष की ऊँचाई द्वार के बराबर या लिङ्ग के बराबर होती है । मध्यम वृष उससे चार भाग कम एवं छोटा वृष तीन भाग में दो भाग के बराबर ऊँचा होता है । (अथवा) छोटे वृष की ऊँचाई गर्भगृह की ऊँचाई की आधी होती है एवं श्रेष्ठ वृष की ऊँचाई गर्भगृह के बराबर होती है । इन दो ऊँचाई के मध्य के अन्तर को आठ भागों में बाँटा गया है । इस प्रकार एक हाथ से लेकर नौ हाथ तक कनिष्ठ आदि तीन(उत्तर, मध्यम, कनिष्ठ ऊँचाई वाले) वृषों के तीन-तीन भेद बनते है । इसमें एक अंश (अङ्गुलप्रमाण) का माप मूर्ति की ऊँचाई के पन्द्रहवे भाग के बराबर कहा गया है ॥१०७-११०॥
इसकी लम्बाई चालीस अङ्गुल होती है । इसके प्रमान का वर्णन अब किया जा रहा है । शिर के ऊर्ध्व भाग से लेकर गले तक का माप दस अङ्गुल होता है । इसके पश्चात् उसके नीचे गले का माप आठ अङ्गुल तथा गले से ऊरू भाग के अन्त तक का माप सोलह अङ्गुल होता है । ऊरू की लम्बाई का प्रमाण छः अङ्गुल एवं जानु (घुटने) का माप दो अङ्गुल होता है । जङ्घा (घुटने के नीचे का भाग) की लम्बाई छः अङ्गुल एवं खुर की लम्बाई कोलक (दो अङ्गुल) होती है । दोनों सींगों के मध्य की दूरी दो अङ्गुल तथा सींग की लम्बाई दो कोलक (चार अङ्गुल) होनी चाहिये । ॥१११-११३॥

सींग के निचले भाग का व्यास तीन अङ्गुल से एवं ऊपरी सिरा दो अङ्गुल का होना चाहिये । वृष का ललाट नौ अङ्गुल का एवं मुख का व्यास पाँच अङ्गुल का होना चाहिये । मुख की ऊँचाई उसकी चौड़ाई के बराबर रखनी चाहिये । नेत्रों की लम्बाई दो अङ्गुल एवं उसकी ऊँचाई (चौड़ाई के) डेढ़ अङ्गुल होनी चाहिये । नेत्रों के मध्य में मुखभाग की लम्बाई आठ अङ्गुल होनी चाहिये । इसके पश्चात् पृष्ठभाग ग्रीवा के अन्त तक छः अङ्गुल होनी चाहिये । नेत्र के मध्य से ललाट की ऊँचाई चार अङ्गुल कही गई है ॥११४-११६॥

नेत्र से कान की दूरी कान की लम्बाई के बराबर होनी चाहिये एवं कान की लम्बाई पाँच अङ्गुल होनी चाहिये । कानों को मूल में दो अङ्गुल चौड़ा, मध्य में दो अङ्गुल चौड़ा एव ऊपरी भाग एक अङ्गुल चौड़ा होना चाहिये । इनकी मोटाई आधी अङ्गुल होनी चाहिये ॥११७॥

नाक की लम्बाई डेढ़ अङ्गुल, चौड़ाई एक अङ्गुल तथा ऊँचाई एक अङ्गुल होनी चाहिये । मुख की लम्बाई पाँच अङ्गुल, ऊपरी ओठ तीन अङ्गुल तथा निचला ओठ दो अङ्गुल होना चाहिये ॥११८-११९॥

जिह्वा की लम्बाई तीन अङ्गुल, चौड़ाई दो अङ्गुल एवं ऊँचाई (मोटाई) एक अङ्गुल होनी चाहिये । ग्रीवा का व्यास दश अङ्गुल एवं उसका निचला भाग बारह अङ्गुल होना चाहिये । पृष्ठ पर इसका मूल भाग आठ अङ्गुल एवं शीर्ष के नीचे छः अङ्गुल होना चाहिये । ककुत् (पीठ का ऊभरा भाग) का व्यास छः अङ्गुल एवं इसकी ऊँचाइ चौड़ाई की आधी होनी चाहिये ॥१२०-१२१॥

ग्रीवा के अग्र भाग मे ककुत् की चौड़ाई दो अङ्गुल होनी चाहिये । ककुत् तक शरीर की ऊँचाई अट्ठारह अङ्गुल एवं पीठ तक ऊँचाई चौदह अङ्गुल होनी चाहिये तथा व्यास बारह अङ्गुल होना चाहिये । पिछले ऊरुओं की चौड़ाई दश, आठ एवं चार अङ्गुल होनी चाहिये ॥१२२-१२३॥
उनकी लम्बाई पाँच अङ्गुल एवं जानु (घुटना) दो अङ्गुल का होना चाहिये । जङ्घा (घुटने से नीचे का भाग) की लम्बाई पाँच अङ्गुल एवं चौड़ाई चार अङ्गुल होनी चाहिये । खुरों की ऊँचाई तीन अङ्गुल एवं इसी प्रकार पूँछ के मूल भाग का माप (तीन अङ्गुल) होना चाहिये । इसका अग्र भाग डेढ़ अङ्गुल होना चाहिये एवं जङ्घा के अन्त तक यह लटकती होनी चाहिये ॥१२४-१२५॥
मुष्क (अण्डकोश) की लम्बाई तीन अङ्गुल एवं चौड़ाई दो अङ्गुल होनी चाहिये तथा शेफ (लिङ्ग) की लम्बाई तीन अङ्गुल एवं पेट के पास इसकी मोटाई एक अङ्गुल होनी चाहिये ॥१२६॥
ऊरूमल की चौड़ाई चार अङ्गुल एवं आगे जङ्घा के अग्रभाग पर दो अङ्गुल प्रमाण का होना चाहिये । शेष को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये । वृषभ की मूर्ति को खड़ी अथवा शयित (बैठी, फैली हुई) मुद्रा में, जो उचित लगे, निर्मित करनी चाहिये ॥१२७॥
यह प्रतिमा सुधा (चूना, गारा) लौह (धातु) या अन्य पदार्थों से, जो अनुकूल हो, निर्मित होनी चाहिये । प्रतिमा यदि धातुनिर्मित हो तो वह घन (ठोस, पूर्ण रूप से भरी हुई) या खोखली आवश्यकतानुसार हो सकती है । वृषभ की ऊँचाई शिव की मूर्ति की ऊँचाई के अनुसार हो सकती है ॥१२८-१२९॥
इसकाकुछ कम या अधिक होना सभी प्रकार के दोषों को उत्पन्न करता है । अतः ज्ञाता शिल्पी को दोषों को त्यागते हुये सभी लक्षणों से युक्त वृषप्रतिमा का निर्माण करना चाहिये । श्रेष्ठ मुनियों के अनुसार वृषप्रतिमा की ऊँचाई तीन प्रकार की होनी चाहिये. १. शिव-लिङ्ग के द्वार के बराबर उत्तम प्रतिमा,
२. उससे चार भाग कम मध्यम प्रतिमा तथा
३. तीन भाग में से दो भाग के बराबर कनिष्ठ प्रतिमा (इस प्रकार वृष की तीन ऊँचाई वाले प्रमाण की प्रतिमायें होती है) ॥१३०-१३१॥

मयमतम् - अध्याय २४

गोपुर - अब में (मय ऋषि) बहुत छोटे-छोटे, मध्यम एवं उत्तम आकार के प्रमुख भवनों के अनुसार गोपुरों के लक्षण का वर्णन करता हूँ ॥१॥

पञ्चविधगोपुरमान

पाँच प्रकार के गोपुरों का प्रमाण- द्वार-शोभा से प्रारभ करते हुये गोपुर तक द्वार का विस्तार इस क्रम से रखना चाहिये । प्रथम द्वार 'द्वारशोभा' का विस्तार प्रधान प्रासाद के विस्तार के सात भाग करने पर उससे एक भाग कम अर्थात् छठवे भाग के बराबर रखना चाहिये । (दूसरे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के आठ भाग करने पर उससे एक भाग कम (सात भाग), का विस्तार मूल प्रासाद के आठ भाग करने पर उससे एक भाग कम (सात भाग), (तीसरे द्वार) का विस्तार मूल

भवन के विस्तार के नौ भाग करने पर उससे एक भाग कम (आठ भाग), (चौथे द्वार) का विस्तार मूल प्रासाद के दस भाग करने पर उससे एक भाग कम (नौ भाग) तथा (पाँचवे द्वार-गोपुर) का विस्तार मूल प्रासाद के ग्यारह भाग करने पर उससे एक भाग कम (दस भाग) रखना चाहिये । ये प्रमाण क्षुद्र एवं अल्प प्रासादों के गोपुरों के होते है । मध्यम प्रासादों के गोपुरों का मान इस प्रकार विहित है ॥२-३॥

(मध्यम आकार के देवालयो में) द्वार शोभा से गोपुर तक पाँच द्वारो के क्रमशः मान इस प्रकार है - मूल प्रासाद की चौड़ाई के चार भाग करने पर तीसरे भाग के बराबर, पाँच भाग करने पर चौथे भाग के बराबर, छः भाग करने पर पाँचवे भाग के बराबर, सात भाग करने पर छँठवे भाग के बराबर एवं आठ भाग करने पर सातवें भाग के बराबर विस्तार रखना चाहिये ॥४॥

द्वारशोभा से लेकर गोपुरपर्यन्त विस्तार उत्तम (बड़े) प्रासादों में विस्तारमान इस प्रकार क्रमशः रक्खा जाता है । (प्रधान प्रासाद के विस्तार के) तीन भाग में से एक भाग, डेढ़ भाग, दो भाग, चार भाग में तीन भाग या पाँच मे से चार भाग के बराबर रखना चाहिये । अब विस्तार को हस्त-माप मे वर्णित किया जा रहा है ॥५-६॥

(यदि प्रमुख देवालय छोटा हो तो) द्वारशोभा आदि हारों का प्रमाण दो हाअथ माप से प्रारभ कर उसे एक-एक हाथ बढ़ाते हुये सोलह हाथ तक रखना चाहिये । (मध्यम आकार के देवालय में) द्वारशोभा आदि पाँच द्वारों में से एक-एक के तीन प्रकार के मान होते है । प्रथम द्वार द्वारशोभा से तीन हाथ मान से प्रारभ करते हुये दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इकतीस हाथ तक ले जाना चाहिये । (प्रमुख देवालय के उत्तम आकार के होने पर) नौ हाथ से प्रारभ करते हुये सैतीस हाथ तक दो-दो हाथ बढ़ाते हुये कुल पन्द्रह प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते है । ये विस्तार-प्रमाण पाँचों द्वारों में द्वारशोभा से प्रारभ होकर गोपुर-पर्यन्त रक्खे जाते है ॥७-१०॥

<u>पञ्चविधगोपुर</u>

पाँच प्रकार के गोपुर - द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्य एवं गोपुर ये पाँच द्वारों के क्रमशः नाम कहे गये है । प्रथम द्वार की संज्ञा 'द्वारशोभा' कही गई है ॥११॥

इनके विस्तार का मान हस्तप्रमाण से ग्रहण करना चाहिये । इसके सभावित विस्तार-मान पाँच है । द्वार का विस्तार तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह हाथ से प्रारभ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये (प्रथम द्वार से अन्तिम द्वार तक) ले जाना चाहिये । इस प्रकार द्वारशोभा संज्ञक प्रथम द्वार का मान पाँच, सात, नौ, ग्यारह या तेरह हाथ होने पर 'द्वारशाला' संज्ञक द्वार का मान पन्द्रह से लेकर तेईस हाथ-पर्यन्त होता है । 'द्वार-प्रासाद' संज्ञक द्वार का मान पाँच प्रकार का होता है, जो पच्चीस हाथ से प्रारभ कर तैतीस हाथ तक जाता है । 'द्वारहर्य' संज्ञक द्वार का मान पैंतीस हाथ से प्रारभ कर तैतालीस हाथ-पर्यन्त पाँच प्रकार का होता है । अन्तिम 'गोपुर' संज्ञक द्वार का मान पैतालीस हाथ से प्रारभ कर तिरेपन हाथ-पर्यन्त पाँच प्रकार का होता है ॥१२-१७॥

उक्त प्रकार से ही चक्रवर्ती एवं महाराज राजाओं के भवनों में भी द्वार का निर्माण करना चाहिये । द्वारशोभा आदि पाँच द्वारों की चौड़ाई उनके लबाई की डेढ़ गुनी, पौने दो गुनी, दुगुनी अथवा पौने तीन गुनी निर्धारित करनी चाहिये । चौड़ाई के क्रम से ही अब उनकी ऊँचाई का वर्णन किया जा रहा है ॥१८-१९॥

द्वारों की चौड़ाई के सात भाग में दशवाँ भाग, चार भाग में छठा भाग, चार भाग में सातवाँ भाग तथा पाँच भाग में नवाँ भाग एवं दुगुना मान ऊँचाई के लिये क्रमशः ग्रहण करना चाहिये । गोपुर के द्वारायतन (द्वार पर निर्मित भवन) की ऊँचाई के ये मान कहे गये है । प्राकारभित्ति की चौड़ाई का तीसरा भाग, एक चौथाई अथवा पाँच भाग में से दो भाग के बराबर गोपुरों का निर्गम (बाहर की ओर निकला हुआ निर्माण विशेष) निर्मित करना चाहिये ॥२०-२२॥

द्वारमान

द्वार-प्रमाण - क्षुद्र (छोटे), मध्यम एवं श्रेष्ठ (बड़े) द्वारो का विस्तार-प्रमाण इस प्रकार होता है । क्षुद्र द्वार की चौड़ाई डेढ़ से प्रारभ कर पाँच हाथ तक छः छः अंगुल बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये । मध्यम द्वार की चौड़ाई दो हाथ से प्रारभ करते हुये सात हाथ तक नौ-नौ अंगुल बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये । बड़े द्वार की चौड़ाई दो हाथ से प्रारभ करते हुये नौ हाथ तक बारह अंगुल क्रमशः बढ़ाते हुये ले जाना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक द्वार के पन्द्रह प्रमाण पृथक्-पृथक् प्राप्त होते है । विस्तार के अनुसार उनकी ऊँचाई अग्र वर्णित प्रकार से प्राप्त होती है ॥२३-२५॥

उनकी ऊँचाई क्रमशः उनकी चौड़ाई के पाँच भाग से सात भाग, सात भाग से दस भाग, दुगुनी, ढाई गुनी एवं सवा दोगुनी होनी चाहिये । ये पाँच ऊँचाई के प्रमाण कहे गये है ॥२६॥

अधिष्टानादिमान

अधिष्ठान आदि के प्रमाण - प्रधान भवन को देखकर ही गोपुर के पाद (स्तभ) एवं अधिष्ठान की ऊँचाई रखनी चाहिये । अधिष्ठान की ऊँचाई प्रधान भवन के चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह एवं बारह भागों से एक-एक भाग कम रखना चाहिये । शेष भाग से उपपीठ का निर्माण करना चाहिये । शेष भाग से उपपीठ का निर्माण करना चाहिये । यह पादबन्ध मसुरक (अधिष्ठान) होता है ॥२७-२८॥

प्रासाद के स्तभ का प्रमाण भी इसी प्रकार रखना चाहिये । अथवा गोपुर-स्तभ की ऊँचाई आठ, नौ या दस भाग में एक-एक भाग कम रखनी चाहिये । (स्तभ के लिये) अधिष्ठान में होमान्त तक खातपादक (स्तभ के लिये गड्ढा) निर्मित करना चाहिये । इसकी (द्वार की) ऊँचाई उत्तर (भित्ति का भागविशेष) तक रखनी चाहिये एवं द्वार का विस्तार इसका आधा होना चाहिये । प्रवेश के दक्षिण में भित्ति के नीचे गर्भन्यास (शिलान्यास) करना चाहिये ॥२९-३०॥

गोपुरभेद

गोपुर के प्रकार - पन्द्रह प्रकार के गोपुरों केनाम इस प्रकार है - श्रीकर, रतिकान्त, कान्तविजय, विजयविशालक, विशालालय, विप्रतीकान्त, श्रीकान्त, श्रीकेश, केशविशालक, स्वस्तिक, दिशास्वस्तिक, मर्दल,मात्रकाण्ड, श्रीविशाल एवं चतुर्मुख ॥३१-३३॥

छोटे मन्दिरों में पाँच गोपुर द्वारशोभा से प्रारभ कर एक से पाँच तल तक क्रमशः होना चाहिये । मध्यम मन्दिरों में दो से छः तल तक एवं बड़े मन्दिरो में तीन से सात तल तक होने चाहिये ॥३४-३५

एकतलगोपुर

एक तल का गोपुर - एक तल के गोपुर की ऊँचाई उत्तरान्त से स्थूपी (स्तूपिका) तक छः बराबर भागों में बाँटनी चाहिये । सवा भाग मञ्च की ऊँचाई, एक भाग कन्धर, तीन चौथाई सहित दो भाग

से शिरोभाग एवं शेष से शिखोदय का निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार एक तल गोपुर का वर्णन किया गया । अब दो तल गोपुर के भागों का वर्णन किया जा रहा है ॥३६-३७॥

द्वितलगोपुर

दो तल का गोपुर - (द्वितल गोपुर में प्रथम तल के) उत्तर से प्रारभ करते हुए शिखा (शिरोभाग) तक नौ बराबर भागों में बाँटना चाहिये । (प्रथम तल के) मञ्च की ऊँचाई सवा भाग, ढाई बाग चरण (अर्थात् द्वितीय तल का भाग), एक भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, एक भाग कन्धर, ढाई भाग शिरोभाग की ऊँचाई एवं शेष भाग से शिखा (शीर्षभाग) का उदय निर्मित करना चाहिये । इस प्रकार द्वितल का वर्णन किया गया । अब त्रितल गोपुर के भागों का वर्णन किया जा रहा है ॥३८-४०॥

त्रितलगोपुर

तीन तल का गोपुर - (त्रितल गोपुर में) स्थूपी से लेकर उत्तरपर्यन्त ऊँचाई को बारह बराबर भागों में बाँटना चाहिये । डेढ़ भाग से कपोत की ऊँचाई, ढाई भाग से चरण (द्वितीय तल की ऊँचाई), एक भाग से प्रस्तर, दो भाग से पाद (तृतीय तल की ऊँचाई), पौने एक भाग से कपोत, एक भाग से ग्रीवा, ढाई भाग से शिर एवं शेष भाग से स्थूपी (स्थूपिका) की ऊँचाई रखनी चाहिये । इस प्रकार त्रितल गोपुर का वर्णन किया गया । अब चतुस्तल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है ॥४१-४३॥

चतुस्तलगोपुर

चार तल का गोपुर - (चार तल के गोपुर में) उत्तर से शिखा तक के प्रमाण को अट्ठारह भागों में बाँटा जाता है । पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से तलिप (द्वितीय तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, ढाई भाग से पद (तृतीय तल), सवा एक भाग से मञ्च की ऊँचाई, दो भाग से स्तभ की ऊँचाई (चतुर्थ तल), एक भाग से मञ्च, एक भाग से गल, तीन भाग से शिखर एवं शेष भाग से शिका का प्रमाण रखना चाहिये । अब पाँच तल के गोपुर का वर्णन किया जा रहा है ॥४४-४५॥

पाँच तल का गोपुर - (पाँच तल के गोपुर के मान को) स्थूपी से उत्तर पर्यन्तप्रमाण को तेईस भागों में बाँटना चाहिये । दो भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, साढ़े तीन भाग से चरण (दूसरा तल), पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से पाद (तीसरा तल), डेढ भाग से मञ्च, ढ़ाई भाग से पाद (चतुर्थ तल), सवा एक भाग से कपोत, दो भाग से तलिप (पाँचवाँ तल), एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से कन्धर, ढाई भाग से शिखर एवं शेष भाग से स्थूपी को ऊँचाई रखनी चाहिये ॥४६-४९॥

षट्तिलगोपुर

छः तल का गोपुर - (छः तल के गोपुर में) उत्तर से शिखान्तपर्यन्त प्रमाण को उन्तीस भागों में बाँटना चाहिये । दो भाग से प्रस्तर की ऊँचाई, चार भाग से पाद (द्वितीय तल), पौने दो भाग से मञ्च, साढे तीन भाग से पाद (तीसरा तल), पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से तलिप (चतुर्थ तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर, ढाई भाग से पाद (पाँचवाँ तल), सवा एक भाग से कपोत, दो भाग से ऊर्ध्वभाग (ऊपरी तल, छठवाँ तल), एक भाग से प्रस्तर, एक भाग से कन्धर, ढाई भाग से शिरोभाग एवं शेष भाग से शिखाभाग की ऊँचाई रखनी चाहिये । इस प्रकार छः तल गोपुर का वर्णन किया गया । अब सात तल के गोपुर का वर्णन किया जा रहा है ॥५०-५३॥

सप्ततलगोपुर

सात तल का गोपुर - (सात तल के गोपुर के) उत्तर से प्रारभ कर शिखापर्यन्त प्रमाण को छत्तीस भागों में बाँटना चाहिये । सवा दो भाग से मञ्च, साढ़े चार भाग से पाद (द्वितीय तल), दो भाग से

प्रस्तर, चार भाग से पाद (तृतीय तल), पौने दो भाग से मञ्च, साढ़े तीन भाग से चरण (चतुर्थ तल), पौने दो भाग से मञ्च, तीन भाग से पाद (पाँचवाँ तल), डेढ़ भाग से प्रस्तर, ढाई भाग से तलिप (छठवाँ तल), सवा एक भाग से मञ्च, दो भाग से ऊर्ध्व पाद (सातवाँ तल, ऊपरी तल), एक भाग से कपोत, एक भाग से कन्धर, पौने तीन भाग से शिरोभाग एवं शेष भाग से शिखा की ऊँचाई रखनी चाहिये । इस प्रकार इस क्रम से गोपुरों का भाग निर्धारित करना चाहिये ॥५४-५८॥

गोपुरविस्तारमान

गोपुर के विस्तार का प्रमाण - एक तल वाले गोपुर की चौड़ाई के पाँच भाग करने चाहिये । तीन भाग स नालीगेह (मध्य का स्थान) एवं शेष भाग से भित्तिविष्कभ (भित्ति की मोटाई) निर्मित करनी चाहिये ॥५९॥

(यदि दो तलों का गोपुर हो तो) चौड़ाई के सात भाग करने चाहिये । चार भाग से गर्भगृह (मध्य भाग) एवं शेष भाग से भित्तिविष्कभ (भित्ति कीचौड़ाई) रखनी चाहिये । एक भाग से कूट का विस्तार रखना चाहिये । कोष्ठक का विस्तार तीन भाग से एवं लबाई पाँच भाग से निर्मित करनी चाहिये । कूट एवं कोष्ठ के मध्य भाग को पञ्जर आदि से अलंकृत करना चाहिये । इस प्रकार द्वितल गोपुर का वर्णन किया गया है । अब त्रितल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है ॥६०-६२॥

(त्रितल गोपुर में) चौड़ाई के नौ भाग करने चाहिये । तीन भाग से नालीगेह (मध्य भाग), एक भाग से गृहपिण्डी (अन्तःभित्ति) एवं एक भाग से अलिन्दहारा (बाह्य भित्ति) निर्मित करनी चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगो को पहले के समान निर्मित करना चाहिये । शेष भाग से भित्ति-विष्कभ एवं एक भाग से कूट का विस्तार रखना चाहिये ॥६३-६४॥

शाला (मध्य कोष्ठ) की लबाई तीन भाग एवं लब-पञ्जर (मध्य में लटकता हुआ कोष्ठ) एक भाग, आधे भाग से हाराभाग निर्मित होना चाहिये । कोष्ठ की लबाई पाँच या छः भाग होनी चाहिये एवं ऊर्ध्व भाग मे चौड़ाई सात भाग होनी चाहिये ॥६५॥

कूट की चौड़ाई एक भाग से, शाला (मध्य कोष्ठ) की चौड़ाई एवं लबाई दोनों दो भाग से, हारा (मध्य निर्मिति) दो भाग से एवं क्षुद्रनीड (छोटी सजावटी खिड़कीयाँ) आधे भाग से निर्मित करनी चाहिये । शाला की लबाई को पाँच भाग से निर्मित करना चाहिये । इस प्रकार त्रितल गोपुर का वर्णन किया गया है । शेष भागो का निर्माण विद्वान लोगों को अपने विचार के अनुसार करना चाहिये ॥६६-६७॥

(चार तलों वाले गोपुर में) चौड़ाई के दस भाग करने चाहिये । तीन भाग से नालीगेह (मध्य भाग), डेढ़ भाग से भित्ति-विष्कभ (भीतरी भित्ति की मोटाई) एक भाग से अलिन्द एवं एक भाग से खण्डहर्य (बाह्य भित्ति से सबद्ध संरचना) निर्मित करनी चाहिये । कूट एवं कोष्ठ का निर्माण पहले के समान करना चाहिये । सामने एवं पीछे के भाग में महाशाला (बड़ा प्रकोष्ठ) पाँच भाग एवं छः भाग से निर्मित करना चाहिये । इस प्रकार सभी अंगो से युक्त चार तल से युक्त श्रेष्ठ गोपुर निर्मित होता है ॥६८-७०॥

(पञ्चतल गोपुर में) विस्तार के ग्यारह भाग करने चाहिये । तीन भाग से नालीगेह, दो भाग से भित्ति-विष्कभ, एक भाग से अलिन्द, एक भाग से खण्डहर्य एवं अन्य अंगो का निर्माण पूर्व-वर्णित विधि से करना चाहिये । इस प्रकार पञ्चतल गोपुर का निर्माण करना चाहिये । अब षट्तल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है । ॥७१-७२॥

(षट्तल में) चौड़ाई के बारह भाग करने चाहिये । चार भाग से नालीगेह, दो भाग से भित्ति-विष्कभ, एक भाग से अन्धारक (मार्गविशेष) एवं एक भाग से खण्डहर्य निर्मित करना चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि की संरचना पहले के समान करनी चाहिये ॥७३॥

(सात तल के गोपुर में) चौड़ाई के तेरह भाग करने चाहिये । चार भाग से गर्भगृह (नालीगृह, मध्यभाग), ढाई भाग से भित्ति-विष्कभ, एक भाग से अलिन्द्र एवं एक भाग से खण्डहर्य का निर्माण करना चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि पूर्ववधि से निर्मित करनी चाहिये । सामने एवं पृष्ठभाग में छः भाग से महाशाला निर्मित करना चाहिये । इसे पञ्जर, हस्तिपृष्ठ, पक्षशाला आदि से युक्त करना चाहिये । इसमें विभिन्न प्रकार के मसूरक (अधिष्ठान), स्तभ, वेदी एवं जालक-तोरण निर्मित करना चाहिये । इस प्रकार सभी स्थानों के अनुकूल सप्ततल गोपुर का वर्णन किया गया ॥७४-७७॥

द्वारविस्तारमान

द्वार की चौड़ाई का प्रमाण - ऊपरी तल के द्वार की चौड़ाई मूल द्वार (निचले तल, भूतल के द्वार) के विस्तार से पाँच या चार भाग कम होना चाहिये । प्रत्येक तल के मध्य भाग में पाद एवं उत्तर (चौखट) से युक्त द्वार स्थापित होना चाहिये । ऊपरी तलों में सोपान का विन्यास गर्भ-गृह (मध्य भाग) में करना चाहिये । ॥७८-७९॥

सोपान चौकोर उपपीठ से प्रारभ करना प्रशस्त होता है । बुद्धिमान (स्थपति) को जिस प्रकार सोपान का निर्माण सुन्दर लगे, उस प्रकार समुचित रीति से करना चाहिये ॥८०॥

गोपुरालङ्कार

गोपुर के अलङ्कार - गोपुरों के प्रत्येक अलङ्कार का वर्णन अब किया जा रहा है । द्वारशोभा गोपुर का निर्माण मण्डप के सदृश करना चाहिये । द्वारशाला गोपुर का निर्माण दण्डशाला के समान करना चाहिये । द्वारप्रासाद गोपुर का निर्माण प्रासाद (मन्दिर) की आकृति के सदृश करना चाहिये । द्वारहर्य गोपुर की आकृति मालिका की आकृति के समान होनी चाहिये । द्वारगोपुरसंज्ञक गोपुर का स्वरूप शाला के समान होना चाहिये । सभी गोपुरो का अलङ्करण विशेष रूप से यथोचित रीति से करना चाहिये ॥८१-८३॥

श्रीकर-द्वारशोभा

श्रीकर-रीति से द्वारशोभा - श्रीकर के भी अलङ्कारों का वर्णन क्रमानुसार किया जा रहा है । इसकी लबाई चौड़ाई की दुगुनी या दुगुनी से चौथाई कम होनी चाहिये । विस्तार के पाँच, सात या नौ भाग करने चाहिये । विस्तार के भाग-प्रमाण से लबाई के भाग निश्चित करना चाहिये । इसे एक, दो या तीन तल से एवं सभी अंगों से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥८४-८६॥

स्वस्तिक के आकृति की नासा (सजावटी छोटी खिड़की) सभी स्थानों पर होनी चाहिये । सामने एवं पीछे महानासी तथा दोनों पार्श्वों में वंशनासी का निर्माण करना चाहिये । शिरोभाग में क्रकर कोष्ठ (विशिष्ट आकृति) या सम संख्या में स्थूपी होनी चाहिये । साथ ही इसके शिरोभाग पर लुपा हो अथवा इसकी आकृति मण्डप के सदृश होनी चाहिये ॥८७-८८॥

रतिकान्त-द्वारशोभा

रतिकान्त रीति से द्वारशोभा - रतिकान्त शैली में लबाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगो को पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये । इसका शिरोभाग शाला के आकार का होना चाहिये एवं षण्णासी (छोटी-छोटी छः सजावटी खिड़कियाँ) सामने एवं पीछे होनी

चाहिये तथा अर्धकोटि (विशिष्ट आकृति) का निर्माण करना चाहिये । स्थूपियों की संख्या सम होनी चाहिये । इसे अन्तःपाद (भीतरी स्तभ) एवं उत्तर से युक्त तथा मध्यवेशन (मध्य भाग में कक्ष) से युक्त सामने निर्मित करना चाहिये ॥८९-९०॥

कान्तविजय-द्वारशोभा

कान्तविजय रीति से द्वारशोभा - कान्तविजय द्वारशोभा की लबाई उसकी चौड़ाई से दो तिहाई अधिक होती है । इसके तल पूर्व वर्णित एवं कूट तथा कोष्ठ आदि अंग भी पूर्ववर्णित विधि से निर्मित करने चाहिये । इसे भीतरी स्तभो एवं उत्तर से युक्त तथा विविध अगो से सुसज्जित करना चाहिये । शिखर के आगे एवं पीछे षण्णासी (छः नासियाँ) तथा दोनों पार्श्वो मे सभा के आकार का शिरोभाग होना चाहिये, जिस पर विषम संख्या में स्थूपिकायें होनी चाहिये ।

इस प्रकार द्वारशोभा के तीन भेदों का वर्णन किया गया, जो अपने सभी अंगो से युक्त है एवं जिनका मुखभाग अलंकृत है ॥९१-९३॥

विजयविशाल-द्वारशाला

द्वारशालासंज्ञक गोपुर का विजयविशाल प्रकार - विजयविशाल द्वारशाला की लबाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी, सवा भाग, डेढ़ भाग अथवा चतुर्थांश कम दुगुनी रखनी चाहिये । इसकी चौड़ाई के सात, नौ या ग्यारह भाग करने चाहिये तथा इसके दो, तीन या चार तल होने चाहिये ॥९४-९५॥

तीन या चार तले में अलिन्द्र एवं चार मुखपट्टिकायें मुखभाग एवं पीछे महानासी (बड़ी सजावटी खिड़की) अर्धकोटि एवं भद्रक होना चाहिये । इसका शिरोभाग शाला के आकार का होना चाहिये एवं दोनो पार्श्वों मे पञ्जर होने चाहिये । इसे विषम संख्या में स्थूपिकाओं एवं सभी अंगो से युक्त करना चाहिये ॥९६-९७॥

विशालालय-द्वारशाला

विशालालय प्रकार की द्वारशाला - विशालालय द्वारशाला की लबाई उसकी चौड़ाई से चतुर्थांश कम दुगुनी रखनी चाहिये । इसके तल पुर्ववर्णित विधि से निर्मित होने चाहिये तथा इसे कूट एवं कोष्ठ आदि से सुसज्जित होना चाहिये । इसको शीर्षभाग पर अर्धकोटि, भद्र तथा आगे एवं पीछे भद्रनासी से युक्त करना चाहिये । दोनों पार्श्वों मे चार नासियाँ, शिखर भाग शालायुक्त एवं विषम संख्या मेम स्थूपिकायें निर्मित होनी चाहिये । शेष अंग पूर्व के सदृश निर्मित होने चाहिये ॥९८-९९॥

विप्रतीकान्त-द्वारशाला

विप्रतीकान्त रीति से द्वारशाला - विप्रतीकान्त द्वारशाला की लबाई उसकी चौड़ाई से दो तिहाई अर्थात् तीन भाग में से दो भाग के बराबर अधिक रखनी चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अंगों को पहले समान निर्मित करना चाहिये । तलों का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये । चारो दिशाओं में भद्रक, शिखर पर चार नासियाँ एवं शिरो भाग कोभद्र से युक्त करना चाहिये । इसके भीतरी भाग में स्तभ एवं उत्तर निर्मित करना चाहिये एवं इसे विषम संख्या में स्थूपिकाओं से युक्त करना चाहिये । इस प्रकार सबी अवयवों से युक्त तीन प्रकार की द्वारशालाओं का वर्णन किया गया ॥१००-१०२॥

श्रीकान्त-द्वारप्रासाद

द्वारप्रासादसंज्ञक गोपुर का श्रीकान्त प्रकार - श्रीकान्त द्वारप्रासाद की लबाई उसकी चौड़ाई से डेढ गुनी अधिक होती है । इसकी चौड़ाई को नौ, दस या ग्यारह भागों में बाँटना चाहिये । इसमें तीन,

चार या पाच तल का निर्माण करना चाहिये । द्वार के ऊपर भीतरी भाग में रङ्ग एवं परिभद्र निर्मित करना चाहिये । इसका शिरोभाग शाला (कोष्ठक) के आकार का हो एवं सामने तथा पीछे महानासी का निर्माण होना चाहिये । इसे अर्धकोटि से युक्त एवं चार पञ्जरों से सुशोभित होना चाहिये ।

श्रीकेश-द्वारप्रासाद

श्रीकेश रीति से द्वारप्रासाद - श्रीकेश द्वारप्रासाद में लबाई चौड़ाई से तीन गुनी अधिक होती है । इसके तल पहले के सदृश होने चाहिये एवं द्वर पर निर्गम कुटिम (थोड़ा बाहर निकला हुआ अधिष्ठान) निर्मित होना चाहिये । इसे अन्धार (मध्य में स्थित मार्ग) से युक्त एवं कूट-कोष्ठ आदि सभी अवयवों से युक्त होना चाहिये ॥१०६-१०७॥

इसे विभिन्न प्रकार के अधिष्ठानों, स्तभों एवं वेदिका आदि से सुसज्जित करना चाहिये । इसके भीतरी भाग में स्तभ एवं उत्तर तथा मध्य भाग में वारण का निर्माण करना चाहिये । इसका शिरोभाग शाला के आकार का हो एवं सामने तथा पीछे महानासी होनी चाहिये । दोनों पार्श्वों में चार नासियाँ निर्मित होनी चाहिये एवं इसे सभी अंगो से युक्त होना चाहिये । सभी स्थानों पर स्वस्तिक के आकृति वाली नासियाँ सुशोभित होनी चाहिये तथा इसे नन्द्यावर्त गवाक्ष एवं जालक (झरोखा) आदि से सुसज्जित करना चाहिये ॥१०८-११०॥

केशविशाल-द्वारप्रासाद

केशविशालसंज्ञक द्वारप्रासाद गोपुर - एक्शविशाल द्वारप्रासाद की लबाइ चौड़ाई के डेढ़ गुनी अधिक होती है तलों कानिर्माण पहले के समान होना चाहिये एवं मध्य भाग में वारण (दालान, ओसारा) होना चाहिये । कूट, कोष्ठ आदि अलंकरणों का निर्मण पहले की भाँति होना चाहिये । सामने, पीछे एवं दोनों पार्श्वों में चार महानासि निर्मित करनी चाहिये । इसका शिरोभाग सभा के आकार का हो । उसके मुखभाग, पृष्ठभाग एवं दोनों पार्श्वों में विषम संख्या में स्थूपिकायें होनी चाहिये । इस प्रकार द्वारप्रासाद गोपुर के तीन भेद होते है ॥१११-११३॥

स्वस्तिक-द्वारहर्य

द्वारहर्य गोपुर का स्वस्तिकसंज्ञक भेद - स्वस्तिकसंज्ञक द्वारहर्य गोपुर की लबाई चौड़ाई की दुगुनी होती है एवं चौड़ाई को दस, ग्यारह या बारह भागों में बाँटना चाहिये । इसे चार, पाँच या छः तल से युक्त निर्मित करना चाहिये । भीतरी भाग में स्तभ एवं उत्तर होना चाहिये तथा तलों की योजना पूर्व-वर्णित होनी चाहिये । कूट, कोष्ठ आदि सभी अवयवों तथा अन्धार आदि से सुसज्जित करना चाहिये । इस गोपुर को सभाकार शिखर से युक्त तथा स्वस्तिकाकार नासियों से युक्त करना चाहिये । सभा के अग्र-भाग में आठ नासियाँ एवं विषम संख्या में स्थूपिकाओं का निर्माण करना चाहिये ॥११४-११६॥

दिशास्वस्तिक-द्वारहर्य

दिशास्वस्तिक संज्ञक द्वारहर्य - दिशास्वस्तिक संज्ञक द्वारहर्य गोपुर की लबाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये । इसके तलों की योजना कूट-कोष्ठादि सज्जा पहले के सदृश होनी चाहिये । इसे अन्धारी (भीतरी भित्ति), अन्धार, हाराङ्ग एवं खण्डहर्य से युक्त करना चाहिये । इसका शिरोभाग आयतमण्डलाकार (गोलाई लिये लबाई) एवं सामने तथा पीचे अतिभद्रांश निर्मित करना चाहिये । इसे चार महानासियों एवं चार पञ्जरों से अलंकृत करना चाहिये । भीतरी भाग को स्तभ, उत्तर एवं

सभी अंगो से युक्त करना चाहिये । जिनका जहाँ उल्लेख नही किया गया है, उन सबको पहले के समान निर्मित करना चाहिये तथा विषम संख्या में स्थूपिकायें निर्मित होनी चाहिये ॥११७-११९॥

मर्दल-द्वारहर्य

मर्दल संज्ञक द्वारहर्य गोपुर - मर्दल की लबाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी होती है । तलों का निर्माण एवं कूट तथा कोष्ठ आदि अलंकरणों का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से होता है । सामने एवं पीचे सभा के अग्र भाग के सदृश निर्माण होना चाहिये तथा इसका निर्गत विस्तार के तीसरे भाग के बराबर होना चाहिये । इसका शीर्षभाग शाला के आकार का हो एवं क्षुद्रनासियों से सुसज्जित हो । मुखभाग एवं पृष्ठभाग की महानासी एवं चार पञ्जरों से सज्जा होनी चाहिये । भीतर स्तभ एवं उत्तर निर्मित होना चाहिये । इस प्रकार द्वारहर्य तीन प्रकार से वर्णित है ॥१२०-१२२॥

द्वारगोपुर का मात्राकाण्ड संज्ञक भेद - मात्राकाण्ड की लबाई चौड़ाई की दुगुनी होती है । इसकी चौड़ाई के ग्यारह, बारह या तेरह भाग करने चाहिये एवं पाँच, छः या सात तल होने चाहिये । तलयोजना पूर्ववत् एवं कूट तथा कोष्ठ आदि भी पहले के सदृश होने चाहिये । इसके भीतरी भाग में स्तभ एवं उत्तर हो तथा चारो दिशाओं में भद्रक निर्मित हो । इसे गृहपिण्डी (भीतरी भित्ति), अलिन्द एवं हारा से अलंकृत करना चाहिये तथा खण्डहर्य निर्मित होना चाहिये । इसका शिरोभाग शाला की आकृति का हो तथा सामने एवं पीछे महानासी निर्मित हो । दोनों पार्श्वों में क्षुद्रनासियाँ यथोचित रीति से निर्मित होनी चाहिये ॥१२३-१२६॥

श्रीविशाल-द्वारगोपुर

श्रीविशाल संज्ञक द्वारगोपुर - श्रीविशाल द्वारगोपुर की चौड़ाई के पाँच भाग में से दो भाग के बराबर अधिक लबाई रखनी चाहिये । तल-योजना पहले के सदृश होनी चाहिये तथा मूल से ऊपर क्रकरी आकार (क्रास का आकार) में निर्मित करना चाहिये । इसके शिरोभाग पर क्रकरश्रेष्ठ (क्रास के आकार का कोष्ठ) या सभा का आकार निर्मित करना चाहिये । इसे विभिन्न प्रकार के अधिष्ठानों, स्तभों एवं वेदिकाओं से सुसज्जित करना चाहिये । चारो दिशाओं में महानासी एवं क्षुद्रनासी निर्मित करना चाहिये । स्वस्तिकाकार नासियाँ सभी ओर निर्मित होनी चाहिये ॥१२७-१२९॥

चतुर्मुख संज्ञक द्वारगोपुर - चतुर्मुख द्वारगोपुर की लबाई उसकी चौड़ाई से चार भाग अधिक होती है । इसके तलों का भाग पूर्व-वर्णित हो एव प्रत्येक दिशा में भद्रक हो । हारा के मध्य में कुभलता से युक्त भित्ति हो एवं तोरण,जालक तथा वृत्तस्फुटित (अलङ्करणविशेष) आदि से सुसज्जित हो । कूटों, नीडों (सजावटी खिड़कियों), कोष्ठो एवं क्षुद्रकोष्ठों से अलंकृत हो एवं गृहपिण्डी, अलिन्द्र, हारा एवं खण्डहर्य आदि से सुसज्जित हो ॥१३०-१३२॥

इसका शिरो-भाग सभा की आकृति का या शाला की आकृति का होता है । यह चार नासियों से युक्त होता है एवं पार्श्वों में दो-दो नासिकायें होती है । ऊपरी (तल) कूट आदि सबी अंगो से सुसज्जित होता है तथा भीतर सोपान से युक्त होता है । इस प्रकार यह गोपुर तीन प्रकार का होता है ॥१३३-१३४॥

श्रीकर आदि ग्पुर वर्षा के स्थल (वर्षा के जल के निकास-स्थल) से युक्त अथवा इससे रहित हो सकते है एवं ये सघन अथवा घनरहित अंगों से युक्त आवश्यकतानुसार निर्मित किये जाते है ॥१३५॥

शोभा आदि पन्द्रह गोपुरों में अनेक प्रकार के स्तभ, मसूरक (अधिष्ठा), अनेक प्रकार के लक्षणों से युक्त अवयव, विविध प्रकार के उपपीठ मण्डक सहित, भद्र से युक्त या भद्ररहित तथा घने या विरल अंग आदि से युक्त एक से लेकर सात तलों तक का निर्माण उचित रीति से करना चाहिये । इनके शीर्षभाग शाला के आकार, सभा के आकार या मण्डप के आकार के निर्मित होने चाहिये । इस प्रकार राजाओं एवं देवों के भवनों के गोपुरों का वर्णन किया गया ॥१३६-१३७॥

मयमतम् - अध्याय २५

मण्डप का विधान - देवों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल मण्डपों का वर्णन उचित रीति से किया जा रहा है ॥१॥

मण्डपयोग्यदेश

मण्डप के अनुकूल स्थान (मण्डपों का स्थान) प्रासाद (देवालय) के अग्र भाग में, पुण्यक्षेत्र (तीर्थस्थल) में, आराम (उद्यान, पार्क) में, ग्राम आदि वास्तुक्षेत्र के बीच में, चारो दिशाओं एवं दिशाओं के कोणों में, गृहों के बाहर, भीतर, मध्य में एवं सामने होता है ॥२॥

मण्डप की आवश्यकता

(मण्डप के प्रयोजन इस प्रकार है-) वास के लिये मण्डप, यज्ञ-मण्डप, अभिषेक आदि उत्सवों के अनुरूप मण्डप, नृत्य के लिये मण्डप, वैवाहिक कार्य के लिये मण्डप, मैत्र (सामूहिक उत्सव, कार्यक्रम) एवं उपनयन संस्कार के योग्य मण्डप, आस्थान-मण्डप (राजा की सभा अथवा देवों के जन-सामान्य के दर्शन हेतु विशेष अवसरों पर निर्मित मण्डप), बलालोनक-मण्डप (सैन्य कार्यसम्बन्धी मण्डप), सन्धिकार्यार्हक मण्डप (जिस मण्डप में सन्धि आदि से सम्बन्धित कार्य सम्पन्न हो), क्षौर मण्डप (जहाँ मुण्डन आदि कार्य सम्पन्न हो) तथा भुक्तिकर्मसुखान्वित मण्डप (जहाँ समूहभोज एवं सुख उठाया जाय) ॥३-५॥

मण्डपों के नाम - अब उन मण्डपों के नामों का क्रमशः विधिपूर्वक उल्लेख किया जा रहा है । ये सोलह चतुष्कोण मण्डप है, जो देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये होते है । (उनके नाम इस प्रकार है) - मेरुक, विजय, सिद्ध, पद्मक, भद्रक, शिव, वेद, अलंकृत, दर्भ, कौशिक, कुलधारिण, सुखाङ्ग, गर्भ, माल्य तथा माल्यादभुत ॥६-७॥

धन, सुभूषण, आहल्य, स्त्रुगक, कोण, खर्वट, श्रीरूप एवं मङ्गल- ये आठ आयाताकार मण्डप देवता आदि के एवं राजाओं के अनुकूल होते है तथा वैश्य एवं शूद्रोम के अनुकूल मण्डपों के नाम इस प्रकार है - मार्ग, सौभद्रक, सुन्दर, साधारण, सौख्य, ईश्वरकान्त, श्रीभद्र तथा सर्वतोभद्र ॥८-१०॥

इनके स्तम्भों के भक्तिमान (विभाजन का प्रमाण) लम्बाई एवं चौडाई, इनके अधिष्ठान, आकार, प्रपा (निर्मिति विशेष), मध्यम रङ्ग, अलङ्कार, स्तम्भों के पक्ष (स्तम्भों की योजना) एवं उनकी आकृति- इन सभी का वर्णन अब मैं (मय ऋषि) करता हूँ ॥११-१२॥

भक्तिमान

भक्ति का प्रमाण, प्रमाणयोजना - डेढ़ हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः अगुल बढ़ाते हुये पाँच हाथ तक पन्द्रह प्रकार के स्तम्भ-मान प्राप्त होते है । इसकी लम्बाई का मान चौड़ाई के भक्तिमान से ग्रहण किया जाता है । चौड़ाई से ग्रहण किये गये लम्बाई के मान के लिये चौड़ाई को एक, दो, तीन, चार या पाँच भाग में बाँटना चाहिये एवं लम्बाई को एक भाग अधिक होना चाहिये । अपने विस्तार के भक्तिमान से तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ तक ले जाना चाहिये । इस प्रकार लम्बाई के आठ प्रमाण प्राप्त होते है । इससे प्रमाणयोजना बनानी चाहिये तथा सभी लम्बे मण्डप इसी भक्तिमान से निर्मित होने चाहिये ॥१३-१६॥

स्तम्भमान

स्तम्भ-प्रमाण - ढाई हाथ से प्रारम्भ कर छः-छः- अंगुल बढ़ाते हुये आठ हाथ तक स्तम्भ की ऊँचाई ले जानी चाहिये । इस प्रकार स्तम्भ के तेईस प्रमाण बनते है । अथवा तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये स्तम्भ का मान प्राप्त होता है ॥१७॥

स्तम्भ का विस्तार (घेरा) आठ अंगुल से प्रारम्भ कर आधा अंगुल बढ़ाते हुये उन्नीस अंगुल तक ले जाना चाहिये । इस स्तम्भ के मूल का विस्तार प्राप्त करने के लिये उसकी ऊँचाई के ग्यारह, दस, नौ या आठ भाग करने चाहिये एवं उसमें से एक कम करने पर (दस, नौ, आठ, सात भाग) मूल के विस्तार या परिधि का होता है ॥१८-१९॥

अधिष्ठानोत्सेध

अधिष्ठान की ऊँचाई - सामान्यतया सभी वास्तुओं मे स्तम्भ की ऊँचाई के आधे प्रमाण से अधिष्ठान का मान रक्खा जाता है । अथवा स्तम्भ की ऊँचाई के पाँच भाग करने पर अधिष्ठान दो भाग के बराबर रक्खा जाता है या स्तम्भ की ऊँचाई के तीन भाग करने पर एक भाग के बराबर अधिष्ठान रक्खा जाता है ॥२०-२१॥

उपपीठोत्सेध

उपपीठ की ऊँचाई - अधिष्ठान उपपीठ से युक्त या केवल अधिष्ठान (उपपीठरहित अधिष्ठान) होना चाहिये । उपपीठ ऊँचाई में अधिष्ठान के बराबर, उसका दुगुना या तीन गुना होता है । अथवा उसकी ऊँचाई उसी प्रकार रखनी चाहिये, जैसी उपपीठविधान के प्रसंग में वर्णित है । उपपीठ की ऊँचाई इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार रखनी चाहिये । उपपीठ, तल (अधिष्ठान), स्तम्भ एवं प्रस्तर की सज्जा के विषय में पहले कहा जा चुका है । शेष यथावसर करना चाहिये ॥२२-२४॥

मण्डप का लक्षण - अधिष्ठान, उसके ऊपर स्तम्भ एवं प्रस्तर- इन तीन वर्गो से युक्त, कपोत एवं प्रति से युक्त निर्माण को मण्डप कहा जाता है ॥२५॥

मण्डपशब्दार्थ

मण्डप शब्द का अर्थ - मण्ड अर्थात अलङ्करण । उसकी जो रक्षा करता है, उसे मण्डप कहते है ।

प्रपालक्षण

प्रपा का लक्षण - सभी वर्णो के अनुकूल प्रपा के सामान्य स्वरूप का वर्णन करता हूँ । इसके स्तम्भ भूतल से प्रारम्भ होते है एवं इनके ऊपर उत्तर होते है । उत्तर (स्तम्भ के ऊपर भित्ति), उसके ऊपर ऊर्ध्ववंश (प्रधान वंश, छाजन के लट्ठे) होते है । इनके साथ प्राग्वंश (प्रधान वंश से जुड़े पूर्व की ओर जाने वाले अंश), अनुवंश (सहायक वंश) आदि होते है । प्रपा का आच्छादन नारियल के पत्ते तथा अन्य पत्तों से किया जाता है ॥२६-२७॥

स्तम्भों की लम्बाई पूर्ववर्णन के अनुसार रखनी चाहिये । स्तम्भ का विष्कम्भ (स्तम्भ का घेरा) चार, छः, आठ या दस अंगुल होना चाहिये । यह मान सारदारु (ठोस काष्ठ) से निर्मित स्तम्भ का कहा गया है । वंश-निर्मित स्तम्भ का मान भी यही है । जहाँ जैसी आवश्यकता हो, वहाँ वैसा निर्माण करना चाहिये ॥२८-२९॥

स्तम्भ की ऊँचाई के दस, नौ, आठ, सात, छः या पाँच भाग करना चाहिये ।

रङ्गलक्षण

रङ्ग का लक्षण - (पूर्ववर्णित भाग के बराबर) वेदिका की ऊँचाई होनी चाहिये । एक भाग से मध्य भाग में रङ्ग निर्मित करना चाहिये । स्तम्भ की ऊँचाई के चार भाग करने पर एक भाग से मसूरक (अधिष्ठान), दो भाग से स्तम्भ की लम्बाई एवं एक भाग से प्रस्तर निर्मित करना चाहिये ॥३०-३१॥

भवन-योजना सम संख्या मे हो या विषम संख्या में हो, रङ्ग की विशालता दो भाग या एक भाग रखनी चाहिये । आठ स्तम्भों से युक्त अथवा चार स्तम्भों से युक्त रङ्ग का निर्माण प्रपा आदि के समान करना चाहिये ॥३२॥

रङ्ग सभी अंगो से युक्त एवं मिश्रित पदार्थो से युक्त होता है । शाला, सभागार, प्रपा एवं मण्डपों के मध्य में- इन चार स्थलों पर रङ्ग का निर्माण होता है । इसका मान तीन प्रकार का कहा गया है ॥३३-३४॥

मालिकामण्डप

मालिका-मण्डप - मण्डप के ऊपर का तल मालिका मण्डप होता है । यदि मण्डप के दो तल हो तो वह शिखरयुक्त होता है । दोनों तलों के मध्य में स्थित भाग को प्रतिमध्य कहते है ॥३५॥

मेरुक

मेरुक - मेरुक मण्डप चौकोर, चार स्तम्भों से युक्त, एक भाग (भक्ति) माप का तथा आठ नासिकाओं से युक्त होता है । इसे ब्रह्मासन कहा गया है ॥३६॥

विजय - विजय संज्ञक मण्डप दो बक्ति से युक्त एवं चतुष्कोण होता है । यह आठ स्तम्भों एवं आठ नासियों से अलंकृत होता है । यह अधिष्ठान से युक्त एवं मध्य स्तम्भ से रहित होता है । विवाह के लिये नौ स्तम्भों से युक्त प्रपा निर्मित होनी चाहिये ॥३७-३८॥

सिद्ध

सिद्ध - सिद्ध संज्ञक मण्डप तीन भक्ति (प्रमाण की इकाई) वाला, चतुष्कोण, सोलह स्तम्भ से युक्त, सोलह नासिकाओं से युक्त एवं मध्य में आँगन से युक्त होना चाहिये, जिसके ऊपर मध्यभाग में कूट हो सकता है । चारो दिशाओं में चार द्वार हो । बाहरी द्वारों कोचार तोरणों से अलंकृत करना चाहिये । यह मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के यज्ञ-कार्य के अनुकूल होता है । यह सिद्ध नामक मण्डप सभी कार्यो के अनुकूल कहा गया है ॥३९-४१॥

यागमण्डप

यज्ञमण्डप - बुद्धिमान स्थपति को मण्डप के भीतरी भाग को इक्यासी भागों में बाँटना चाहिये । मध्य के नौ भागों में वेदी होती है । चारो ओर तीन भाग छोड़कर मध्य में चौकोर, योनि के आकार का, अर्धचन्द्रकार, त्रिकोण, वृत्ताकार, षट्कोण, पद्मपुष्प के आकार का या अष्टकोण कुण्ड पूर्व दिशा से प्रारम्भ करते हुये निर्मित करना चाहिये ॥४२॥

कुण्डलक्षण

कुण्ड का लक्षण - (कुण्ड के लिये) एक हाथ चौड़ा तथा एक हाथ गहरा चौकोर गड्ढा निर्मित करना चाहिये । यदि इसे तीन मेखला से युक्त करना हो तो तीन सूत्र या दो मेखला से युक्त करना हो तो दो सूत्र खींचना चाहिये । इन मेखलाओं की ऊँचाई सात, पाँच या तीन अंगुल रखनी चाहिये ॥४३॥

उपर्युक्त मेखलाओं की चौड़ाई क्रमशः चार, तीन एवं दो अंगुल रखनी चाहिये । योनि की आकृति गज के ओष्ठ के समान निर्मित करना चाहिये । इसकी चौड़ाई, लम्बाई एवं गहराई क्रमशः चार, छः एवं एक अंगुल रखनी चाहिये तथा इसे अग्नि की ओर होना चाहिये ॥४४॥

कुण्ड के मेखलाओं की ऊँचाई चार, तीन या दो अंगुल होनी चाहिये । अथवा कुण्ड की गहराई एक बित्ता हो एवं एक मेखला से युक्त हो । सभी कुण्डों की योनि कोने में नही होनी चाहिये ॥४५॥

कुण्ड का केन्द्र (नाभि) कमल के समान होना चाहिये । इसकी आकृति वृत्त के समान होनी चाहिये । इसका व्यास चार, पाँच या छः अंगुल होना चाहिये तथा इसकी ऊँचाई चार या तीन भाग होनी चाहिये ॥४६॥

योनिकुण्ड

योनि की आकृति का दण्ड - कुण्ड के पूर्व भाग को पाँच भागों में बाँटना चाहिये । कोण से आधा भाग ग्रहण कर (सीधी रेखा द्वारा उत्तर एवं दक्षिण के) मध्य भाग को जोड़ना चाहिये । इसके पश्चात् (उत्तर, पश्चिम) कोण को गोलाई से घेरना चाहिये । इसी प्रकार दूसरी ओर भी करना चाहिये अर्थात् दक्षिण-पश्चिम के कोण को भी गोलाई से घेरना चाहिये । इस प्रकार दो सूत्रों के प्रयोग से योनि की आकृति निष्पन्न होती है ॥४७॥

अर्धचन्द्रकुण्ड

अर्धचन्द्रकार कुण्ड - कुण्ड के व्यास के दसवे भाग में ऊपर एवं नीचे (बिन्दु बनाना चाहिये । उस बिन्दु से) ज्यासूत्र (सीधी रेखा) खींचना चाहिये । इस मान से अर्धचन्द्राकार रेखा खींचनी चाहिये । इस प्रकार वास्तुविद्या के ज्ञाता को अर्धचन्द्रकुण्ड निर्मित करना चाहिये ॥४८॥

त्र्यस्त्रकुण्ड

त्रिकोण कुण्ड - चौकोर क्षेत्र के व्यास के आठ भाग में छः भाग करके तीन सूत्रों से त्र्यस्त्र कुण्ड निर्मित होता है ।

वृत्तकुण्ड

वृत्ताकार कुण्ड - त्रिकोण कुण्ड का वर्णन किया जा चुका है । क्षेत्र को अट्ठारह भागों में बाँटना चाहिये । वृत्ताकार कुण्ड इस प्रकार निर्मित करना चाहिये (सुत्र इस प्रकार घुमाना चाहिये), जिससे कि कुण्ड एक भाग बाहर रहे ॥४९॥

छः कोण का कुण्ड - (चतुष्कोण) कुण्ड के क्षेत्र को पाँच भागों में बाँटना चाहिये । एक वृत्त इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे उसकी परिधि उन पाँच भागों से अधिक हो । इसके पश्चात् प्रत्येक भाग में मत्स्य की आकृति निर्मित करनी चाहिये । इस प्रकार छः सूत्रों के द्वारा षट्कोण कुण्ड निर्मित होता है ॥५०॥

पद्माकार कुण्ड - पूर्ववर्णित विधि से वृत बनाकर उसके मध्य में एक वृत्त निर्मित करना चाहिये । इसके पश्चात् मध्य से प्रारम्भ करते हुये पद्म का आकार एवं कर्णिका आदि जिस प्रकार बने, उस प्रकार विद्वान को पद्मकुण्ड निर्मित करना चाहिये । ॥५१॥

अष्टकोण कुण्ड - कुण्ड के क्षेत्र को चौबीस भागों में बाँटना चाहिये । एक भाग बाहर रहे, इस प्रकार एक वृत्त खींचना चाहिये । दोनों कोणों से एवं कोणों के अर्ध भाग से आठ सूत्रों (रेखाओं) से अष्टकोण कुण्ड निर्मित करना चाहिये ॥५२॥

सप्तास्त्रकुण्ड

सप्तकोण कुण्ड - कुण्ड के क्षेत्र को दस भागों में बाँटना चाहिये । उसमें एक वृत्त इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे एक भाग क्षेत्र के बाहर रहे । सात सूत्रों के प्रयोग से सप्तकोण कुण्ड निर्मित होता है, जिसका पट्टदैघ्य (सात कोणों का माप) तैतीस हो एवं क्षेत्र का माप चौसठ हो ॥५३॥

पञ्चास्रकुण्ड

पञ्चकोण कुण्ड - कुण्ड के क्षेत्र को सात भागों में बाँटना चाहिये एवं उसमें एक वृत्त इस प्रकार खींचना चाहिये, जिससे उसका एक भाग बाहर रहे । पाँच सूत्रों के द्वारा पञ्चकोण कुण्ड बनाना चाहिये, जिससे पट्ट का आयाम चतुष्कोण का तीन चौथाई हो ॥५४॥

प्राप्त भागों के उतने भाग करके पहले के समान एक-एक भाग कम या अधिक करते हुये कोणों को परिधि के बराबर निर्मित करना चाहिये । इस प्रकार बुद्धिमान स्थपति को सभी प्रकार के कुण्डों की योजना करनी चाहिये ॥५५॥

पाँच में तीन चतुर्थांशयुक्त एक भाग, सात में दो भाग, सोलह में पाँच भाग, नौ में तीन चतुर्थांशयुक्त एक भाग, ग्यारह में डेढ़ भाग, तेरह में सवा एक भाग कहा गया है । पन्द्रह में एक भाग कम एवं सोलह भाग, सत्रह भाग तथा उन्नीस भाग में क्रमशः आठ भाग कम होना चाहिये ॥५६॥

सिद्ध

सिद्धमण्डप - यदि सिद्ध मण्डप को देवालय के सम्मुख स्थापित किया जाय तो उसमें अधिष्ठान, स्तम्भ, प्रस्तर एवं वर्ग देवालय के अंग के समान होने चाहिये । यह एक, दो या तीन द्वारों से युक्त हो एवं भित्ति पर कुम्भलता का अंकन होना चाहिये ॥५७-५८॥

मण्डप के मध्य में भद्रक (पोर्च) निर्मित करना चाहिये, जिसका व्यास स्तम्भ के व्यास का एक गुना (बराबर), दुगुना या तीन गुना रखना चाहिये । इसे तोरण से युक्त, सभी अंगों एवं देवों की आकृतियो से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥५९॥

मण्डप की भित्ति का विष्कम्भ (मोटाई) प्रधान भवन (या देवालय) की मोटाई के बराबर तीन चौथाई अथवा तीन में दो भाग के बराबर होना चाहिये । यह सभी भवनों के सम्मुख अन्तराल (मार्ग) से युक्त एवं वेश (आच्छादित स्थल) से युक्त होना चाहिये ॥६०॥

पद्मक

पद्मक - चौकोर क्षेत्र को चार भक्ति (इकाई माप) एवं चार द्वार से युक्त करना चाहिये । मुखभाग एवं पृष्ठभाग पर दो भक्ति एवं एक भाग से निर्गम का विस्तार रखना चाहिये । मुखभाग एवं पृष्ठभाग पर दो भक्ति एवं एक भाग से निर्गम का विस्तार रखना चाहिये । मध्य भाग में स्तम्भ नही होना चाहिये एवं दो भक्ति से ऊर्ध्वकूट का निर्माण करना चाहिये ॥६१-६२॥

इसमें तिरेसठ स्तम्भ तथा अट्ठाईस अल्पनासिकायें (छोटी सजावटी खिड़कियाँ) होनी चाहिये । चारों दिशाओं में सोपान होने चाहिये एवं लाङ्गल के आकार की भित्ति होनी चाहिये । आठ पञ्जर (सजावटी अंग) होने चाहिये । पद्मक (कमलपुष्प के समान) इस मण्डप की संज्ञा पद्मक है । देवालय के सम्मुख यह मण्डप देवों के अभिषेक के लिये प्रशस्त होता है । यह एक मुख वाला हो तो मध्य में आँगन होना चाहिये । यह यज्ञकार्य के अनुकूल होता है एवं आठों दिशाओं में वारण (किसी भी दिशा में) हो सकता है ॥६३-६५॥

भद्रक

भद्रक - भद्रक मण्डप चौकोर होता है एवं इसका माप पाँच भाग रक्खा जाता है । मध्य भाग में तीन भाग से कूट एवं चारो ओर एक भाग से मण्डप निर्मित होता है । यह बत्ती स्तम्भों एवं चौबीस नासिकाओं से युक्त तथा आठ पञ्जरों से युक्त होता है । भित्ति कुम्भलता से सुसज्जित होती है ॥६६-६७॥

चारो दिशाओं में चार द्वार एवं कोनों पर लाङ्गलभित्ति (हल के आकार की भित्ति) होनी चाहिये । अथवा मध्य भाग में आँगन हो एवं तीन भक्ति (तीन ईकाई) विस्तर वाले स्तम्भों से युक्त रखना चाहिये । मण्डप को भवन के सतह के बराबर, दस या आठ भाग कम रखना चाहिये । यह मण्डप (देवादिकों के) स्नान के लिये एवं नृत्य के लिये अनुकूल होता है ॥६८-६९॥

शिव

शिव-मण्डप - यह छः भक्ति वाला चौकोर मण्डप होता है । इसमें आठ स्तम्भ एवं कूट होते है । यद दो भक्ति विस्तृत होता है एवं भाग से वक्रनिष्क्रान्त निर्मित होता है । इसमे मध्य भाग को छोड़कर साठ स्तम्भ, चौबीस नासियाँ होती है एवं यह सभी अलङ्कारों से सुसज्जित होता है । शिव नामक यह सभी भवनों के लिये सदा उपयुक्त होता है ॥७०-७१॥

वेद

वेद - यह चौकोर एवं सात भाग से युक्त होता है । यह साठ स्तम्भों से युक्त होता है । उसके मध्य में नौ भग से आँगन हो, जो कूट से अलंकृत हो (अथवा खुला हो) सकता है । इसमें बत्तीस नासियाँ एवं चारो दिशाओं में वारण होता है । ॥७२-७३॥

इस मण्डप को तीन भाग के माप वाले मुखभद्रक (सामने पोर्च) से युक्त करना चाहिये, जिसमें एक भाग से निर्गम निर्मित हो । इसे मध्य रङ्ग से युक्त एवं इच्छित दिशा में भित्ति से युक्त होना चाहिये । यह देवों एवं राजाओं का आस्थान मण्डप (जहाँ श्रोता-दर्शक बैठते है) है एवं अभिषेक आदि कार्यों के लिये उपयुक्त होता है । इसे वेद (मण्डप) कहा गया है ॥७४-७५॥

अलङ्कृत

अलंकृत - यह मण्डप चौकोर, आठ भक्तियुक्त एवं अस्सी स्तम्भों से युक्त होता है । इसमें चार भाग से ऊर्ध्वकूट एवं दो भागों से भद्रक निर्मित होना चाहिये । चारो दिशाओं में चार द्वार एवं बगल में सीढ़ी होनी चाहिये । सभी अलंकारो से युक्त इस मण्डप को अलंकृत कहा गया है ॥७६-७७॥

इसके ब्रह्मस्थल (केन्द्रभाग में) जलपाद (जल का स्थान) हो सकता है, जिसके चारो ओर एक भाग से पैदल चलने का मार्ग हो एवं दो भाग से ढँका हुआ मण्डप निर्मित हो । मुखभद्र पूर्व-वर्णित रीति

से हो एवं अभीप्सित दिशा में भद्रक निर्मित हो । इसे ग्राम आदि के ब्रह्मस्थान (केन्द्र) में निर्मित करना चाहिये ॥७८-७९॥

दर्भ

दर्भ - यह मण्डप नौ भक्तिप्रमाण का एवं एक सौ स्तम्भों से युक्त होता है । इसका भद्र तीन भाग विस्तृत (तथा एक भाग से निर्गमयुक्त) एवं चार द्वारों से युक्त होता है, जो सोपान से युक्त होते है । उसके कोनों में लाङ्गल के आकार की भित्ति होती है । इसे नौ रंगो से तथा अड़तालीस अल्पनासियों से सुसज्जित करना चाहिये । यह नौ ब्रह्माओं (ब्रह्मा के नौ ऋषिपुत्रों) से पूजित एवं ग्राम तथा भवन आदि के मध्य में होता है । सभी अलंकारों से युक्त दर्भसंज्ञक मण्डप अत्यन्त सुन्दर होता है । ॥८०-८१-८२॥

कौशिक

कौशिक - दस अंशो वाला चौकोर मण्डप एक सौ बारह स्तम्भों से युक्त होता है । यह नौ कूटों से युक्त एवं एक भाग के अन्तराल से युक्त होता है । इसे 'कौशिक' कहते है । चतुष्कोण होने पर यह 'जातिक' होता है । यदि इसमें एक मुख (द्वार) एवं एक भद्र हो तो इसे 'नन्द' कहते है तथा दो मुख होने पर इसकी संज्ञा "भद्रकौशिक' होती है । तीन मुख होने पर 'जयकोश' तथा चार मुख होने पर इसे 'पूर्णकोश' कहते है । यह अधिष्ठान, स्तम्भ एवं कोनों पर लाङ्गल के आकार की भित्ति से युक्त होता है । इसे अड़तालीस अल्पनासिकाओं एवं सभी अलङ्करणों से सुसज्जित करना चाहिये । ॥८३-८४-८५॥

कुलधारण

कुलधारण - इसमें एक समचतुष्कोण क्षेत्र ग्यारह भाग से युक्त होता है । इसके चारो ओर एक भाग से मण्डप निर्मित होता है । चारो कोणों पर दो भाग से चार कूट होते है ॥८६-८७॥

चारो दिशाओं में दो भाग चौड़ा एवं तीन भाग लम्बा कोष्ठ होना चाहिये । तीन भक्तिमाप का चौकोर मध्यरङ्ग एवं उसके ऊपर कूट होना चाहिये । कूट एवं शाला के बीच में क्रकरीकृत (क्रास के आकार में) मार्ग होने चाहिये । जाति आदि को मुखभद्र आदि सभी अंगो से युक्त होना चाहिये ॥८८-८९॥

ऊपरी भाग में सभाङ्ग, नीड, प्रस्तर एवं नौ बोधक होना चाहिये । मण्डप ढका हुआ अथवा खुला हुआ गोपनीय अथवा खुले कार्य की आवश्यकता के अनुसार निर्मित किया जा सकता है । इस सम-चतुष्कोण मण्डप को कुलधारण कहते है । ॥९०॥

सुखाङ्ग

सुखाङ्ग - इस मण्डप में बारह भागों वाला सम चतुष्कोण क्षेत्र होता है, जिसके आठों दिशाओं एवं मध्य भाग में दो ईकाई माप के ऊर्ध्वकूट होते है । उसके बाहर एक भाग माप का अलिन्द्र (गलियारा) चारो ओर होना चाहिये ॥९१-९२॥

इसमें आँगन या सभा-स्थल एवं कोने में लाङ्गल के आकार की भित्ति होनी चाहिये । चारो दिशाओं में चार भाग से विस्तार रक्खा जाय एवं दो भाग से निर्गम निर्मित हो । सोपान पार्श्व में हो तथा आठ पञ्जरों से युक्त हो । मण्डप के प्रारम्भिक अंग (अधिष्ठान) में एक सौ साठ स्तम्भ होने चाहिये । यथोचित स्थान पर नासिकायें होनी चाहिये । इस प्रकार निर्मित मण्डप को सुखाङ्ग कहते है ॥९३-९४॥

सौम्य

सौम्य - सौख्य (सौम्य)मण्डप में तेरह भाग का सम-चतुष्कोण क्षेत्र होता है । इसके चारो ओर दो भाग से मण्डप एवं एक भाग से क्रकरी-पथ होना चाहिये । तीन भाग से मध्य रंग एवं ऊपरी भाग में ऊर्ध्व कूट एवं स्थूपी से युक्त नीव्र होता है । ॥९५-९६॥

मण्डप के मध्य में स्तम्भ नही होना चाहिये । चारो कोणों पर दो भाग से कूट एवं चारो दिशाओं में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे चार कोष्ठ होने चाहिये । इसका मुखभाग नन्द विधि (श्लोक ८४-८५) के अनुसार भद्र (पोर्च) से युक्त होना चाहिये । भित्ति का निर्माण इच्छित दिशा में करना चाहिये । इसमें एक सौ चारासी स्तम्भ एवं सभी प्रकार के अलंकरण होने चाहिये । यह मण्डप देव, ब्राह्मण एवं राजाओं के लिये उपयुक्त होता है ॥९७-९८॥

गर्भ

गर्भमण्डप - चौदह भाग विस्तार वाला यह मण्डप चौकोर होता है । दो भाग से गर्भकूट (मध्य भाग के ऊपर निर्मित कूट) होना चाहिये, जिसके चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र (गलियारा) निर्मित हो । एक भाग से अन्तराल (मार्ग) निर्मित होना चाहिये, जिसके ऊपर छत न निर्मित हो ॥९९-१००॥

चारो कोनों पर दो-दो भाग से आँगन निर्मित होने चाहिये, जिनके ऊपर ऊर्ध्वकूट हो सकते हो (या आँगन खुले रह सकते है) । चारो दिशाओं में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे आँगन या तो कोष्ठ से युक्त (या विना कोष्ठ के) होने चाहिये । उनके बाहर चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र होना चाहिये ॥१०१॥

अभीष्ट दिशा में भित्ति हो एवं आठो दिशाओं में भद्र निर्मित होने चाहिये । अधिष्ठान पर दो सौ आठ स्तम्भ निर्मित होने चाहिये । गर्भसंज्ञक सुन्दर मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के अनुकूल होता है ॥१०२-१०३॥

माल्य

माल्य - इस मण्डप में पन्द्रह भाग विस्तृत चौकोर क्षेत्र होता है । इसके मध्य में तीन भाग से ऊर्ध्वकूट-युक्त मध्यरंग अथवा आँगन होना चाहिये । चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र तथा एक भाग से अन्तराल होना चाहिये । शेष अंग पूर्ववर्णित होने चाहिये; किन्तु कोष्ट एक भाग अधिक लम्बा होना चाहिये । अधिष्ठान पर दो सौ बत्तीस स्तम्भ होने चाहिये । सभी सज्जाओं से युक्त इस मण्डप की संज्ञा माल्य होती है । ॥१०४-१०६॥

माल्यादभुत

माल्यादभुतम् - माल्यादभुत मण्डप सोलह भागों के सम-चतुष्कोण क्षेत्र से युक्त होता है । दो भाग से ऊर्ध्वकूट होता है एवं एक भाग माप के अलिन्द्र से घिरा होता है । सामने दो भाग एवं एक भाग माप का भद्र होता है एवं कोने में लाङ्गल के आकार की भित्ति होती है । पार्श्व में सीढ़ी निर्मित होती है एवं यह चित्र-प्रस्तर से युक्त होता है ॥१०७-१०८॥

उसके बाहर दो भाग के प्रमाण से चारो ओर जलपाद (जलस्थान) होना चाहिये तथा उसके बाहर चारो ओर चार भाग माप का मण्डप होना चाहिये । दो भाग का चौकोर क्षेत्र हो एवं एक भाग से व्यवधान (अन्तराल) निर्मित हो । उसके मध्य में चारो ओर सोलह भागों वाला आँगन होना चाहिये ॥१०९-११०॥

कोनों पर लाङ्गल के आकार की भित्ति हो एवं ऊर्ध्व भाग पर हारामार्ग से अलंकरण हो । दो भाग विस्तृत क्षेत्र निर्गम से युक्त हो एवं चारो दिशाओं में भद्र निर्मित हो । पार्श्व में सीढ़ी हो एवं सभी प्रकार के आभरणों से युक्त हो । ये सोलह प्रकार के चौकोर मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये उपयुक्त होते है ॥१११-११२॥

बुद्धिमान व्यक्ति (स्थपति) को उपर्युक्त चतुष्कोण मण्डपों में प्रत्येक में पार्श्वो में एक-एक भाग बढ़ाते हुये बत्तीस भाग तक विस्तार ले जाना चाहिये । ये मण्डप खुले या बन्द हो सकते है एवं आवश्यकतानुसार भित्ति एवं स्तम्भ निर्मित किये जाने चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को यथावसर एवं शोभा के अनुकूल मण्डप-निर्माण करना चाहिये । आयताकार मण्डपो का वर्णन इस प्रकार किया गया ॥११३-११४॥

धन

धन - यह मण्डप तीन भाग चौड़ा एवं लम्बाई में दो भाग अधिक होता है । सामने एक भाग से वार (प्रवेश) होता है एवं यह चौबीस स्तम्भों से युक्त होता है । इसमें बीस नासियाँ होती है । धन प्रदान करने वाला यह मण्डप धनसंज्ञक होता है ॥११५-११६॥

सुभूषण

सुभूषणम - इसका विस्तार चार भागों से एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक रक्खा जाता है । एक भाग से चारो ओर मण्डप एवं शेष भाग से आँगन निर्मित करना चाहिये । मुख-भद्रक (सामने बना पोर्च) दो भाग विस्तृत एवं एक भाग (आगे निकला भाग) माप का होना चाहिये । अधिष्ठान पर बाहरी भाग में बत्तीस स्तम्भ होने चाहिये । सभी अलंकरणों से युक्त इस मण्डप का नाम सुभूषण होता है । ॥११७-११८॥

आहल्य

आहल्य - इस मण्डप की चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है । चारो ओर मण्डप एक भाग से एवं शेष भाग से कूट निर्मित करे या (खुला) आँगन छोड़ देना चाहिये । तीन भाग विस्तार वाला एक भाग का मुखभद्र निर्मित करना चाहिये । अधिष्ठान चालीस स्तम्भों से युक्त होना चाहिये । विचित्र एवं सभी अलंकारों से युक्त आहत्य संज्ञक मण्डप सभी स्थानों के लिये उपयुक्त होता है ॥११९-१२१॥

स्त्रुगाख्य

स्त्रुग मण्डप - यह मण्डप छः भाग विस्तृत होता है एवं इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है । मध्य भाग में चार भाग लम्बा एवं दो भाग चौड़ा सभागार होता है, जिसके चारो ओर मण्डप होता है । दो भाग से मुखभद्र का निर्माण इच्छानुसार किसी भी दिशा में किया जा सकता है । अधिष्ठान साठ स्तम्भों से युक्त होता है तथा नासियाँ निर्मित होती है । सभी आभरणों से सुसज्जित एव मनोहर इस मण्डप की संज्ञा स्त्रुग है ॥१२२-१२३॥

कोण

कोण - यह मण्डप सात भाग विस्तृत एवं लम्बाई में चौड़ाई से दो भाग अधिक होता है । तीन भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा इसका सभाङ्गण होता है । इसके चारो ओर मण्डप दो भाग से निर्मित होता है एवं इच्छानुसार दिशा में भित्ति निर्मित की जा सकती है । मुखभद्र तीन भाग चौड़ा एवं एक भाग निर्गम से युक्त होता है । यह आवश्यकतानुसार नासियों से युक्त होता है एवं इसका

अधिष्ठान बहत्तर स्तम्भों से युक्त होता है । कोणसंज्ञक यह मण्डप सभी अलंकरणों से सुसज्जित होता है । ॥१२४-१२५-१२६॥

खर्वट

खर्वट - इस मण्डप की चौड़ाई आठ भाग एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है । मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा जल-स्थान होना चाहिये । चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं उसके बाहर दो भाग से मण्डप होना चाहिये । ॥१२७-१२८॥

उसके मध्य भाग में स्तम्भ नहीं होना चाहिये । अभीप्सित दिशा में भित्ति होनी चाहिये । पहले के समान अड़सठ एवं मुख-भद्र होना चाहिये । मुखभाग पर एक भाग से प्रवेश एवं मुखभाग सीढ़ियों से युक्त होना चाहिये । विभिन्न अलंकारो से सुसज्जित खर्वटसंज्ञक यह मण्डप देवों आदि के लिये प्रशस्त होता है । ॥१२९-१३०॥

श्रीरूप

श्रीरूप - यह मन्डप नौ भाग विस्तृत होता है एवं इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है । चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं उसके बाहर दो भाग से मण्डप होता है । मध्य भाग में स्तम्भ नही होता है तथा बाहर की ओर एक भाग से मार्ग होता है ॥१३१-१३२॥

इसमें उनहत्तर स्तम्भ होते है तथा इच्छित दिशा में द्वार एवं भित्ति का निर्माण किया जाता है । पूर्ववर्णित रीति से मुखभद्र होता है, जो मार्ग से युक्त या उसके विना होता है । विभिन्न अंगो से युक्त इस मण्डप को श्रीरूप कहते है ॥१३३॥

मङ्गल

मङ्गल - यह मण्डप दस भाग चौड़ा एवं लम्बाई उससे दो भाग अधिक होती है । मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा सभागार होता है । चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र एवं एक भाग से जल-स्थान होता है ॥१३४-१३५॥

उसके बाहर चारो ओर दो भाग से मण्डप होता है । स्तम्भ, भित्ति, मुखभद्र आदि का निर्माण इच्छानुसार किया जाता है । अथवा मध्यकूट एवं अलिन्द्र पहले के सदृश निर्मित करना चाहिये । सभी मण्डपों को जल-स्थान के विना ही निर्मित करना चाहिये ।॥१३६-१३७॥

दोनों पार्श्वों में दो भाग से चौकोर छः कूटों का निर्माण करना चाहिये । सामने एवं पीछे दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा कोष्ठ निर्मित करना चाहिये । कोनों पर लाङ्गल-भित्ति तथा चारो ओर भित्ति निर्मित करनी चाहिये या भित्ति नही भी हो सकती है । यह खुला अथवा ढँका हो सकता है । वही स्तम्भ का निर्माण करना चाहिये । ॥१३८-१३९॥

सभी अंगो से युक्त इस मण्डप की संज्ञा मङ्गल है । आठ चतुष्कोण से युक्त ये (आयताकार) मण्डप देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये कहे गये है ॥१४०॥

पूर्वोक्त चतुष्कोण (आयताकार) मण्डपों में चौड़ाई में एक-एक भाग बढ़ाते हुये वहाँ तक लम्बाई का माप रखना चाहिये, जब तक लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी न हो जाय । बुद्धिमान स्थपति को मण्डप में स्तम्भ एवं भित्ति आदि सबी अलंकरणों का इच्छानुसार एवं जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार निर्माण करना चाहिये । अब वैश्य एवं शूद्रो के अनुकूल आठ आयताकार मण्डपों का वर्णन किया जा रहा है । ॥१४१-१४२॥

मार्ग

मार्ग - इस मण्डप का विस्तार दो भाग एवं लम्बाई विस्तार की दुगुनी होनी चाहिये । इसमें पन्द्रह स्तम्भ हों एवं दो भाग (चौड़ा) एवं एक भाग (बाहर की ओर निकला) मुखभद्रक (प्रोच) होना चाहिये । इसका सोपान पार्श्व में निर्मित होना चाहिये तथा नासिकाओं से यह सुशोभित होना चाहिये । इसका मुख-भाग इच्छित दिशा में रखना चाहिये । इसे मार्ग संज्ञक मण्डप कहते है ॥१४३-१४४॥
सौभद्र - सौभद्र मण्डप का विस्तार तीन भाग एवं लम्बाई विस्तार की दुगुनी होती है । यह अट्ठाईस स्तम्भों से युक्त होता है एवं सामने एक भाग से वार (मार्ग) से निर्मित होता है । उचित रीति से नासियों एवं स्तम्भों से युक्त यह सुन्दर मण्डप सौभद्र संज्ञक होता है ॥१४५-१४६॥

सुन्दर

सुन्दर - इस मण्डप की चौड़ाई चार भाग एवं लम्बाई उसकी दुगुनी होती है । मध्य भाग दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा होता है, जिस पर कूट निर्मित होता है अथवा वहाँ (खुला हुआ) आँगन होता है ।बत्तीस स्तम्भों से युक्त इस मण्डप में एक भाग से मुख-भद्रक निर्मित होता है । सुन्दर नामक यह मण्डप आवश्यकतानुसार नासियों एवं स्तम्भों से युक्त होता है ॥१४७-१४८॥

साधारण

साधारण - यह मण्डप पाँच भाग विस्तृत एवं लम्बाई में चौड़ाई से चार भाग अधिक होता है । बगल में दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे दो आँगन होते है । इसमें छप्पन खम्भे होते है एवं सामने एक भाग से वार निर्मित होता है । तीन भाग विस्तृत एवं एक भाग (बाहर निकला) माप से मुख-भद्रक का निर्माण करना चाहिये । मुख भाग पर सोपान एवं चारो ओर भिति होनी चाहिये । आवश्यकतानुसार नासी आदि अंगो से युक्त इस मण्डप को साधारण कहते है ॥१४९-१५१॥

सौख्य

सौख्य - यह छः भाग चौड़ा एवं चौड़ाई से तीन भाग अधिक लम्बा होता है । मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा सभागार होता है । चारो ओर दो भाग से मण्डप एवं सामने एक भाग से वार निर्मित होता है । पहले के समान मुख-भद्रक निर्मित होता है एवं नासिकाओं से सुसज्जित होता है । साठ स्तम्भों से एवं सभी अंगो से युक्त इस मण्डप की संज्ञा सौख्य है । यह सभी लोगों के लिये अनुकूल होता है ॥१५२-१५४॥

ईश्वरकान्त

ईश्वरकान्त - इस मण्डप की चौड़ाई सात भाग से एवं लम्बाई उससे चार भाग अधिक होती है । मध्य भाग में तीन भाग का चौकोर क्षेत्र होता है, जिस पर कूट निर्मित होता है अथवा वहाँ (खुला) आँगन होता है । उसके बाहर एक भाग प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र होता है । दोनों पार्श्वों में दो भाग चौड़े एवं पाँच भाग लम्बे दो आँगन होते है । उसके बाहर एक भाग से चारो ओर मण्डप निर्मित होता है, ऐसा विद्वानों का मत है ॥१५५-१५७॥
तीन भाग चौड़ा एवं एक भाग बाहर निकला मुख-भद्रक निर्मित होता है । अधिष्ठान पर चौरासी स्तम्भ निर्मित होते है । मुखभाग पर एक भाग से वार निर्मित होता है । यह ईश्वरकान्त मण्डप विभिन्न अंगों से सुशोभित एवं सभी अलंकरणों से युक्त होता है ॥१५८-१५९॥

श्रीभद्र

श्रीभद्र - यह मण्डप आठ भाग चौड़ा तथा पूर्ववर्णित माप के अनुसार लम्बा होता है । मध्य भाग दो भाग माप का चौकोर क्षेत्र होता है, जिसमें कूट निर्मित होता है या आँगन होता है । उसके बाहर

एक भाग के प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र निर्मित होता है । दोनों पार्श्वों में पहले के समान कूट होते है, जिन्हे पूर्ववर्णित मान से दो भाग अधिक लम्बा रक्खा जाता है ॥१६०-१६१॥

उसके बाहर चारो ओर दो भाग से बुद्धिमान स्थपति को मण्डप निर्मित करना चाहिये । चार भाग चौड़ा एवं दो भाग बाहर निकला मुखभद्रक निर्मित करना चाहिये । अधिष्ठान पर एक सौ दस स्तम्भ निर्मित करना चाहिये । सभी अलंकरणों से युक्त यह श्रीभद्र मण्डप सभी के लिये अनुकूल होता है ॥१६२-१६३॥

सर्वतोभद्र

सर्वतोभद्र - इस मण्डप को नौ भाग विस्तृत एवं लम्बाई पहले दिये गये माप के अनुसार होना चाहिये । तीन भाग चौड़ाई वाले मध्य भाग में चौकोर क्षेत्र कूट से युक्त हो सकता है या वहाँ आँगन हो सकता है । उसके बाहर एक भाग प्रमाण से चारो ओर अलिन्द्र होना चाहिये । पार्श्व भाग में दो भाग चौड़ा एवं पाँच भाग लम्बा दो आँगन होना चाहिये । चारो ओर उसके बाहर दो भाग से बुद्धिमान व्यक्ति को मण्डप बनाना चाहिये । सामने एवं पीछे पाँच भाग चौड़े एवं दो भाग लम्बे (गहरे) भद्र (पोर्च) होने चाहिये ॥१६४-१६६॥

दोनो पार्श्वो में तीन भाग चौड़े एवं एक भाग लम्बे दो भद्रक होने चाहिये । कोनों पर लाङ्गल के समान भित्ति एवं स्तम्भ होने चाहिये । अधिष्ठानपर एक सौ अट्ठाईस स्तम्भ निर्मित होने चाहिये । अन्य अवयवों को आवश्यकतानुसार उचित रीति से बुद्धिमान स्थपति को संयुक्त करना चाहिये । सर्वतोभद्र संज्ञक मण्डप सभी अलंकरणों से युक्त होता है । इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति को इस मण्डप का निर्माण देवादिकों के भवन में करना चाहिये ॥१६७-१६९॥

मण्डपमुखाय

मण्डप की लम्बाई - मण्डपों की लम्बाई का विधान उनकी चौड़ाई के अनुसार किया जाता है । जातिरूप का वर्णन पहले किया जा चुका है । छन्दरूप में लम्बाई चौड़ा से एक भाग अधिक होती है । विकल्प रीति में दो भाग एवं आभास रीति में तीन भाग अधिक लम्बाई रक्खी जाती है । चौकोर, दण्डक, स्वस्तिभद्र, पद्म, क्रकरभद्रक, षण्मुख, लाङ्गल तथा मौलि मण्डप जातिमान के अनुसार होते है । प्रपा एवं मण्डप जातिमान के अनुसार होते है तथा आवश्यकतानुसार इनमें स्तम्भों का निर्माण किया जाता है ॥१७०-१७२॥

पुनः मण्डपभेद

मण्डपों के अन्य भेद - गृहविन्यास के अंगभूत रङ्गस्थल को गृहमण्डप कहते है । जिस प्रकार प्रासाद में गर्भगृह होता है, उसी प्रकार गृह में मण्डप होता है जो विशेष रूप से अलिन्द्र से युक्त होता है । अधिष्ठान आदि से युक्त यह मण्डप देवालय के आकार का होता है । जिस गृहमण्डप में वो विशिष्ट अंग होते है, जो देवालय के मण्डप के अंग होते है, उसे गृहप्रासादमण्डप कहते है ॥१७३-१७४॥

यदि मण्डप के ऊपर तल निर्मित हो तो उसे मालिकामण्डप कहते है । यह मण्डप ईंटो, शिलाओं, काष्ठ, गजदन्त या धातुओं से निर्मित होता है । यह सभी प्रकार के मिश्रित द्रव्यों से निर्मित होता है ॥१७५॥

जलक्रीडामण्डप

जलक्रीडा-मण्डप - राजा की इच्छा के अनुसार जल-क्रीडा से युक्त मण्डप चौकोर या आयताकार हो सकता है । इसमें एक या अनेक तल हो सकते है ॥१७६॥

यह मण्डप खुला अथवा (भिति से) ढँका हो सकता है । यह अंघ्रि-भित्तियों (पंक्ति में निरित स्तम्भों) से घिरा होता है । दिशाओं में भद्र (पोर्च) निर्मित होते है । यह मध्य भाग में रङ्गसहित होता है अथवा वहाँ आँगन होता है । ऊपरी तल स्तम्भों अथवा भित्तियों से घिरा होता है ॥१७७॥

इसकी सीढी गुप्त द्वार के पीछे होती है, जिसके द्वार पर बहुत से यन्त्र निर्मित होते है । ये गज, भूत, हंस, व्याल, कपि एवं शालभञ्जिका (पेड़ की शाख पकड़ कर तोड़ने की मुद्रा में स्त्री आकृति) आदि के रूप में होते है, जिनके भीतर जल भरा होता है ॥१७८॥

मण्डप का शीर्ष भाग हर्म्य के शीर्ष भाग के समान या सभागार के शीर्ष भाग के समान होता है । यह कूट, नीड, गज-तुण्ड (हाथी की सूँड) एवं कोष्ठक से सुसज्जित होता है । यह तोरण आदि, अनेक जालकों (झरोखों) एवं नासिकाओं से अलंकृत होता है । मण्डप के सामने या मध्य भाग में अनेक यन्त्रों से युक्त जलाशय होता है, जो ईंटों या प्रस्तरों से सुसज्जित होता है । जल से युक्त यह जलाशय गुप्त होता है अथवा खुला होता है ॥१७९-१८०॥

इस प्रकार राजाओं के जल-क्रीडा के लिये जिस मण्डप का उल्लेख किया गया है, वह रमणीय स्थान में रहता है । यह अलंकारों से युक्त, विभिन्न प्रकार के चित्रों से युक्त, स्त्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करने वाला होता है ॥१८१॥

<u>मण्डपयोग्यवृक्ष</u>

मण्डप के अनुकूल वृख - खदिर, खादिर, वह्नि, निम्ब, साल, सिलिन्द्रक, पिशित, तिन्दुक, राजादन, होम एवं मधूक के वृक्ष (के काष्ठ) स्तम्भ निर्माण के लिये अनुकूल होते है । ये वृक्ष देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के सम्बद्ध सभी कार्यो के लिये प्रशस्त होते है । पूवोक्त सभी वृक्ष (काष्ठ) सभी प्रकार के स्तम्भों के लिये उपयुक्त होते है ॥१८२-१८३॥

पिशित, तिन्दुक, निम्ब, राजादन, मधूक एवं सिलिन्द्र के वृक्ष से निर्मित स्तम्भ वैश्यों एवं शूद्रो के लिये होते है । स्तम्भों की आकृतियाँ वृत्ताकार चौकोर, अष्टकोण या सोलह कोण की हो सकती है एवं त्वक्सार अर्थात् बाँस से निर्मित स्तम्भ सभी के लिये अनुकूल होती है ॥१८४-१८५॥

ताल, नालिकेर (नारियल), क्रमुक, वेणु (बाँस) एवं केतकी वृक्ष सभी के लिये अनुकूल होते है । ईंटो, प्रस्तरों एवं वृक्षों (काष्ठों) से निर्मित भवन देवों, ब्राह्मणों तथा राजाओं (क्षत्रियों) -इन सभी वर्ण के गृहस्वामियों के लिये उपयुक्त होता है; किन्त वैश्यों एवं शूद्रो के भवन में प्रस्तर का प्रयोग कभी भी अनुकूल नही होता है ॥१८६-१८७॥

<u>मुखमन्डप</u>

मुखमण्डप - मन्दिर के मुख-भाग पर निर्मित मण्डप श्रेष्ठ होता है । उनके आद्यङ्ग (अधिष्ठान), स्तम्भ, उत्तर एवं वाजन मन्दिर के समान होते है; किन्तु उनके माप उनसे सात, आठ, नौ या दस भाग कम होते है । अथवा सभी अंगो का माप पूर्व-वर्णित माप के समान रखना चाहिए ॥१८८-१८९॥

मण्डपों की दिशा एवं उनका प्रमाण वही होना चाहिए, जो मन्दिरों का कहा गया है । भित्ति की चौड़ाई स्तम्भ की चौड़ाई से पाँच, चार, तीन अथवा दुगुनी होनी चाहिये । काष्ठस्तम्भ के व्यास से भित्ति की चौड़ाई उससे चतुर्थांश कम तीसरे भाग के बराबर या आधे के बराबर होनी चाहिए ।

अथवा कुड्यस्तम्भ (भित्ति से संलग्न स्तम्भ) की चौड़ाई भित्ति की चौड़ाई बराबर भी हो सकता है ॥१९०-१९१॥

मण्डपगर्भस्थान

मण्डप का गर्भस्थल - शिलान्यास स्थल - मण्डप के गर्भ-स्थल तीन हो सकते है - मध्य आँगन के दक्षिण भाग में स्तम्भ के मूल में, द्वार के दक्षिण भाग में स्तम्भ के नीचे या कोने में द्वितीय स्तम्भ के नीचे । इन तीन स्थानों के विषय में मुनिजन कहते है ॥१९२॥

अलिन्द्र

अलिन्द - (मण्डप आदि के) सामने, पीछे या चारो ओर अलिन्द्र संज्ञक मार्ग होता है, जिसकी चौड़ाई मण्डप की चौड़ाई से एक भाग या डेढ़ भाग होनी चाहिये । यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओ के मण्डपों के लिये विधान किया गया है । लम्बाई मण्डप के अनुसार होती है ॥१९३॥

मालिका - मालिका के अवयवों के प्रासाद के अंगो के अनुसार रखना चाहिये । ऊपरी तल की भित्ति भूतल की मूल भित्ति के ऊपर निर्मित करनी चाहिये एवं स्तम्भों को स्तम्भों के ऊपर निर्मित करना चाहिये । आवश्यकतानुसार तल एक-दो या तीन हो सकते है ॥१९४॥

कुछ विद्वानों के अनुसार स्तम्भों के बाहरी भाग के अनुसार उनकी लम्बाई एवं चौड़ाई का मान लेना चाहिये; जबकि अन्य विद्वानों के मतानुसास्र मान का ग्रहण भित्ति के मध्य से करना चाहिये । निवास-योग्य मण्डप के शीर्ष का निर्माण शाला के आकार का या सभा के आकार का करना चाहिये ॥१९५-१९६॥

मण्डप के एक, दो, तीन या चार मुखभाग हो सकते है । ये भद्र से युक्त या भद्ररहित हो सकते है । मध्य भाग में ऊपर कूट हो सकता है, रङ्गस्थल या आँगन हो सकता है । ये मण्डप चौकोर या आयताकार हो सकते है । ये सभी देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के अनुकूल होते है । आयताकार मण्डप वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल होते है ॥१९७॥

सभाविधानम्

तत्र सभाभेद

सभागार का विधान एवं भेद - अब नौ प्रकार के सभागारों के लक्षण का वर्णन किया जा रहा है । इनमें प्रथम मल्लवसन्तक संज्ञक है । इसके पश्चात् पञ्चवसन्तक, एकवसन्तक, सर्वभोभद्र, पार्वतकूर्मक, माहेन्द्र, सोमवृत्त, शुकविमान एवं श्रीप्रतिष्ठित होते है । इन नौ सभाओं में से पाँच आयताकार होती है तथा शेष चौकोर होती है ॥१९८-२००॥

देवों एवं मनुष्यों के सभागृह लम्बाई में चौड़ाई से एक, दो, तीन या चार भाग अधिक होते है । इनकी लम्बाई, चौड़ाई, भित्ति एवं स्तम्भों का मान पहले के सदृश होता है । सभी दण्डिका पर्यन्त अलंकार विमान (मन्दिर) के सदृश होते है । लुपा आदि का विधान उसी प्रकार होता है, जैसा शिखर-लक्षण में वर्णित है । ॥२०१-२०२॥

कूटलक्षण

कूट का लक्षण - जिस चौकोर सभा के कोनों में रश्मियाँ (लुपा) हो, उसकी कूट संज्ञा होती है । कूट एवं कोष्ठक (लम्बा सभागार) दोनों सभागार कोणों में वलक्षितस्वस्ति से रहित होना चाहिये ॥२०३॥

मल्लवसन्त

मल्लवसन्तक - मल्लवसन्त संज्ञक सभागृह एक भाग माप का, चार स्तम्भों, लुपाओं, कोटियों (कोटि लुपाओं, कोने की लुपाओं) तथा एक कूट वाला होता है । इसमें आठ पुच्छवलक्ष होते है ॥२०४॥

पञ्चवसन्तक

पञ्चवसन्तक - दो भाग माप की, आठ स्तम्भों एवं आठ लम्बी लुपाओं से युक्त सभा पञ्चवसन्तक संज्ञक होती है । इसमें आठ स्वस्तिकवलक्ष, मध्य मे मूलकूट एवं चारो कोणों पर चार कूट होते है ॥२०५॥

एकवसन्तक

एकवसन्तक - एकवसन्तक संज्ञक सभागार तीन भाग माप का, चौकोर एवं बारह स्तम्भ से युक्त होता है । इसमें सोलह स्वस्तिपुच्छ, तेरह कूट एवं चौबीस वलक्ष होते है ॥२०६-२०७॥

सर्वतोभद्र

सर्वतोभद्र - यह सभागार चार कोणों वाला, चार भाग माप का, बाहर सोलह स्तम्भों से युक्त, भीतरी भाग में आठ स्तम्भ एवं आठ लम्बी लुपाओं से युक्त, सोलह कूट, चौबीस स्वस्तिपुच्छ तथा अड़तालीस वलक्षों से युक्त होता है । मध्य में कूट होता है । सर्वतोभद्र संज्ञक सभागार चार चौकोर (कक्षों) से युक्त होता है । ॥२०८-२०९॥

पार्वतकूर्मक

पार्वतकूर्मक - पार्वतकूर्मक सभागार आयताकार, चार भाग चौड़ा तथा पाँच भाग लम्बा होता है । बाहरी भाग में अट्ठारह स्तम्भ एवं भीतरी भाग में दस स्तम्भ होते है तथा अट्ठारह रश्मियाँ (लुपायें) होती है । सोलह एवं चौदह कूट होते है । छः (या सोलह) बाहर एवं चौदह भीतर होते है । इसमें चौसठ वलक्ष तथा सोलह चतुष्कोष्ठ होते है ॥२१०-२११॥

माहेन्द्र

माहेन्द्र सभागृह चार भाग चौड़ा एवं छः भाग लम्बा होता है । इसमें बीस स्तम्भ एवं भीतर स्तम्भ होते है । इसके भीतरी भाग में आठ कूट एवं बाहरी भाग में सोलह कूट होते है तथा सोलह लम्बी रश्मियाँ (लुपाये) होती है ॥२१२-२१३॥

इसमें चौबीस स्वस्तिक एवं मध्य में तीन कूट होते है तथा इसमें अस्सी वलक्ष एवं उन्तालीस कूट होते है । भीतरी भाग में स्तम्भ नही होते है एवं भाग के अनुसार वही योजना करनी चाहिये । मुनियों ने माहेन्द्र सभागार को राजाओं के अनुकूल बताया है ॥२१४-२१५॥

सोमवृत्त

सोमवृत्त - इसकी चौड़ाई चार भाग एवं लम्बाई सात भाग होती है । भीतरी भाग में चौदह एवं बाहर बाईस स्तम्भ होते है तथा चौबीस स्वस्तिपुच्छ होते है । सोलह लम्बी रश्मियाँ एवं छियानबे वलक्ष होते है । मध्य भाग में चार कूट, भीतरी भाग में दस एवं बाहर अट्ठारह कूट होते है । इसमें चार कोटियाँ (कोटिलुपायें) एवं सात कर्णधारायें होती है तथा मध्य भाग में स्तम्भ नही होते है । इस सभागृह की संज्ञा सोमवृत्त होती है ॥२१६-२१८॥

शुकविमान

शुकविमान - यह सभागार पाँच भाग चौड़ा एवं आठ भाग लम्बा होता है । इसमें छब्बीस स्तम्भ होते है । अट्ठारह स्तम्भ भीतर होते हैं एवं चार कोटियों (कोने की लुपाओं) से युक्त होते है । यह बत्तीस स्वस्तिक एवं बहत्तर वलक्षों से युक्त, शिरोभाग पर चार कूटों से युक्त तथा सोलह रश्मियों

(लुपाओं) से युक्त होता है । यह चौबीस अन्तःकूटों एवं बाईस बहिःकूटों से युक्त होता है । आठ कर्णधाराओं से समन्वित यह सभागार शुकविमान संज्ञक होता है ॥२१९-२२१॥

श्रीप्रतिष्ठित

श्रीप्रतिष्ठित - इस सभागृह की चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई नौ भाग होती है । इसमें अट्ठाईस गात्र (स्तम्भ, पाद) बत्तीस स्वस्तिपुच्छ, बत्तीस भीतरी भाग के स्तम्भ एवं उसी प्रकार मध्य रश्मियाँ (मध्य में स्थित लुपाये), शिरोभाग पर पाँच कूट एवं चार कोटियों (कोटि-लुपाओं) से यह युक्त होता है । इसमें एक सौ साठ वलक्ष होते है । इसमेम दस कूट होते है एवं इस सभागृह की संज्ञा श्रीप्रतिष्ठित होती है । ॥२२२-२२३-२२४॥

उसी लम्बाई एवं चौड़ाई के माप में तीन-तीन भाग बढ़ाने से चार आयताकार भवन बनते है, जिनमें बारह भीतरी भाग में एवं सोलह बाहरी भाग में स्तम्भ बनते है । इसमें एक भाग से वार (मार्ग या पोर्च) तथा दो भाग से शाला निर्मित होती है । बाहरी एवं भीतरी भाग में चार वार (चार स्थानों पर) बहत्तर स्तम्भ बनते है । मन्दिर के सदृश अलंकृत कर इसमें चार द्वार एवं दो चूलिकायें निर्मित होती है । यह श्रीप्रतिष्ठित संज्ञक सभागार राजा के लिये श्रीप्रतिष्ठा वाला (प्रतिष्ठकाकारक) होता है ॥२२५-२२७॥

उपर्युक्त माप मे एक-एक भाग बढ़ाने पर सभाओं के अन्य प्रकार प्राप्त होते है । उनके नाम छन्द, विकल्प एवं आभास है । उनमें स्तम्भ, रश्मि (लुपा), वलक्ष एवं कूट का आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये । लम्बाई एवं चौड़ाई के भाग (माप की ईकाई) इच्छानुसार एवं जिससे सभी सुन्दर लगे, उस प्रकार रखना चाहिये । ॥२२८-२२९॥

कूट को लम्बी रश्मियों से युक्त निर्मित करना चाहिये अथवा कूट को चौकोर बनाना चाहिये । स्तम्भों के ऊपर उत्तर का उद्गम (ऊँचाई) दण्डिका के निर्गम के बराबर रखना चाहिये । चूलिका का लम्बिक (ऊपर लटकता भाग) तुला एवं प्रस्तर के भाग के अनुसार होना चाहिये । ॠजु अथवा स्वस्तिक वलक्ष में प्रविष्ट होना चाहिये ।॥२३०-२३१॥

शिखावर्ग (शिरोभाग) तथा सभी कचग्रह विना कूट के होते है । दो चूलिकाओं के मध्य में स्थित संरचना वर्णपट्टिका संज्ञक होती है । वलय व्यास (चौड़ाई) से तीन गुना होना चाहिये एवं बाहुल्या को माप में लुपा के समान होना चाहिये । लुपा के दोनो पार्श्वों में वलयनालिका होनी चाहिये ॥२३२-२३३॥

प्रतिचूलिक का विन्यास एवं मुद्गर का आलम्बन स्थिर होता है । आँगन के वलक्ष अनुलोम (नीचे से ऊपर सीधे) एवं प्रतिलोम (विपरीत विधि) से निर्मित होते है । दो कोटियों (कोटि-लुपाओं) का संयोग गर्भगृह के दाहिने छिद्र में होता है । शिल्पी को सर्वप्रथम स्तम्भ का विधान करना चाहिये ॥२३४-२३५॥

पादबन्ध अधिष्ठान स्तम्भ के माप का आधा होना चाहिये । यदि किसी अंग आदि का वर्णन नही किया गया हो तो उसका प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिये । सभा हल के लाङ्गल के समान भित्ति से युक्त, मध्य भाग रङ्ग से युक्त या रङ्ग से रहित हो सकता है । सभा सभा के अनुरूप (सभ्य) लोगों से बनती है - ऐसा प्राचीन विद्वानों ने कहा है । सभ्यजनों के मार्ग निर्धारित होते है ॥२३६-२३७॥

मयमतम् - अध्याय २६

शाला का विधान - देवों एवं ब्राह्मण आदि वर्णो के निवास के अनुकूल एक, दो, तीन, चार, सात एवं दस शाला वाले छः गृह होते है ॥१॥

ये भवन ब्रह्मा के भाग को छोड़कर निर्मित, सम्मुख अलिन्द से युक्त एवं भिन्न पिण्डवाले (आपस में अलग) होते है । इनकी चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई सम अथवा विषम हस्त माप में होती है । इनका वर्णन तथा इनके अलंकरणो का वर्णन संक्षेप में अब किया जाता है ॥२॥

शालाविस्तारः

शाला की चौड़ाई - यदि भवन एक शाला से निर्मित हो तो उसके विस्तार के ग्यारह माप बनते है । ये माप तीन हाथ से प्रारम्भ होकर तेईस हाथ तक तथा चार हाथ से लेकर चौबीस हाथ तक दो-दो बढ़ाते हुये लिये जाते है ॥३-४॥

यदि भवन द्विशाल या त्रिशाल हो तो उसका सात प्रकार का विस्तार सम्भव है । यह माप सात या आठ हाथ से प्रारम्भ होकर उन्नीस (सात से उन्नीस) या बीस हाथ (आठ से बीस) तक क्रमशः दो-दो हाथ बढ़ाते हुये जाता है ॥५॥

शालायामः

शाला की लम्बाई - शाला की लम्बाई उसकी चौड़ाई से सवा भाग, डेढ भाग पौने दो या चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिए । इसमें चतुर्थांश, आधा, तीन चौथाई या चौड़ाई का तीन गुना माप अधिकतम बढ़ाया जा सकता है । इस प्रकार लम्बाई का माप आठ प्रकार से लिया जाता है ॥६-७॥

ये सभी लम्बाई के माप देवालय के लिये अनुकूल होते है । सामान्य जन के लिये दुगुनी लम्बाई अनुकूल होती है । सभी विहार एवं आश्रम-वासियों (साधु-संन्यासियों) के निवास के लिये दुगुनी या उससे अधिक लम्बाई उपयुक्त होती है । जिस आवास में सभी प्रकार के व्यक्ति एक साथ निवास करते हो, वहाँ भवन की लम्बाई (बराबर या) चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये ॥८॥

शालोत्सेधः

शाला की ऊँचाई - शाला की ऊँचाई पाँच प्रकार की होती है - विस्तार के बराबर ऊँचाई, सवा भाग अधिक ऊँचाई, डेढ़ भाग अधिक ऊँचाई, तीन चौथाई अधिक या चौड़ाई की दुगुनी ऊँचाई । इनके नाम क्रमशः शान्तिक, पौष्टिक, जयद, धन एवं अद्भुत होते है ॥९-१०॥

एकशालासामान्यलक्षणम्

एकशाला गृह के सामान्य लक्षण - एकशाल भवन देवों, ब्राह्मण आदि वर्णो, पाखण्डियों (नास्तिको), आश्रमवासियों, गज, अश्व एवं रथ के योद्धाओ, याग-होम आदि करने वालों तथा रूप के द्वारा आजीविका चलाने वाली स्त्रियों (नर्तकी, अभिनेत्री आदि) के लिये प्रशस्त होता है ॥११॥

दण्डक, मौलिक, स्वस्तिक एवं चतुर्मुख संज्ञक चार प्रकार के एकशाल भवन देवों एवं पूर्व-वर्णित जनों के लिये अनुकूल होते है । ये भवन एक तल से प्रारम्भ होकर अनेक तलपर्यन्त तथा खण्ड-हर्म्य आदि अवयवों से सुसज्जित होते है ॥१२-१३॥

ये अर्पित एवं अनर्पित दो प्रकार के होते है तथा इनकी सञ्ज्ञा देवालय के समान होती है । इनके सामने दोनो पार्श्वों एवं पृष्ठभाग में चारो ओर अलिन्द्र (गलियारा, मार्ग) का निर्माण करना चाहिये । मनुष्यों, देवों, पाखण्डियों एवं आश्रमवासियों के भवन के सामने मण्डप तथा पीछे एवं दोनोंपार्श्वों में भद्र (पोर्च) का निर्माण करना चाहिये । मध्य भाग में देवों का तथा पार्श्व भाग में मनुष्यों का आवास होना चाहिये ॥१४-१५॥

प्रधान रूप से एकशाल भवन पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर में स्थित होता है । यह सभी जातियों के लिये अनुकूल होता है । विशेष रूप से मनुष्यों के लिये दक्षिण या पश्चिम में शाला निर्मित होनी चाहिए । यदि शाला लाङ्गल हो (दो कोणों को मिलाकर लाङ्गल या हल के आकार में निर्मित शाला) तो यह पूर्व और उत्तर-पूर्व एवं दक्षिण या पश्चिम एवं उत्तर में निर्मित हो सकती है । इनका परिणाम गृहस्वामी की मृत्यु है । समृद्धि की कामना करने वाले को अपनी शाला दक्षिण -पश्चिम में निर्मित करनी चाहिये ॥१६-१८॥

दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की शाला सम्पत्ति तथा पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम की शाला जय प्रदान करती है । दक्षिण एवं पश्चिम से रहित त्रिशाल-गृह सर्वदोषकारक होता है ॥१९॥

लाङ्गल शालगृह गणिका आदि के लिये एवं शूर्पशाल-गृह (शोल्क १९)उग्र कर्म द्वारा आजीविका चलाने वालों के लिये अनुकूल होता है । लाङ्गल एवं शूर्प गृहों में तथा सभी पृथक शाला-गृहों में शालाविहीन स्थानों पर द्वार से युक्त भित्ति निर्मित करनी चाहिये । द्विशाल गृह में एक सन्धि तथा त्रिशाल गृह में दो सन्धियाँ होती है । अब पूर्ववर्णित दण्डक आदि गृहों के विन्यास का वर्णन करता हूँ ॥२०-२१॥

प्रथमदण्डकम्

प्रथम दण्डक - प्रथम दण्डक में विस्तार के तीन भाग एवं लम्बाई के चार भाग करने चाहिये । इनमें गृह की चौड़ाई दो भाग से तथा एक भाग से सामने वार (मार्ग, बरामदा) निर्मित करना चाहिये । इसका मुखभाग खण्डित दण्ड के सामने होना चाहिये । यह आवास सभी लोगों के लिये अनुकूल होता है । शालभवन के सबसे छोटे रूप वाले इस भवन की संज्ञा दण्डक होती है ॥२२-२३॥

द्वितीयदण्डकम्

द्वितीय दण्डक - इस भवन में चौड़ाई के चार भाग तथा लम्बाई के छः भाग करने चाहिये । गृह का विस्तार दो भाग से एवं चंक्रमण (चलने का मार्ग, बरामदा) दो भाग से करना चाहिये । इसके अन्य भाग पूर्वोक्त रीति से निर्मित करने चाहिये । इस भवन को दण्डक कहते है ॥२४-२५॥

भवन की द्वार-व्यवस्था - गृह की लम्बाई के नौ भाग करने चाहिये । इसमें पाँच भाग दाहिने हाथ एवं तीन भाग बाँये हाथ में छोड़ देना चाहिये । इन दोनों छोड़े गये भाग के मध्य में (अर्थात एक भाग में) द्वार की स्थापना करनी चाहिये ॥२६॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार मध्य सूत्र (अर्थात लम्बाई के मध्य बिन्दु) से वाम भाग में मनुष्यों के आवास में द्वार की स्थापना होनी चाहिये । सभी भवनों में शाला की लम्बाई के एक भाग में द्वार की स्थापना करनी चाहिये ॥२७॥

तृतीयदण्डकम्

तृतीय दण्डक - गृह की चौड़ाई के तीन भाग तथा लम्बाई के उसके दुगुने भाग (छः भाग) करने चाहिये । एक भाग से चंक्रमण तथा मध्य भाग को भित्ति से युक्त करना चाहिये । यह कुल्या के

समान (मुड़ा हुआ) द्वार से युक्त होता है तथा शेष भाग पहले के समान निर्मित होता है । वंश (मध्य-काष्ठ) के नीचे गृह होना चाहिये एवं इसके अग्र भाग में रङ्गस्थल निर्मित होना चाहिये ॥२८-२९॥

इसके चारो ओर भित्ति होनी चाहिये एवं रङ्गस्थल स्तम्भों से युक्त होना चाहिये । एक भाग के सामने, दोनों पार्श्वों में या पिछले भाग मे अलिन्द्र निर्मित होना चाहिये । इसका अलंकरण मन्दिर के सदृश करना चाहिये तथा इसकी संज्ञा दण्डक होती है ।

चतुर्थदण्डकम्

चतुर्थ दण्डक - इस भवन के मध्य भाग में रङ्गस्थल होता है तथा वंश (मध्य में लगे वंशसंज्ञक काष्ठ) के नीचे एवं ऊपर कक्ष होता है । भीतरी भाग में स्तम्भों का संयोजन आवश्यकतानुसार होता है । वंश के सामने द्वार नही होना चाहिये । इस भवन के अन्य भाग पूर्ववर्णित रीति से निर्मित होते है । इस शाल गृह की संज्ञा दण्डक होती है ॥३१-३२॥

पञ्चमदण्डकम्

पाँचवाँ दण्डक - इस भवन के विस्तार के छः भाग एवं लम्बाई के बारह भाग होते है । एक भाग से चारो ओर अलिन्द्र निर्मित होता है तथा दो भाग से शाला निर्माण होता है । इसके सामने इसी के बराबर भाग से अलिन्द्र का निर्माण होता है । भीतरी स्तम्भों का संयोजन आवश्यकतानुसार करना चाहिये । शाला की लम्बाई के अनुसार दोनों पार्श्वों में दो कक्ष निर्मित होते है, जो दो भाग चौड़े एवं तीन भाग लम्बे होते है ॥३३-३४॥

मध्य भाग में दो भाग चौड़ा एवं चार भाग लम्बा रङ्गस्थल होता है । शेष अवयव पहले के अनुसार निर्मित होते है । इस भवन को दण्डक कहते है ॥३५॥

अलिन्द का प्रमाण - द्विशाल एवं त्रिशाल भवन में सामने के अलिन्द्र के विस्तार का माप भवन के तीन भाग में एक भाग, पाँच भाग में दो भाग, सात भाग में तीन भाग और नौ भाग में चार भाग होता है ॥३६॥

ये सभी दण्डकगृह जातिशैली के होते है । ये देवो, ब्राह्मणों, राजाओं, नास्तिकों, वैश्यों, शूद्रो, युद्ध करने वाली तथा रूप के माध्यम से आजीविका चलाने वाली स्त्रियों के लिये प्रशस्त कहे गये है ॥३७॥

मौलिकम्

मौलिक - मौलिक भवन का शीर्षभाग सभा के आकार का (बीच में उठा हुआ) होता है । अथवा यह कानन (विशिष्ट शीर्ष रचना) से युक्त होता है । इसे मौलिक भवन कहते है । यह पूर्व-वर्णित लोगों के लिये प्रशस्त होता है; किन्तु स्त्रियों (सम्भवतः रूप के द्वारा आजीविका वाली स्त्रियों) के लिये उपयुक्त नही होता है ॥३८॥

स्वस्तिकम्

स्वस्तिक - भवन के अग्र भाग में चार भाग से भद्र निर्मित करना चाहिये तथा निर्गम (आगे निकला भाग) दो भाग माप का होना चाहिये । आवास तीन नेत्रों (विशिष्ट निर्मिति) से युक्त होता है । इस भवन को स्वस्तिक कहते है एवं यह विकल्प जाति का भवन है । यह देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये प्रशस्त है; किन्तु अन्त्यजों (शूद्रो) के लिये उपयुक्त नही होता है ॥३९-४०॥

चतुर्मुखम्

चतुर्मुख - भवन के सम्मुख जिस प्रकार का भद्र होता है, उसी प्रकार पीछे भी (भद्र) होता है । क्रकरी तथा वंश के मूल भाग एवं अग्र भाग में चार नेत्र होते है । यह अधिष्ठान आदि अंगो से युक्त होता है । यह देवालय के समान अलंकृत और नासिका, तोरण, वातायन आदि अंगो से युक्त होता है । यह भव चतुर्मुखसंज्ञक होता है तथा आभास शैली में निर्मित होता है । यह देवों, ब्राह्मणों और राजाओं के अनुकूल एवं सम्पत्ति प्रदान करने वाला होता है ॥४१-४३॥

दण्डकादिसामान्यलक्षणम्

दण्डक आदि भवनों के सामान्य लक्षण - दण्डक आदि चारो भवनों को एक तल से लेकर पाँच तल तक रक्खा जा सकता है । इसका स्थान एवं अंगो का विन्यास गृहस्वामी की इच्छा के अनुसार करना चाहिये ॥४४॥

गज, अश्व एवं वृषभ आदि प्रत्येक पशु का आवास पृथक् पंक्ति में होना चाहिये । यह दो या तीन चूलियों (सम्भवतः खिड़की) से युक्त, प्रग्रीव (मुखशाला) से युक्त एवं तल्प (द्वार) से युक्त होता है । इसकी ऊँचाई (विस्तार के) बराबर, सवा भाग या डेढ़ भाग अधिक होनी चाहिये । दण्डक एवं मौलिक भवन के वारण (द्वार) इच्छित दिशा में निर्मित होने चाहिये ॥४५-४६॥

द्विशालविधानम्

चतुर्मुखम्

चतुर्मुख द्विशाल भवन - चौकोर द्विशाल गृह के दस भाग कर एक भाग से बाहर का मार्ग एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये । सामने एक भाग से वार (मार्ग) एवं नौ भाग से मण्डप होना चाहिये । उसको घेरते हुये एक भाग से अलिन्द एवं शेष भाग से चंक्रमण का निर्माण करना चाहिये ॥४७-४८॥

गृह का मुखभाग एवं बाहरी मार्ग लागल के आकार का होना चाहिये, किन्तु मुखभाग पर स्थित चंक्रमण (गलियारा) तथा भीतरी विन्यास चौकोर होना चाहिये ॥४९॥

दो कक्षों से निर्मित मुख्य भवन मध्य भाग में रङ्गस्थल से युक्त होना चाहिये । बाह्य चंक्रमण के बाहर दो भाग से मुखभद्र (सामने का पोर्च) निर्मित होना चाहिये । चार मुख (द्वार) से युक्त इस द्विशाल भवन की संज्ञा चतुर्मुख है ॥५०॥

स्वस्तिकम्

स्वस्तिक - इस द्विशाल भवन के एक शाला की लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये । द्वार का निर्माण पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार होना चाहिये एवं यह भवन सभी अलंकरणों से युक्त होना चाहिये । मण्डप एवं बाहरी अलिन्द्र आयताकार होना चाहिये । इसमें तीन नेत्र होते है और लम्बाई में इसमें आयताकार भद्र होता है । इस भवनको स्वस्तिक कहते है । शेष अवयवों का निर्माण पहले के समान करना चाहिये । ॥५१-५३॥

दण्डवक्त्रम्

दण्डवक्त्र - दण्डवक्त्र भवन दो मुखों से युक्त कहा गया है । यदि मण्डप न निर्मित हो, तो वहाँ खुला आँगन होता है । जिस स्थान पर कक्ष न निर्मित हो वहाँ भित्ति एवं द्वार निर्मित होता है । रूप से आजीविका चलाने वाली स्त्रियों के भवन एक तल से लेकर अनेक तल से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥५४-५५॥

त्रिशालाविधानम्

मेरुकान्तम्

तीन शाला वाले मेरुकान्त भवन - इस त्रिशाल भवन की चौड़ाई के आथ भाग एवं लम्बाई के १० भाग करने चाहिये । इसमें दो भाग से आँगन, तीन ओर एक भाग से अलिन्द्र तथा दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये ॥५६॥

इस भवन का मुखभद्र दो भाग से निर्मित होता है, जिसके मध्य भाग में स्तम्भ नही होता है । इसके मुख (द्वार) की संख्या छः होती है तथा मध्य भाग में निर्मित आँगन छत से ढँका होता है । एक या अनेक तल से युक्त यह भवन अलंकरणोम से सुसज्जित होता है । द्वार आदि की व्यवस्था पहले के समान होती है । मेरुकान्त संज्ञक यह भवन उग्रजीवियों (कठोर कार्य करने वालों) के लिये उपयुक्त होता है ॥५७-५८॥

मौलिभद्रम

मौलिभद्र - इस भवन की चौड़ाई के दस भाग एवं लम्बाई के बारह भाग करने चाहिये । दोनो पार्श्वों एवं पिछले भाग में एक भाग से वार (मार्ग) एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये । मुखभाग पर एक भाग से (मार्ग, भद्र) होता है, जिसके मध्य भाग में दो भाग से आँगन होता है । चारो ओर एक भाग से वार निर्मित होता है, जो ढका हो सकता है । इसकी लम्बाई चौड़ाई से दो भाग अधिक होती है एवं इसके चार मुख होते है । मुखभाग पर (द्वार के सामने) द्वारभद्रक (द्वार पर बना पोर्च) होता है, जिसका माप चार भाग होता है एवं दो भाग बाहर निकला होता है । इस भवन के दोनों पार्श्वों में या पृष्ठभाग में दो ललाट (मुख, निकलने का मार्ग) निर्मित होते है । इसके शेष अंग पूर्ववर्णित विधि से निर्मित होते है । इस भवन की संज्ञा मौलिभद्र होती है ॥५९-६२॥

त्रिशालकप्रमाणम्

त्रिशाल भवन का प्रमाण - इस भवन के पाँच विस्तारमाप होते है । यह पन्द्रह हाथ से प्रारम्भ होकर (तेईस हाथ पर्यन्त) या सोलह हाथ से प्रारम्भ होकर चौबीस हाथ पर्यन्त जाता है । इनके मध्य क्रमशः दो-दो हाथ माप की वृद्धि की जाती है ॥६३॥

चतुःशालाविधानम्

चतुःशालाप्रमाणभेदानि

चार शालाओं वाले भवन की योजना - चतुःशाल भवन का विस्तार उन्तीस प्रकार के मान से युक्त होता है । इसका विस्तार नौ हाथ से प्रारम्भ होकर पौसठ हाथ तक तथा दस हाथ से छाछठ हाथ तक जाता है । इसके मध्य के मापों में क्रमशः दो-दो हाथ की वृद्धि की जाती है । प्रथम चौदह माप के भवनों में आँगन ढका होता है । शेष में आँगन को आवश्यकतानुसार खुला रक्खा जाता है ॥६४-६५॥

इनमे प्रथम भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र, द्वितीय की वर्धमान, तृतीय की स्वस्तिक, चतुर्थ की नन्द्यावर्त एवं पाँचवे की रुचक होती है ॥६६-६७॥

चतुःशालादैर्घ्यगणनम्

चतुश्शाल भवन के लम्बाई की गणना - चौकोर चतुश्शाल भवन का माप चौड़ाई के लिये दिये गये माप के अनुसार होता है । चौड़ाई के माप से जब लम्बाई दो हाथ अधिक होती है तब वह भवन जाति शैली का होता है । चार हाथ अधिक होने पर छन्द शैली का एवं छः हाथ अधिक होने पर

विकल्प शैली का होता है । चौड़ाई से आठ हाथ अधिक लम्बाई होने पर भवन आभास शैली का होता है ॥६८-६९॥

जब चौड़ाई के माप से लम्बाई का माप निश्चित करना हो तो लम्बई की गणना विशिष्ट रीति से करनी चाहिये । चौड़ाई के माप से दो भाग अधिक रखने पर जाति शैली होती है । यदि चौड़ाई के मानक माप से लम्बाई चार भाग अधिक हो तो वह छन्द जाति की होती है । चौड़ाई से छः भाग अधिक लम्बा होने पर विकल्प शैली होती है । चौड़ाई से लम्बाई जब आठ भाग अधिक होती है, तब वहाँ आभास शैली होती है । जब लम्बाई छः भाग अधिक हो तो वहाँ आभास शैली प्रशस्त नहीं होती है । ॥७०-७१-७२॥

प्रथमसर्वतोभद्रम्

प्रथम सर्वतोभद्र - अब सर्वतोभद्र भवन का विन्यास संक्षेप में वर्णित किया जा रहा है । भवन की चौड़ाई के आठ भाग करने पर मध्य भाग में दो भाग से आँगन होना चाहिये । इसके चारो ओर उसके आधे माप से मार्ग होना चाहिये तथा दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये । चारो कोणों पर सभास्थल (बाहरी कक्ष) एवं मध्य भाग में वार (मार्ग) होना चाहिये ॥७३-७४॥

गृहस्वामी का आवास भवन के पूर्व या पश्चिम में होना चाहिये । यह चारो ओर भित्ति से युक्त हो तथा कुल्या के सदृश (थोड़ा मुड़े हुये) द्वार से युक्त हो । भित्ति में बाहर की ओर जालक (झरोखा)निर्मित हो तथा भीतर की ओर स्तम्भ निर्मित होने चाहिये । प्रधान द्वार पक्ष (लम्बाई की ओर) के एक भाग से निर्मित होना चाहिये । मुखभाग पूर्व या पश्चिम में होना चाहिये ॥७५-७६॥

इस भवन में जालक एवं कपाट बाहर एवं भीतर होना चाहिये । इसमें क्रकरी वंश (आपस में क्रास बनाते हुये बीम) हो एवं आठ मुखभाग भद्र से युक्त हो । भवन के चार मुखों के मध्य भाग मे अर्ध सभा के आकार के कक्ष होने चाहिये । कोणों में भीतर की ओर अन्तभद्रसभा (कक्ष) हो, जिसके छत शंख के आकार की लुपा से युक्त हो ॥७७-७८॥

(शिखरभाग पर) मुखपट्टिका अर्धकोटि (लुपा) से युक्त होती है । चारो ओर दण्डिकावार (निर्माण-विशेष) होना चाहिये तथा शिखरभाग पर नीव्रपट्टिका (जिस पट्टी पर लुपाओं का निचला सिरा दृढ़ किया जाता है) होती है । प्रस्तर नासिकाओं से युक्त तथा अन्तर प्रस्तर से युक्त होते है । लुपायें, द्वार एवं वंश (बीम) (चारो भवनों के) समान होने चाहिये ॥७९-८०॥

इसके विपरीत अनर्थकारक ही होता है, इसमें सन्देह नही है । सभी खुले स्थल मण्डप के समान होते है । ये एक तल या अनेक तलों से युक्त होते है एवं देवालय के समान सुसज्जित होते है । ये भवन सदा देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के निवास के अनुकूल होते है ॥८१-८२॥

हस्त-माप की वृद्धि करते हुये या घटाते हुये जिस प्रकार माप पूर्ण हो, उस प्रकार माप करना चाहिये । यह नियम सभी भवनों पर समान रूप से सम्मत है ॥८३॥

चारो भवनों के अन्त में निर्मित मुख दक्षिण भाग में होने चाहिये । इन आठ मुखोम के ऊपरी तल पर ग्रीवा स्तूपिका एवं वंश से युक्त होनी चाहिये । वंश के ऊपर स्तूपिका समान होनी चाहिये । भद्र के ऊपर मुखभाग पर कूट होना चाहिये तथा भीतरी द्वार बाहर की ओर मुख किये हुये होना चाहिये । यह सर्वतोभद्र संज्ञक भवन राजाओं के निवास के योग्य होता है ॥८४-८५॥

द्वितीयसर्वतोभद्रम्

सर्वतोभद्र का दूसरा भेद - भवन की चौड़ाई के बारह भाग करने चाहिये । मध्य भाग में दो भाग में आँगन होना चाहिये । उसके चारो ओर एक भाग से मार्ग निर्मित होना चाहिये । एक भाग से भीतर का वार (बरामदा) निर्मित होता है । शाला का विस्तार दो भाग से एवं बाहरी मार्ग उसके आधे माप से निर्मित होना चाहिये । इस भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र है तथा इसकी सजावट पूर्व-वर्णित रीति से करनी चाहिये । ॥८६-८७॥

तृतीयसर्वतोभद्रम्

सर्वतोभद्र का तीसरा भेद - भवन की चौड़ाई के चौदह भाग करने चाहिये । दो भाग से मध्य आँगन तथा उसके चारो ओर एक भाग से मार्ग निर्मित होना चाहिये । दो भाग से शाला का विस्तार तथा उसके आधे माप से बाहरी मार्ग निर्मित करना चाहिये । बड़ा मार्ग दो भाग से होना चाहिये । चारो शालाओं का शीर्ष भाग सभा के आकार का (बीच में उठा हुआ) होना चाहिये ॥८८-८९॥

मध्य भाग में नासिकायें होनी चाहिये । भद्र आदि का निर्माण पहले के समान होना चाहिये । सभी कक्षों के मध्य भाग में स्तम्भ नही स्थापित करना चाहिये । इस भवन में (कम से कम) तीन तल होते है एवं यह खण्डहर्म्य आदि भागों से सुसज्जित होता है । इस भवन को सर्वतोभद्र कहते है एवं यह देवों, ब्राह्मणों तथा राजाओं के लिये प्रशस्त होता है ॥९०-९१॥

चतुर्थसर्वतोभद्रम्

सर्वतोभद्र का चतुर्थ प्रकार - भवन की चौड़ाई के सोलह भाग करने चाहिये । मध्य आँगन चार भाग से होना चाहिये । शेष अंगों को पहले के समान रखना चाहिये । शिखर की आकृति (पूर्ववर्णित आकृतियों से) हीन होती है ॥९२॥

यह नासिका, तोरण आदि अंगों एवं जालकों (झरोखों) से युक्त होता है । तीन तल आदि तलों से युक्त तथा देवालय के सदृश सुसज्जित होता है । इसमें प्रत्येक तल पर सीढ़ी एवं बीच-बीच मेंमण्डप होताहै अथवा खुला आँगन होता है । जिनकी चर्चा नही की गई है, उनका भी आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये । इस भवन की संज्ञा सर्वतोभद्र है । यह राजाओं के निवास के लिये प्रशस्त होता है ॥९३-९४॥

पञ्चमसर्वतोभद्रम्

सर्वतोभद्र का पञ्चम प्रकार - भवन की चौड़ाई के अट्ठारह भाग करने चाहिये । दो भाग से मध्य-आँगन, चारो ओर एक भाग से मार्ग, एक भाग से भीतरी मार्ग, दो भाग से शाला का विस्तार, उसके आधे भाग से बाहर का मार्ग या गलियारा, दो भाग से विस्तृत मार्ग तथा उसके बाहर एक भाग से निर्मित होना चाहिये । भवन का शीर्ष शाला के आकार का (सीधा) या सभा के आकार का (उभरा हुआ) होना चाहिये ॥९५-९७॥

यह तीन तल आदि (अनेक तलों) से युक्त, खण्ड-हर्म्य आदि से सुशोभित होता है । शेष अवयवों का संयोजन आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार करना चाहिये । भवन के स्थानों की निर्माण-योजना गृहस्वामी के मन के अनुसार करनी चाहिये । इसके अलङ्करण बुद्धिमान व्यक्ति को देवालय के समान करना चाहिये । यह सर्वतोभद्र भवन होता है एवं इसे राजभवन कहा गया है ॥९८-९९॥

विमानादिलक्षणम्

विमान आदि के लक्षण - जिस भवन का शीर्ष-भाग शाला के आकार का होता है, उसे विमान कहते है । जिस भवन का शीर्ष-भाग मुण्ड के आकार का होता है, उसे हर्म्य कहते है । विभिन्न आकार के

अवयवों से युक्त, अनेक तल से युक्त तथा माला के समान एक-दूसरे से संयुक्त भवन की संज्ञा मालिका होती है ।

जब भवन की चौड़ाई के छः या आठ भाग किये जाते है तब लम्बाई आठ भाग, बारह भाग या चौदह भाग रक्खी जानी चाहिये । प्रधान भवन का मार्ग एक भाग या दो भाग विस्तृत होना चाहिये । लम्बाई यदि आठ भाग से हो तो वार (मार्ग, बरामदा) एक भाग या डेढ़ भाग से होना चाहिये ॥१००-१०१॥

प्रथमवर्धमानम्

वर्धमान भवन का प्रथम प्रकार - अब मैं संक्षेप में क्रमशः वर्धमान शालगृह के विन्यास के बारे में कहता हूँ । गृह की चौड़ाई के छः भाग करने चाहिये । उसमें दो भाग से भवन का विस्तार रखना चाहिये । दो भाग से आँगन रखना चाहिये । बाहर चारो ओर भित्ति होनी चाहिये ॥१०२-१०३॥

प्रधान आवास के मुखभाग (पूर्व में) पर एक भाग से मार्ग बनाना चाहिये । यह भवन मध्य भाग में भित्ति तथा कुल्या के सदृश (मोड़ वाले) द्वार से युक्त होता है ॥१०४॥

पश्चिम भाग में एक लम्बी शाला हो, जो दो नेत्रोम से युक्त हो एवं ऊँची हो । पूर्व दिशा की शाला (पश्चिम की शाला की अपेक्षा) कुछ नीची एवं लम्बी तथा सामने मुख (द्वार) से युक्त होती है । बगल के दो कक्ष मुखविहीन एवं नीचे (अन्य वंशो की अपेक्षा कम ऊँचे) वंश (लट्ट) से युक्त होते है । मध्य भाग में दो अंशो से वारण (पोर्च) होता है, जिसके एक-एक दिशा में निष्क्रान्त (निर्गम, बाहर निकला भाग) निर्मित होता है ॥१०५-१०६॥

इसमें छोटे स्तम्भ इस प्रकार निर्मित होते है, जिससे यह सुन्दर लगे । कोने पर दो भाग से शंखावर्त आकृति का सोपान निर्मित होता है ॥१०७॥

इस भवन को नासिका, तोरण, स्तम्भ तथा जालकों आदि से सुसज्जित करना चाहिये । इसकी सजावट मन्दिर के समान उन अवयवोम से भी करनी चाहिये, जिनका यहाँ वर्णन नहीं है; किन्तु पहले (देवालय के प्रसंग में) किया गया है । यह भवन एक, दो या तीन तल से युक्त होता है । यदि इसका निर्माण राजा के लिये किया जाय तो उत्तर दिशा में द्वार नहीं होना चाहिये ॥१०८॥

द्वितीयवर्धमानम्

वर्धमान शालगृह का दूसरा भेद - उसी प्रकार एक भाग से स्तम्भ एवं भित्ति से युक्त खुला मार्ग बनाना चाहिये । मुख्य भवन दक्षिण भाग मे होता है एवं इसका मूल वंश ऊँचा होता है । इसका भद्र (पोर्च) इच्छानुसार किसी भी दिशा में एवं गृह इच्छित दिशा में निर्मित करना चाहिये ॥१०९-११०॥

यह भवन दण्डिका-मार्ग से युक्त एवं देवालय के समान द्वार, तोरण, नासोयों, वेदिकाओं एवं जालकों से सुसज्जित होता है । बुद्धिमान (स्थपति को) इच्छानुसार, जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार भवन का निर्माण करना चाहिये । इस भवन को वर्धमान कहते है । यह शालगृह चारो वर्णों के लिये प्रशस्त होता है ॥१११-११२॥

तृतीयवर्धमानम्

वर्धमान भवन का तीसरा प्रकार- गृह के विस्तार के दस भाग करने चाहिये । उसमें दो भाग से आँगन होना चाहिये तथा उसके बाहर एक भाग से वार (मार्ग) एवं दो भाग से शाल-भवन की चौड़ाई रखनी चाहिये । उसके आधे माप से बाहरी मार्ग निर्मित करना चाहिये । द्वार को भद्र से

युक्त निर्मित करना चाहिये । कूट एवं कोष्ठ आदि सभी अवयवों का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार करना चाहिये । यह शाल-भवन वर्धमान संज्ञक होता है । यह चारो वर्णों के लिये उपयुक्त बताया गया है ॥११३-११४॥

चतुर्थवर्धमानम्

वर्धमान का चतुर्थ प्रकार - अथवा पूरे भवन की चौड़ाई के दस भाग करने पर दो भाग बाहरी वार (मार्ग, बरामदा) निर्मित करना चाहिये । प्रत्येक तल के खुले स्थान को मण्डप के समान बनाना चाहिये । ऊपरी तलों पर क्रमानुसार उचित सजावट करनी चाहिये ॥११५-११६॥

मुख-भाग पर भद्र को छोड़कर शेष अवयवों को जैसा पहले कहा गया है, वैसा ही निर्मित करना चाहिये । मुक-मण्डप को भवन के समान, तीन चौथाइ या भवन के आधे माप से रखना चाहिये ॥११७॥

शेष भागोम को पूर्ववर्णित रीति में निर्मित करना चाहिये । यह शालभवन ब्राह्मण आदि सभी वर्णो के लिये प्रशस्त होता है । सुन्दर वर्धमान भवन तीन, चार या पाँच तल का होता है ॥११८॥

पञ्चवर्धमानम्

वर्धमान भवन का पाँचवाँ प्रकर - भवन के विस्तार के बारह भाग करने पर दो भाग से मध्य आँगन दो भाग से शाला का विस्तार तथा उसके बाहर दो भाग से अलिन्द्र होता है । उसके बाहर एक भाग से वार तथा आवश्यकतानुसार स्तम्भ एवं भिति निर्मित करना चाहिये । दोनो पार्श्वों मे उसके बाहर दो भाग विस्तृत एक भाग से निर्गम (से युक्त भद्र) होना चाहिये ॥११९-१२०॥

उसके साथ वार (बरामदा), मुख-पट्टी आदि अवयव, नेत्रशाला निर्मित होते है । सामने एवं दोनों पार्श्वों में नेत्रशाला एवं अलिन्द्र पहले के समान होने चाहिये । इन दोनों के मध्य दूसरे तल पर आठ भाग लम्बा जल-स्थल होना चाहिये । तीसरे तल पर वार (मार्ग,बरामदा) निर्मित हो तथा चौथे तल में उन-उन स्थलों पर कक्ष होना चाहिये । ॥१२१-१२२॥

पाँचवे तल में दोनों कोनों पर कर्णकूट (कक्ष) निर्मित करना चाहिये । छठवें तल पर उन दोनों कर्ण-कूटों के मध्य में उसके आधे माप का सभा-मुख बनाना चाहिये । छठवे तल पर ही प्रधान भवन के दोनों पार्श्वों में दो नेत्रकूट होने चाहिये । उन दोनों के मध्य में सामने सोपान निर्मित करना चाहिये । चौथे तल पर सामने की ओर दो कर्णकूट निर्मित करना चाहिये । पाँचवे तल पर एक भाग से लम्बाई में शाला एवं वही पर दोनों पार्श्वों में पञ्जर निर्मित होना चाहिये, जिसकी लम्बाई एवं चौड़ाई दो भाग हो ॥१२३-१२५॥

(प्रथम तल में) आँगन एवं उसके ऊपर मण्डप तथा उसके ऊपर स्तम्भों से युक्त स्थान होना चाहिये । यह द्वार एवं नेत्र (सम्भवतः दूसरे द्वार) से युक्त होता है एव इसके वाम भाग में सोपान निर्मित होता है । प्रत्येक तल पर मुख-चङ्क्रमण (सामने का बरामदा) से छिपी सीढ़ियाँ होनी चाहिए ॥१२६-१२७॥

पिछले भाग में आठ भाग चौड़ा एवं दो भाग निर्गम युक्त भद्र होता है । उसके दोनों पार्श्व-मुखों पर एक भाग से तीन तलों से युक्त वार (बरामदा) निर्मित होता है । पाँचवे तल पर दो भाग विस्तृत एवं एक भाग बाहर की ओर निकला निर्गम निर्मित होता है । पृष्ठभाग की शाला वार, मुखपट्टी आदि अंगो से युक्त होती है । चौथे तल पर दोनों पार्श्वों में दो-दो भाग माप से दो कूट निर्मित

होते है । उसके चारो ओर भवन की चौड़ाई के माप से मण्डप निर्मित होता है । दूसरे तल पर नेत्र से युक्त भद्राङ्गी साला (भद्र के समान शाला) निर्मित होती है ॥१२८-१३०॥

चार मुख वाले वास्तु (गृह) के मध्य चार सूत्र (रेखायें) खींचनी चाहिये । उन सूत्रों के वाम भाग में नियम के अनुसार द्वार बनाना चाहिये । मध्य भाग में स्तम्भ स्थापित कर पार्श्व भाग में द्वार बनाना चाहिये । इस प्रकार से निर्मित द्वार को विद्वान कम्पद्वार कहते है । प्रतेक तल पर स्तम्भ आदि अवयवों द्वारा देवालय की भाँति अलंकरण करना चाहिये । सात तल वाला यह राजभवन वर्धमान कहलाता है । ॥१३१-१३२-१३३॥

षष्ठवर्धमानम्

वर्धमान भवन का छठवाँ प्रकार - भवन के विस्तार के चौदह भाग करने पर दो भाग से मध्य भाग मे आँगन, उसके चारो ओर एक भाग से वार (मार्ग) तथा दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये । दो भाग से पृथुवार (बड़ा गलियारा) एवं बाहरी वार उसके आधे माप से होना चाहिये । चारो ओर दण्डिकावार मुष्टिबन्ध (विशिष्ट आकृति) से सुसज्जित होनी चाहिये ॥१३४-१३५॥

भवन के चूलहर्म्य आदि अवयवों, भित्ति एवं ऊपर महावार (बड़ा गलियारा) निर्मित करना चाहिये । कूट, कोष्ठ आदि सभी अंगो को उचित रीति से आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये । यह भवन वर्धमान संज्ञक होता है; किन्तु यदि यह राजा के लिये निर्मित हो तो इसका द्वार उत्तर दिशा में नही होना चाहिये ॥१३६॥

सप्तवर्धमानम्

वर्धमान का सातवाँ प्रकार - गृह के विस्तार के सोलह भाग करना चाहिये । इसमें दो भाग से मध्य आँगन एवं इतने ही माप का शाला का विस्तार होना चाहिये । चारो ओर भित्ति निर्मित होनी चाहिये । दो भाग से बड़ा मार्ग तथा स्तम्भो का निर्माण आवश्यकतानुसार होना चाहिये । इसके बाहर एक भाग से वार एवं दो भाग से पृथुवार (बड़ा गलियारा) होना चाहिये । स्तम्भ एवं भित्ति का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं जिस प्रकार सुन्दर लगे, उस प्रकार करना चाहिये ॥१३७-१३९॥

भवन के दोनों पार्श्वों मे दण्डिकावार तथा पिछले भाग में भद्र होना चाहिये । दोनों पार्श्वों में दो-दो महावारों से युक्त दो नेत्रशालायें होनी चाहिये । उन महावारों (बरामदों) के आगे दो-दो भाग आगे निकली हुई मुखपट्टिकायें होनी चाहिये । भवन के पृष्ठवास (पिछले भाग) को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वह सुन्दर लगे । कूट एव कोष्ठ के प्रत्येक तल अप्र इच्छानुसार एवं शोभा के अनुसार निर्मित करना चाहिये । दूसरे या तीसरे तल पर गोपान के ऊपर मञ्चक निर्मित करना चाहिये ॥१४०-१४२॥

सामने कर्ण एवं कूट पर शंखावर्त सोपान (सोपान का विशेष प्रकार) निर्मित होना चाहिये । प्रत्येक तल पर सोपान एवं मुखभाग पर चङ्क्रमण (चलने का मार्ग) होना चाहिये ॥१४३॥

स्तम्भ को स्तम्भ पर आश्रित होना चाहिये । स्तम्भ को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे वह दृढ़ हो एवं सुन्दर लगे । यदि यह आश्रय थोड़ा हो (अर्थात पूर्ण रूप से आश्रित न हो, टिका न हो) या बिल्कुल आश्रय न हो तो वह स्तम्भ विपत्तिकारक होता है ॥१४४॥

वर्श-स्थल (जलस्थान) एवं चूलहर्म्य प्रत्येक तल पर निर्मित होना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को गोपान (कार्निस), लुपा, वक्त्र-स्तम्भ, नाटक (विभिन्न प्रकार के चित्र), मुष्टिबन्ध, निर्यूह, वलभी एवं

कचग्रह (आदि विविध अलंकरण) जहाँ जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ इनका संयोजन करना चाहिये ॥१४५-१४६॥

बुद्धिमान व्यक्ति को इन भवनों का आँगन (हॉल) सभागृह के आकार का, मण्डप के आकार का या मालिका के आकार का निर्मित करना चाहिये । मण्डप के मध्य में स्तम्भ का प्रयोग नही करना चाहिये ॥१४७॥

भवन के सामने मण्डप भवन की चौड़ाई के बराबर, उसका तीन चौथाई या आधे माप का होना चाहिये । आवश्यकतानुसार इसे भीतरी स्तम्भ से युक्त करना चाहिये । यह एक, दो या तीन से युक्त होता है एवं मालिका के समान होता है । यह विवृत स्तम्भों से युक्त या अलिन्द्र से युक्त होता है । इसे भीतरि सोपान से युक्त होना चाहिये । यहाँ जिन अंगो का वर्णन किया गया है, उनका तथा जिनका वर्णन नही किया गया है, उनका निर्माण पहले वर्णित विधि के अनुसार करना चाहिये ॥१४८-१५०॥

तीसरे तल से प्रारम्भ कर नवें तल या ग्यारह तल तक वर्धमान शाल-भवन हो सकता है । यह भवन विशेष रूप से राजाओं के अनुरूप होता है ॥१५१॥

<u>प्रथमनन्द्यावर्तम्</u>

नन्द्यावर्त का प्रथम प्रकार - नन्द्यावर्त शाल-भवन के विन्यास एवं सज्जा का वर्णन अब किया जा रहा है । भवन के विस्तार के छः भाग करना चाहिये । उनमें दो भाग से मध्य आँगन तथा दो भाग शाला का विस्तार रखना चाहिये । इसका प्रमाण चारो (शालाओं) के लिये होता है । बाहरी मार्ग एवं भित्ति नन्द्यावर्त की आकृति में होनी चाहिये ॥१५३-१५३॥

(प्रधान) शाला में एक द्वार नही होता है या चार द्वार होते है । द्वार बाहर एवं भीतर जालक एवं कपाट से युक्त होते है ॥१५४॥

मुख्य गृह चारो ओर भित्ति से युक्त होता है । इसका भितरी भाग भित्ति से बँटा होता है, जिसमें कुल्याभ (थोड़ा मुडा हुआ) द्वार होता है । मुख भाग पर चंक्रमण (मार्ग) होता है । भीतरी भाग में स्तम्भ होते है एवं खुला (भित्ति के विना) होता है । बाहरी भाग भित्ति से ढँका होता है । चारो दिशाओ मे निर्गम होते है एवं अर्धकूट की आकृति निर्मित होती है । यह दण्डिकावार से युक्त तथा देवालय के सदृश अलंकृत होता है ॥१५५-१५६॥

यह भवन चारो वर्णो के अनुकूल होता है । वैश्य एवं शूद्र वर्ण के लिये भवन का मुख पूर्व दिशा में होना चाहिये । यह एक भाग अलिन्द्र से घिरा हो तथा बाहरी द्वार अलंकृत होना चाहिये । अधिष्ठान एवं स्तम्भ आदि का संयोजन पूर्ववर्णित रीति से होना चाहिये । एक, दो या तीन तल से युक्त तथा सीधे शीर्ष भाग वाली यह शाला प्रासाद-डल्प होती है । बुद्धिमान (स्थपति) को चारो वर्णो के अनुरूप इस शाल-भवन की योजना करनी चाहिये ॥१५७-१५८॥

<u>द्वितीयनन्द्यावर्तम्</u>

नन्द्यावर्त का दूसरा प्रकार - भवन के विस्तार के दस भाग में दो भाग से मध्य-आँगन निर्मित करना चाहिये । चारो ओर एक भाग से मार्ग तथा दो भाग से भवन का विस्तार रखना चाहिये । बाहर एक भाग से अलिन्द्र तथा भद्र आदि का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये । इसमें हर्म्य आदि अंगो से अलंकरण आवश्यकतानुसार एवं शोभा के अनुसार करना चाहिये ॥१५९-१६०॥

<u>तृतीयनन्द्यावर्तम्</u>

नन्द्यावर्त का तीसरा प्रकार - भवन के विस्तार के बारह भाग करने चाहिये । दो भाग से मध्य-आँगन एव दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये । मुख्य गृह के भीतरी भाग में एक भित्ति (विभाजक दीवार) होती है । बाहरी भाग में चारो ओर दो भाग से विस्तृत मार्ग होना चाहिये । उसके चारो ओर के भाग अलिन्द्र (बरामदा) होना चाहिये, जिसमें इच्छानुसार स्तम्भ या भित्ति का निर्माण करना चाहिये । अलिन्द्र को चूल एवं हर्म्य आदि से आवश्यकतानुसार या इच्छानुसार युक्त करना चाहिये । द्वार, मुखभद्र और अधिष्ठान आदि का निर्माण पहले के समान करना चाहिये । ॥१६१-१६३॥

चारो शालगृहों में शीर्ष भाग मध्य वंश के ऊपर होता है । सामने वाले भाग में कूट एवं पार्श्व-शालायें आनन (मुख) से युक्त होती है । नन्द्यावर्त की आकृति वाला यह भवन चार मुखों (प्रवेश भाग) से युक्त होता है ॥१६४-१६५॥

आँगन के ऊपर आँगन एवं पक्षशाला (बाहरी कक्ष) के ऊपर पक्षशाला निर्मित करना चाहिये । मध्य-आँगन का निर्माण सभागार, मण्डप या मालिका के समान करना चाहिये । यह भवन तीन तल से प्रारम्भ कर (उससे अधिक तलों से युक्त) ऊह एवं प्रत्यूह आदि अंगो से युक्त होना चाहिये । यह प्रासाद-भवन ब्राह्मणों एवं राजाओं के लिये अनुकूल होता है ॥१६६-१६७॥

चतुर्थनन्द्यावर्तम्

नन्द्यावर्त का चौथा प्रकार - भवन के विस्तार के चौदह भाग करने चाहिये । दो भाग से मध्य-आँगन , एक भाग से चारो ओर मार्ग एवं दो भाग से गृह का विस्तार रखना चाहिये । दो भाग से पृथुवार (विस्तृत मार्ग) होना चाहिये, जिसके भीतरी भाग में आवश्यकतानुसार स्तम्भ निर्मित करना चाहिये । उसके बाहर एक भाग से भित्ति एवं स्तम्भ आदि से युक्त मार्ग निर्मित करना चाहिये ॥१६८-१६९॥

नन्द्यावर्त की आकृति वाला यह भवन चारो दिशाओं में मुख से युक्त होता है । ऊर्ध्वशालायें आठ मुखों से युक्त होती है एवं ये चार मुख वाली शालाओं पर व्यवस्थित की जाती है । इस प्रकार निचले तल एवं ऊपरी तल की शालाओं को मिलाकर भवन के बारह मुख होते है । चारो दिशाओं में भद्र एवं द्वारशालायें सुशोभित होती है । जिन अंगो का वर्णन यहाँ नही किया गया है, उन सभी का निर्माण भी पहले की भाँति करना चाहिये ॥१७०-१७१॥

पञ्चमनन्द्यावर्तम्

नन्द्यावर्त का पाँचवा प्रकार - भवन की चौड़ाई के सोलह भाग करने पर दो भाग से मध्य आँगन एवं दो भाग से शाला का विस्तार रखना चाहिये । चौड़ा मार्ग उसी के सामने होना चाहिये । इसके बाहर एक भाग से बाहरी मार्ग एवं उसके बाहर एक भाग चौड़ा मार्ग होना चाहिये ॥१७२-१७३॥

इस भवन में आवश्यकतानुसार एवं इच्छानुसार अलिन्द्र (बरामदा) तथा चूल-हर्म्याङ्ग का निर्माण करना चाहिये । इसके ऊपर निर्मित शाला का शीर्ष भाग चौकोर होना चाहिये ॥१७४॥

यह भवन तीन तल से प्रारम्भ होकर नौ तल तक होता है एवं यह राजा तथा ब्राह्मण के योग्य होता है । द्वार एवं भित्तियाँ आदि पूर्व-वर्णित निर्णय के अनुसार निर्मित होनी चाहिये । इसका अलंकरण प्रासाद के समान होना चाहिये एवं इसके जालक (झरोखे) नन्द्यावर्त के सदृश होने चाहिये । इस भवन में ऊह, प्रत्यूह आदि सभ गृह के अलंकरणों की आवश्यकता होती है ॥१७५-१७६॥

स्वस्तिकम्

स्वस्तिक भवन - इस स्वस्तिक भवन की चौड़ाई के छः भाग करने चाहिये । इसमें दो भाग से आँगन एवं उसी के समान शाला का विस्तार रखना चाहिये । इसका द्वार कुल्या के समान (मुड़ा हुआ) होना चाहिये । इसके पिचले भाग में दीर्घ कोष्ठ एवं सामने भी उसी प्रकार कोष्ठ होना चाहिये ॥१७७-१७८॥

इसके दोनों पार्श्वो में मुखपट्टिका से युक्त कर्करी शाला (चौकोर निर्माण) निर्मित होना चाहिये । पिछले भाग में पृष्ठ से युक्त, विना पट्टिका के कोष्ठक का निर्माण होना चाहिये ॥१७९॥

अथवा यह भवन दण्डिकामार्ग से युक्त, छः नेत्रो (झरोखों, खिड़कियो) से युक्त एव भद्र से युक्त होना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को सभी अलंकरण प्रासाद के सदृश करना चाहिये । पूर्व-मुख यह स्वस्तिक भवन वैश्यों एवं शुद्रो के लिये अनुकूल कहा गया है ॥१८०॥

स्वस्तिकान्तरम्

अन्य प्रकार का स्वस्तिक - वही भवन एक भाग माप के अलिन्द्र से घिरा होता है तथा खण्ड-हर्म्य आदि से अलंकृत होता है । यह पूर्व-वर्णित भद्र से युक्त होता है एवं इसकी सज्जा पहले के समान ही करनी चाहिये । भवन के सम्पूर्ण विस्तार को बारह, चौदह या सोलह भागों में इच्छानुसार बाँटना चाहिये ॥१८१-१८२॥

आँगन, बाहरी मार्ग, विस्तृत मार्ग एवं अलिन्द्र का निर्माण होना चाहिये । शाला का विस्तार दो भाग से रखना चाहिये ॥१८३॥

द्वार, स्तम्भ, भित्ति एवं भद्र को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये । भवन में हर्म्याङ्ग आदि का निर्माण आवश्यकतानुसार एवं शोभा के अनुसार करना चाहिये । इस भवन का शीर्ष भाग शाला के आकार का, सभा के आकार का (उठा हुआ) या हर्म्याङ्ग के समान होता है । इस भवन को स्वस्तिक कहते है । जिनका वर्णन यहाँ नही किया गया है, उन अंगो का वर्णन पहले किया जा चुका है ॥१८४-१८५॥

रुचकम्

रुचक - रुचक संज्ञक भवन में निर्विष्ट (क्रास-बीम) नहीं होता है । यह कोटि-लुपाओं से संयुक्त होता है तथा कोने पर सोपान निर्मित होता है । यह विचित्र अंगो से युक्त होता है; किन्तु उत्तर दिशा में कोई द्वार नही होता । यह भवन नास्तिकों, ब्राह्मणों, अन्य वर्णों एवं देवो के निवास के योग्य होता है । बुद्धिमानो के अनुसार यह भवन चारो वर्णों- राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों एवं शूद्रों के अनुकूल होता है ॥१८६-१८७॥

चतुःशालसामान्यविधिः

चतुश्शाल भवनों के सामान्य नियम - विद्वानों के मतानुसार चतुश्शाल भवन पूर्ववर्णित व्यास से युक्त होते है; किन्तु लम्बे नही होते है । ये चौकोर भवन देवो, ब्राह्मणो, दान आदि के लिये एवं सभी नास्तिकों के लिये प्रशस्त होते है । ॥१८८॥

(इस विषय में) मुनि-जन इस प्रकार कहते है - यदि गृह के विस्तार के नौ, आठ, सात, या छः भाग किये जायँ तो प्रधान भवन की चौड़ाई दो भाग के बराबर होगी । यदि विस्तार के पाँच भाग किये जायँ तो प्रधान भवन की चौड़ाई एक भाग से रखनी चाहिये ॥१८९॥

सप्तशालादि

सात शाला आदि से निर्मित गृह - सात कक्षों के राजगृह का विस्तार चौसठ हाथ एवं लम्बाई उसकी दुगुनी होती है । इसमें दो द्वार, दस नेत्र, दो आँगन एवं प्रधान भवन में छः सन्धियाँ होती है । इसकी सज्जा भवन (मन्दिर) के समान करनी चाहिये । ॥१९०॥

चौड़ाई पाँच भाग रहने पर लम्बाई नौ भाग होनी चाहिये । चौड़ाई छः बाग होने पर लम्बाई ग्यारह भाग, सात भाग होने पर बारह भाग, आठ भाग होने पर चौदह भाग या नौ भाग होने पर सोलह भाग लम्बाई होनी चाहिये । ये सप्तशाल भवन के पाँच प्रकार की लम्बाई के माप है । दश-शाल भवन में भवन की चौड़ाई पूर्व-वर्णित भागों में होती है । इसकी लम्बाई (पाँच भाग पर) तेरह भाग, (छः भाग पर) सोलह भाग, (सात भाग पर) सत्रह भाग, (आठ भाग पर) बीस भाग या (नौ भाग पर) तेईस भाग होनी चाहिये ॥१९१-१९२॥

यदि दश-शाल भवन राजा के लिये निर्मित हो तो इसकी चौड़ाइ अस्सी हाथ एवं लम्बाई उसकी तीनगुनी होनी चाहिये । इसके बारह ललाट, तीन प्रधान द्वार, तीन आँगन एवं आठ सन्धियाँ होनी चाहिये । इसका संयोजन हर्म्य के समान करना चाहिये । ॥१९३॥

अलिन्द्र का माप भवन के तीसरे भाग के बराबर या आधा होना चाहिये । इसका प्रवेशभाग (भद्र, प्रोच) तीन भाग या छः भाग से (चौड़ाई के) होना चाहिये । उसके बाहर एवं अन्दर (भद्र के) आधे भाग से नालनीप्र (संरचनाविशेष) होना चाहिये । यह सभी भवनों के लिये सामान्य नियम है ॥१९४॥

जिस भवन में (मध्य भाग में) आँगन न हो, उसके कोनों में आँगन होना चाहिये । इसके बहुत से मुक एवं प्रवेश (द्वार का निर्माण, भद्र) होते है । इसके बाहरी एवं भीतरी भाग में वक्त्र (खिड़की) होते है । इस भवन को 'असीम' कहते है । इसमें सामान्यतया मध्यांगन की आवश्यकता नही होती है ॥१९५॥

मनुष्यों के लिये निर्मित भवन में विषम संख्या में हस्तमाप, स्तम्भ, डलायें (बीम) आदि होनी चाहिये । देवालय में हस्तादिकों की संख्या सम या विषम होनी चाहिये । देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओं के इस भवन में मध्य भाग में द्वार अप्रशस्त नही होता है; किन्तु अन्य मनुष्यों के भवन में द्वार मध्य के पार्श्व में होना चाहिये । उनके लिये वही प्रशस्त होता है ॥१९६॥

गर्भस्थानम्

शिलान्यास या गर्भविन्यास का स्थान - भवन का गर्भ-विन्यास सामने की भित्ति के नीचे तथा स्तम्भ के गर्त में करना चाहिये । इसे भवन के मध्य भाग के वाम भाग के अथवा भवन की प्रधान शाला के वाम भाग में स्थापित करना चाहिये ॥१९७॥

भित्ति की चौड़ा के आठ भाग करने चाहिये एवं इसके सामने वाले भाग से चार भाग तथा भीतरी भाग से तीन भाग (छोड़कर उन दोनों के मध्य में स्थित) भाग में गर्भविन्यास करना चाहिये । देवालय के द्वार के मध्य में गर्भ-न्यास करना चाहिये; किन्तु ब्राह्मण आदि (चारो वर्णो के) भवन मे यह (मध्य मे गर्भ-विन्यास) प्रशस्त नही होता है ॥१९८॥

वंशद्वारम्

वंशद्वार - ब्राह्मण आदि वर्णो के भवन में वंशद्वार (मध्य वंश के सामने द्वार) नही रखना चाहिये । नास्तिकों एवं संन्यासियों के गृह में वंश-द्वार दोषकारक नही होता है ॥१९९॥

विहारशालम्

मठ - प्रमुख भवन की चौड़ाई से तीन गुनी अधिक उसकी लम्बाई होनी चाहिये । भवन की लम्बाई चौड़ाई के दुगुने माप से लेकर तेईस भाग माप पर्यन्त रक्खी जाती है । इस प्रकार लम्बाई की दृष्टि से ग्यारह प्रकार के भवन निर्मित होते है ॥२००॥

प्रधान भवन के सामने भद्र निर्मित होना चाहिये । इसे सभागार, कोष्ठ एवं नीड (सजावटी खिड़की) से सुसज्जित करना चाहिये । भवन के पृष्ठ-भाग मे वार (बरामदा) निर्मित हो या गर्भकूट के सदृश दो ललाट (झरोखा) निर्मित होना चाहिये । इसे एक-दो या तीन से युक्त तथा आगे एवं पीछे विचित्र नासियों (सजावटी आकृति) से सुसज्जित करना चाहिये । यही विहारशाल (मठ) है । इसका निर्माण मन्दिर के समान करना चाहिये ॥२०१-२०२॥

शालापादप्रमाणम्

भवन के स्तम्भों का माप - सभी भवनों के स्तम्भों की लम्बाईएवं विष्कम्भ (परिधि) का वर्णन किया जा रहा है । स्तम्भ की लम्बाई ढाई हाथ से साढ़े तीन हाथ या चार हाथ से अधिक तक रक्खी जाती है । तीन अंगुल या छः अंगुल की वृद्धि करते हुये नौ तक स्तम्भ की ऊँचाई होती है । इसकी चौड़ाई छः से प्रारम्भ कर आधा या एक अंगुल बढ़ाते हुये दस या चौदह अंगुल माप तक ले जानी चाहिये । अथवा विद्वानों द्वारा पूर्ववर्णित मान के अनुसार इनका मान रखना चाहिये ॥२०३-२०५॥

आयादिलक्षणम्

आय आदि के लक्षण - भवन की चौड़ाई के माप का तीन गुना कर उसमें आठ से भाग देना चाहिये । जो शेष संख्या बचे, उससे (एक से आठ तक क्रमशः) ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज एवं वायस योनियाँ होती है । इनमें ध्वज, सिंह, वृष एवं गज योनियाँ शुभ एवं अन्य अशुभ होती है ॥२०६॥

भवन की लम्बाई में आठ का गुणा करने पर गुणनफल में सत्ताइस का भाग देना चाहिये । शेष से अश्विनी आदि नक्षत्रों का एवं उनके अनुसार राशियों का ज्ञान होता है । ॥२०७॥

भवन की लम्बाई में क्रमशः आठ एवं नौ का गुणा करना चाहिये । प्राप्त गुणनफल में बारह एवं दस से भाग देना चाहिये । इससे दो भिन्न-भिन्न प्रकार का शेष प्राप्त होता है । इनेह 'धन' एवं 'ऋण' कहते है । आय अथवा धन का ऋण से अधिक होना प्रशस्त होता है ॥२०८॥

भवन की परिधि को नौ से गुना करना चाहिये । गुणनफल में तीस का भाग देना चाहिये । शेष से (तीस दिन के चान्द्रमास का ज्ञान होताहै एवं उसमें) तिथि एवं रवि आदि दिनों का ज्ञान होता है । इनसे अमृत, वर एवं सिद्धि योगों को भी ज्ञान होता है तथा अन्य का ज्ञान नही होता है ॥२०९-२१०॥

जिस भान का नक्षत्र गृहस्वामी यजमान के जन्मनक्षत्र के सदृश होता है, वह भवन प्रशस्त होता है । यह नियम मनुष्यों के आवास के लिये है । देवालय के निर्माण में भवन के निर्माणकर्ता के अनुसार नक्षत्र होना प्रशस्त होता है ॥२११॥

खलुरी

खलुरी, गृह की बाह्य भाग की संरचना - गृह के बाह्य भाग में खलूरी का विस्तार इकतीस हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये इकसठ हाथ तक रक्खा जाता है तथा इसकी लम्बाई इच्छानुसार रक्खी जाती है । भित्ति एवं स्तम्भ आदि अंगो का निर्माण भीतर अथवा बाहर इच्छानुसार शोभा के

लिये होता है । इस पर लुपा के ऊपर शीर्षभाग का निर्माण किया जाता है अथवा यहाँ मण्डप का निर्माण किया जाता है । खलूरी का निर्माण मनुष्यों के भवन अथवा देवालय के चारो ओर होता है । यह एक तल या दो तल का अथवा विना किसी तल का होता है ॥२१२-२१३॥

भवन के पूर्व भाग मे प्रथम या द्वितीय आवरण (भीतरी भाग) में स्त्रियों का आवास होना चाहिये । नैऋत्य दिशा में सूतिका-गृह तथा शौचालय होना चाहिये । स्त्रियों का आवास वायु के पद से इन्दु (सोम) के पद तक हो सकता है ॥२१४॥

यम पद (दक्षिण दिशा) पर भोजन-गृह, सोम पद (उत्तर दिशा) पर धन-सञ्चयगृह, अग्नि के स्थान पर धान्यगृह तथा आकाश के स्थान पर पके हुये भोजन के रखने का स्थान होना चाहिये । पूजा-गृह ईश (ईशान कोण) में एवं वही कूप होना चाहिये । उदिति के पद पर स्नान का स्थान होना चाहिये । जिस-जिस स्थान पर जिनकी स्थिति वर्णित है, उन्हे वही रखना चाहिये ॥२१५-२१६॥

द्वार एवं भित्ति का संयोजन गृह-स्वामी की इच्छा के अनुसार करना चाहिये । शेष का निर्माण बुद्धिमान व्यक्ति को पूर्व-वर्णित क्रम में करना चाहिये ॥२१७॥

शिखि के पद पर गोशाला, निऋति के पद पर बकरियों की शाला, वायु के पद पर भैंसो की शाला तथा ईश के कोण पर अश्वशाला एवं गजशाला होनी चाहिये । सभी प्रकार के वाहनों का स्थान द्वार के वाम भाग में होना चाहिये ॥२१८॥

उपर्युक्त सभी नियम चारो वर्णो के भवन के लिये कहे गये है । राजाओं के आवास के लिये विशेष संयोजन होता है । उनके भवन में तीन प्रकार, भवनोम की तीन पंक्तियाँ एवं तीन भोग (अन्तःपुर) होना चाहिये । शेष नियम उसी प्रकार है, जो तीनों वर्णो के लिये विहित है ॥२१९॥

मनुष्यों के गृह में एक, दो या तीन साल (प्राकार) एवं देवालयों में पाँच, तीन या एक साल होता है । विधि के ज्ञाता (स्थपति) को मनुष्यों के आवास के लिये पूर्ववर्णित माप का प्रयोग करना चाहिये ॥२२०॥

मयमतम् - अध्याय २७

वाटभित्ति -

बाहरी भित्ति का विधान - चार दण्ड (सोलह हस्त) से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये तीस हाथ तक एक-एक गृह का मान होता है । क्षुद्र (छोटे) गृहों के ये आठ प्रकार के मान है । अब मध्यम मान वाले गृह (के वाटभित्ति) का मान आठ दण्ड से प्रारम्भ होकर दो-दो दण्ड बढ़ाते हुये बत्तीस दण्ड तक होता है । (उत्तम गृह के मन मे) यहाँ से (बत्तीस दण्ड से) प्रारम्भ कर दो-दो दण्ड बढ़ाते हुये एक सौ दण्ड तक ले जाना चाहिये । वाटभित्ति का यह मान गृह के भीतरी भाग से लिया जाना चाहिये ॥१-४॥

ब्राह्मणों एवं राजाओं के भवन की वाटभित्ति विशेष रूप से चौकोर होनी चाहिये । क्षत्रिय आदि वर्णो (वैश्य एवं शूद्र) के मान में लम्बाई चौड़ाई से आठ भाग, छः भाग एवं चार भाग अधिक होती है । सोलह हाथ से कम माप वाले गृह का निर्माण नही करना चाहिये । वाटभित्ति की ऊँचाई नौ, आठ,

सात या छः हाथ होनी चाहिये । इसके तल कि मोटाई तीन या चार भाग के बराबर होनी चाहिये तथा अग्र भाग (ऊपरी भाग) की मोटाई अधोभाग से चतुर्थांश कम होनी चाहिये । इसका शिरोभाग सीधा अथवा चन्द्रकार नासियों से सुसज्जित होना चाहिये ॥५-७॥
यह चारो दिशाओं में चार द्वारों से युक्त होता है । ये द्वार तल्प (कपाट) युक्त होते है । यह विभिन्न अंगो से सुशोभित द्वार-गोपुर से युक्त होता है । इसके बाहर परिखा होती है एवं सभी प्रकार की सुरक्षा, व्यवस्था होती है । इस प्रकार वाटभित्ति का वर्णन किया गया है, जो गृह के बाहर से आवृत करती है ॥८-९॥

खलूरिखा

खलूरिखा - अथवा (वाटभित्ति के स्थान पर) खलूरिका का निर्माण होता है । यह मिट्टी से अथवा लकड़ी के लट्ठोंसे निर्मित होती है, जिसे घास आदि से आच्छादित किया जाता है । यह वेदिका एवं स्तम्भो से युक्त होती है ॥१०॥

भिन्नाभिन्नगृह

संयुक्त एवं पृथक् गृह - गृह-निर्माण भिन्न एवं अभिन्नभेद से दो प्रकार के होते है। स्पष्ट रूप से भिन्न एवं पिण्डभेद (अभिन्न) गृह का वर्णन किया जा रहा है ॥११॥
भिन्न गृह सन्धिरहित होता है । अभिन्न गृह सन्धि से युक्त होता है । भिन्न गृहों में चारो दिशाओं में चार प्रधान गृह निर्मित होते है तथा दिक्कोणों में मण्डप या खलूरिका निर्मित होती है ॥१२॥
यदि वाटभित्ति के भीतर तीन, दो या एकशाल भवन हो तो वह दुर्भाग्यकारक होता है, इसलिये चतुश्शाल भवन प्रशस्त होता है तथा इसका माप इसके विस्तार के माप से ग्रहण करना चाहिये ॥१३॥
छोटे लोगों के लिये छोटे मान का प्रयोग करना चाहिये तथा श्रेष्ठ लोगों के लिये उत्तम मान का प्रयोग करना चाहिये । छोटे लोगों के लिये कभी भी उत्तम मान का प्रयोग नही करना चाहिये । कही-कही छोटे लोगों का मान श्रेष्ठ लोगों के लिये भी प्रशस्त होता है ॥१४॥

गृहविन्यास

गृह की योजना - गृह छोटे मान का हो या उत्तम मान का हो, सर्वप्रथम इसकी सीमारेखा सूत्र द्वारा निर्धारित करनी चाहिये । आयताकार या चौकोर क्षेत्रको चौसठ पदों में विभाजित करना चाहिये । इसमें छः रज्जु, चार वंश एवं आठ सिरायें इस प्रकार खींचनी चाहिये, जिससे सन्धियाँ निर्मित हो ॥१५-१६॥
वास्तुविद् स्थपति को गृहनिर्माण के लिये समय सूत्रादिकों से निर्मित मर्मशूल को गृह के अवयवों (स्तम्भ-भित्ति आदि) से पीड़ित नही करना चाहिये । ऐसा होने पर (गृह एवं गृहस्वामी का) सर्वनाश हो जाता है । इसलिये सभी प्रकार से प्रयत्नपूर्वक सूत्रादि (से निर्मित मर्मस्थलों) का परित्याग करना चाहिये ॥१७॥
पूर्व आदि दिशा के मध्य सूत्र अन्न, धान्य, धन एवं सुख संज्ञक है । इन्ही के आधार पर चार शालाओं की संज्ञा अन्नालय, धान्यालय, धनालय एवं सुखालय होती है ॥१८-१९॥

मध्यमन्डपप्रमाण

मध्य मण्डप का मान - बुद्धिमान स्थपति को सर्वप्रथम वास्तु के मध्य में मण्डप का निर्माण करना चाहिये । इसका विस्तार वास्तु क्षेत्र के विस्तार के चार, पाँच, छः, सात, आठ या नवें भाग के बराबर होना चाहिये । श्रेष्ठ (बड़े), मध्यम एवं कनिश्ठ (सबसे छोटे) मण्डप के छः प्रमाण सात हाथ से प्रारम्भ कर दो-दो हाथ बढ़ाते हुये सत्रह हाथ तक जाते है ॥२०-२१॥

एक भाग या दो भाग प्रमाण वाले मण्डप में चार या आठ स्तम्भ होने चाहिये । ब्राहमण, क्षत्रिय एवं वैश्य के भवन में सम संख्या में स्तम्भ प्रशस्त होते है एवं शूद्र तथा अन्य जातियों (छोटी जातियों) में विषम संख्या में स्तम्भ प्रशस्त होते है ॥२२॥२३॥

मध्यवेदिका

मध्य वेदी - ब्राहमण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के गृह में मध्यवेदी का विशेष महत्त्व है । यहाँ तीनों कालों (प्रातः, मध्याहन एवं सायंकाल) में बलि (पूजन सामग्री) प्रदान की जाती है एवं पुष्प तथा सुगन्ध से पूजा की जाती है ॥२४॥

वेदिका की ऊँचाई तीन ताल (बित्ता, बालिश्त) एव चौड़ाई ऊँचाई के समान होती है । इसके मध्य भाग में वेदिका के आधे माप से ब्रहमपीठ का निर्माण होता है । राजा (क्षत्रिय) एवं वैश्य के भवन में इसका मान छः-छः अंगुल कम रखना चाहिये । शूद्र एवं अन्य जातियों के भवन में ब्रहमवेदिका का निर्माण नही करना चाहिये । ॥२५-२६॥

मध्य-मण्डप के लक्षण - मण्डप का निर्माण गृह के आकार के अनुसार आयताकार या चौकोर होता है । स्तम्भ का मान पाँच ताल से प्रारम्भ होकर तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये सात ताल तक जाता है । इस प्रकार स्तम्भ की लम्बाई नौ प्रकार की होती है । स्तम्भ का विष्कम्भ (घेरा) पाँच अंगुल से प्रारम्भ होकर तेरह अंगुल पर्यन्त होता है । इस प्रकार पादविष्कम्भ नौ प्रकार का होता है । इसके अग्र भाग (पाद के शीर्ष भाग) का विष्कम्भ (नीचे के माप से) आठ भाग कम होता है । पाद के अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई की आधी, छः या आठ भाग कम होती है अथवा अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ के तीसरे या चौथे भाग के बराबर होती है । स्तम्भों की आकृति चौकोर, वृत्ताकार, अष्टकोण या चित्रखण्ड होती है ॥२७-३०॥

ब्राहमणो एवं राजाओं (क्षत्रियों) के स्तम्भ शमी, खादिर, खदिरकाष्ठ से निर्मित होते है । वैश्य के स्तम्भ सिलीन्ध्र, पिशित एवं मधूककाष्ठ के होते है । शूद्रों के स्तम्भ राजादन, निम्ब, सिलीन्ध्र, पिशित या तिनुक के काष्ठ से निर्मित होते है । त्वक्सार (बाँस) के स्तम्भ सभी के लिये अनुकूल होते है ॥३१-३२॥

बाहमण एवं राजाओं के मण्डप पक्की ईंटों एवं गारा से निर्मित होते है । वैश्यों आदि के मण्डप कच्ची ईंटो से निर्मित होते है । सभी मण्डप विविध अलंकरणो से सुसज्जित होते है । अथवा (मण्डप के स्थान पर) नारियल के पत्रों से आच्छादित प्रपा का निर्माण होता है । गृह एवं मण्डप के बीच में चारो ओर तीन, चार, पाँच या छः हाथ विस्तार का एवं सभी स्थानों पर समान माप का मार्ग निर्मित करना चाहिये । छोटे भवनों में एक या दो हाथ चौड़ा मार्ग होना चाहिये ॥३३-३५॥

अन्नागारादिस्थान

अन्नागार आदि (धान्य, धन एवं सौख्य गृह) का मध्य वास्तु के मध्य से दाहिनी ओर होना चाहिये । यह क्रमशः बारह, नौ, सात एवं पाँच अंगुल होना चाहिये । (कहने का तात्पर्य यह है कि ये कक्ष वास्तुमध्य से हटकर दक्षिण भाग में निर्मित होने चाहिये) ॥३६॥

अन्नागार आदि (धान्य, धन एवं सुख) के स्तम्भ गृहों के क्रमशः दस, नौ, आठ एवं सातवें भाग से होते है । एक-एक स्तम्भ स्तम्भ-स्थापन-कर्म द्वारा स्थापित होना चाहिये । इन्हे वास्तु के मध्य से उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम में क्रमशः स्थापित करना चाहिये । गृह एवं स्तम्भो के मध्य में स्थित भित्ति को मध्यभित्ति कहते है । गृहों (कक्षो) के मुख (द्वार) भीतर की ओर एवं वास्तु का (गृह के बाहरी भाग का) द्वार बाहर की ओर होना चाहिये ॥३७-३९॥

सुखालय

सुखालय - ब्राह्मणों का सुखालय महीधर, इन्दु, भल्लाट, मृग एवं अदिति के पद पर निर्मित होना चाहिये । उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई इस प्रकार है - पाँच हाथ से नौ हाथ तक, साढ़े पाँच से साढ़े दस तक एवं सात हाथ से ग्यारह हाथ तक । इस प्रकार इनका तीन प्रकार का प्रमाण होता है ॥४०-४१॥

सामान्यप्रमाण

सामान्य माप - सभी भवनों की चूली (स्तम्भ का ऊपरी भाग) की ऊँचाई गृह के अन्तिम भाग तक की चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये । स्तम्भ की ऊँचाई के बराबर भित्ति की ऊँचाई होनी चाहिये तथा मोटाई (चौड़ाई) स्तम्भ की चौड़ाई की तीनगुनी होनी चाहिये ॥४२॥

दो स्तम्भों के मध्य का अन्तराल भवन की चौड़ाई के तीसरे या पाँचवे भाग के बराबर होना चाहिये । स्तम्भ का व्यास पूर्ववर्णन के अनुसार या भवन के हस्त-माप के व्यास के अनुसार रखना चाहिये । भवन का विस्तार जितने हाथ हो, उतने अंगुल का स्तम्भ का विस्तार होना चाहिये । सभी प्रकार के भवनों के स्तम्भ का विष्कम्भ (विस्तार) इसी प्रकार होना चाहिये ॥४३-४४॥

पुनः सुखालय

पुनः सुखालय - भवन का द्वार महेन्द्र के पद पर एवं जल की नाली मुख्य के पद पर होनी चाहिये । इस प्रकार का भवन ब्राह्मणो के लिये सर्व-सम्पत्तिकारक होता है ॥४५॥

अन्नालय

अन्नगृह - महानस (रसोई -कक्ष) का निर्माण महेन्द्र, अर्क, आर्यक, सत्य तथा भृश के पद पर होना चाहिये । इसका माप पाँच प्रकार का - तीन हाथ एवं पाँच हाथ, साढ़े तीन तथा साढ़े छः हाथ, चार एवं सात हाथ, साढ़े चार तथा साढ़े आठ हाथ और पाँच एवं नौ हाथ तक होता है ॥४६-४७॥

गृह का द्वार गृहक्षत के भाग पर एवं जल-प्रणाल जयन्त के भाग पर होता है । इस प्रकार पूर्व दिशा मे स्थित राजा का गृह कोश को लाने वाला एवं वृद्धि करने वाला होता है ॥४८॥

धान्यालय

धान्यगृह - धान्यालय की स्थिति गृहक्षत, अर्की (यम), गन्धर्व, भृङ्गराज तथा विवस्वान् के पद पर होनी चाहिये । उसकी लम्बाई एवं चौड़ाई का वर्णन किया जा रहा है पाँच हाथ तथा नौ हाथ, साढ़े छः एवं साढ़े दस हाथ, सात एवं ग्यारह हाथ, नौ एवं तेरह हाथ और ग्यारह एवं पन्द्रह हाथ- ये पाँच प्रकार के माप होते है । ॥४९-५०॥

पुष्पदन्त के पद पर द्वार होना चाहिये तथा वितथ के पद पर जलनिकास होना चाहिये । वैश्यों का दक्षिण दिशा में आवास धन, धान्य एवं सुख प्रदान करता है ॥५१॥

धनगृह - धनालय पुष्पदन्त, असुर, शोष, वरुण एवं मित्र के पद पर होता है । इसे धान्यालय के समान या उससे कुछ कम होना चाहिये । पश्चिम दिशा में शूद्र का वास धन, धान्य एवं शुभता प्रदान करता है ॥५२-५३॥

इस भवन में भल्लाट के पद पर द्वार तथा सुग्रीव के पद पर जलप्रणाल होना चाहिये । इस प्रकार चारो वर्णो के आवास की विधि का वर्णन किया गया ॥५४॥

गृहोर्ध्वभागाङ्गान

गृह के ऊपरी भाग के अंग - स्तम्भ के ऊपर पोतिका, उत्तर, वाजन, तुला, जयन्ती, अनुमार्ग, फलका, ऊपरी भूमि का तल (फर्श), कपोत, उसकी प्रति, वितस्ति-जलक (कार्निस), मुष्टिबन्ध, मृणाली, दण्डिका, लुपा-क्रिया (लुपा का ढाँचा), लुपा-प्रच्छादन तथा पट्टिका से युक्त मुख की रचना होनी चाहिये । गृह के दक्षिण पार्श्व में बड़ा द्वार होना चाहिये ॥५५-५७॥

वास्तु मण्डप का मान - मण्डप का प्रमाण दो हाथ, साढे तीन हाथ और चार हाथ होता है । अथवा वास्तु-मण्डप (गृह का मण्डप) चार हाथ प्रमाण से प्रारम्भ होकर बत्तीस हाथ तक होता है । छोटे भवन में प्रपा का निर्माण होता है, जिसका प्रमाण एक भक्ति से लेकर इकतीस भक्ति तक होता है । यह ताल एवं नारियल के पत्तों से आच्छादित होता है एवं स्तम्भ तथा बीम से बना होता है ॥५८-५९॥

गर्भस्थान

गर्भ-न्यास का स्थान - अब मै गृहो के गर्भस्थान का वर्णन पूर्व-वर्णन के अनुसार करता हूँ । यह विशेष रूप से देवों के भाग के अनुसार विन्यास के विषय में है ॥६०॥

चार प्रधान भवनों मे उत्तर से प्रारम्भ कर पुष्पदन्त, भल्लाट, महेन्द्र एवं गृहक्षत के पद पर भिति के नीचे मुख्य द्वार के दाहिने भाग में गर्भन्यास होना चाहिये ॥६१॥

भित्ति की चौड़ाई के नौ भाग या आठ भाग करने चाहिये । बाहर से चौथे भाग एवं भीतर से तीसरे भाग को लेकर इन दोनों (बिन्दुओं) के मध्य में गर्भन्यास करना चाहिये ॥६२॥

गृहस्वामी के कक्ष की भित्ति की चौड़ाई को पाँच, छः या सात भाग में बाँटना चाहिये । भितर से दाहिने भाग में दो भाग लेना चाहिये ॥६३॥

स्तम्भ के मूल में गर्भन्यास अच्छि तरह छिपा कर करना चाहिये । इसे द्वार के दाहिने स्तम्भ के नीचे, भीतरी भित्ति के नीचे अथवा छिपे स्तम्भ के नीचे, वास्तु-मण्डल के मध्य से दक्षिण स्तम्भ के नीचे स्थापित करना चाहिये । पिण्डभिन्न (संयुक्त एवं पृथक्) गृह में गर्भ-न्यास के ये पाँच स्थान है ॥६४-६५॥

मुहूर्तस्तम्भ

मुहूर्त-स्तम्भ - विधि के ज्ञाता के द्वारा उसके (गर्भन्यास के) ऊपर उत्तम मुहूर्त-स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिये । ये स्तम्भ खदिर, खादिर, मधूक या राजादन के काष्ठ से निर्मित होते है । इनकी लम्बाई एवं चौड़ाई इस प्रकार कही गई है- इसकी लम्बाई बारह, ग्यारह, दस या नौ बित्ता तथा इसकी चौड़ाई बित्ते के माप के बराबर अंगुल होती है । शीर्ष भाग में इसकी चौड़ाई आठ भाग कम होनी चाहिये । गड्ढे मे रक्खा जाने वाला उसकी लम्बाई का पाँच, साढे चार, चार या तीन बित्ता के बराबर का भाग होता है । इसके शीर्ष भाग को वृत्ताकार, कमलपुष्प की कली के समान, खण्डाग्र या बुद्बुद

के समान निर्मित करना चाहिये । स्तम्भ की पूजा ब्राहमण आदि चारो वर्णो द्वारा भली-भाँति करनी चाहिये ॥६६-६९॥

सामान्यविधि

सामान्य विधि- पिण्डशाला (सम्पूर्ण भवन का एक भाग) का निर्माण मध्य मे स्थित स्तम्भ को छोड़कर करना चाहिये (अर्थात गृह के मध्य में स्तम्भ नही होना चाहिये) गृह की मध्य भित्ति स्तम्भ के मध्य भाग से सम्बद्ध नही होनी चाहिये । इस भित्ति पर दो कुल्याभ द्वार (मुडा हुआ द्वार) होना चाहिये ॥७०॥

(सुखालय) भवन में भीतरी द्वर दक्षिण-पूर्व मे होना चाहिये । गृह का पार्श्व दक्षिण भाग में होना चाहिये एवं गृह के पार्श्व (दक्षिण भाग में) रसोई होनी चाहिये । (धान्यालय) भवन का भीतरी द्वार पश्चिमोत्तर दिशा मे होना चहिये । गृह का पार्श्व भाग उत्तर दिशा मे होना चाहिये । (धनालय भवन) पार्श्व भाग के पश्चिम में होना चाहिये । भिन्न शालागृहो मे शालाओ में सन्धिकार्य नहि करना चाहिये ॥७१-७३॥

देवों (वास्तुदेवों) की स्थापना पिण्डशालाओं मे (भवन के संयुक्त खण्ड में) करना चाहिये । ब्रहमा एवं उनके चतुर्दिक बाहय देवों की स्थापना उचित रीति से करनी चाहिये । विना पदो वाले शेष सभी देवों को रक्षा के लिये स्थापित करना चाहिये ॥७४॥

ऐसा भी कहा गया है कि पिण्डशाला में मध्य भाग में स्तम्भ नही होना चाहिये । अब मै फिर से क्रमानुसार दोनो पार्श्वों मे, पीछे तथा सामने स्तम्भों की संख्या का वर्णन हस्तसंख्या (हस्त-माप) के अनुसार करता हूँ ॥७५-७६॥

भवन का माप (विस्तार) तीन या साढे तीन हाथ होने पर आठ स्तम्भ होते है । माप चार, साढ़े चार या पाँच हाथ होने पर सोलह स्तम्भ, माप छः, साढे छः या सात हाथ होने पर चौबीस स्तम्भ, माप साढे आठ या नौ हाथ होने पर बत्तीस स्तम्भः माप साढे दस या ग्यारह हाथ होने पर चालीस स्तम्भ; माप साढ़े बारह या तेरह हाथ विस्तृत होने पर अड़तालीस स्तम्भ होने चाहिये । जिस प्रकार चौड़ाई में उसी प्रकार लम्बाई में भी स्तम्भों की संख्या होनी चाहिये ॥७७-८०॥

अलिन्द्र

अलिन्द्र, बरामदा - (गृह का) विस्तार सात हाथ होने पर उसको छः भागो में बाँटना चाहिये । (गृह के) मुखभाग (सामने) दो भाग से अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये । नौ हाथ (विस्तार) होने पर आठ भाग करना चाहिये तथा सामने तीन भाग से अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये । ग्यारह भाग विस्तार होने पर दस भाग करना चाहिये तथा चार भाग से बरामदा करना चाहिये । तेरह भाग विस्तार होने पर बारह भाग करने चाहिये और छः भाग से सामने अलिन्द्र निर्मित करना चाहिये । अलिन्द्र का भाग इस पर जानना चाहिये ॥८१-८२॥

स्वामिस्थान

गृहस्वामी का स्थान - स्वामी के स्थान का विस्तार चौवन अंगुल होना चाहिये । बड़े गृह में अठहत्तर अंगुल होना चाहिये । प्रारम्भ से लेकर छः-छः अगुल बढ़ाते हुये इसके पाँच प्रमाण प्राप्त होते है ॥८३-८४॥

स्तम्भ की ऊँचाई के साठ भाग करने चाहिये । सोलह भाग से वेदिका का निर्माण होना चाहिये । वेदिका का दुगुना स्तम्भ होना चाहिये तथा शेष से प्रस्तर की रचना करनी चाहिये ॥८५॥

अधिष्ठान पादबन्ध रीति से निर्मित होना चाहिये एवं स्तम्भ सभी अंगो से युक्त होना चाहिये । उत्तर के ऊपर भूत, कपोत एवं प्रति निर्मित होनी चाहिये । इसे व्याल, गज, मकर, सिंह तथा नासिका आदि अलंकरणों से सुसज्जित करना चाहिये । द्वार तोरण से युक्त हो तथा भित्ति का भीतरी भाग अलंकृत होना चाहिये ॥८६-८७॥

स्वामी का आवास भवन के भीतर होता है एवं वहाँ मण्डप निर्मित करना चाहिये । स्वामी के वास-गृह में शय्या वंश (वास्तुपद की रेखा) पर नही होनी चाहिये ॥८८॥

स्वामी के आवास में स्थित स्तम्भ दो भाग वाले कहे गये है; (जबकि शेष स्थान पर स्थित) स्तम्भ एक-दुसरे से पृथक् होकर स्थित होते है । स्तम्भ का विस्तार स्तम्भ (की लम्बाई) का आधा होता है एवं इसका अलंकरण इच्छानुसार किया जाता है । स्वामी का स्थान भवन के प्रत्येक तल में होना चाहिये । इसकी भित्तियाँ ईटो, गारा या फलक से निर्मित होती है । राजाओं के आवास की भित्ति सोने एवं ताम्र आदि धातुओं से निर्मित होती है ॥८९-९१॥

प्रधान भवन का आच्छादन - अन्नागार आदि गृहों मे ऊपर पाञ्चाल आदि रीतियों से दो-दो लुपायें होनी चाहिये । लुपा-नियोजन एवं उनका क्रम पूर्व-वर्णित विधि से होना चाहिये । लुपाओं के न्यून होने से धन का क्षय होता है एवं अधिक होने से ऋण एवं बन्धन होता है । वैश्य एवं शूद्र के गृहों में तीन चूली तथा राजा के भवन मे पाँच या सात चूली होनी चाहिये । ब्राह्मणों के गृह में नौ, देवगृह में ग्यारह, नास्तिकों एवं आश्रमवासियों के गृह में सम संख्या में चूली निर्मित होनी चाहिये ॥९२-९४॥

प्रधान आवास में गर्भन्यास, चंक्रमण (पैदल चलने का मार्ग) और क भित्ति (मध्य-विभाजक भित्ति) होनी चाहिये । मनुष्यों के आवास में शिलानिर्मित स्तम्भ, तल एवं भित्ति नही निर्मित करनी चाहिये । तृण आदि से मृत्तिका- निर्मित भवन का छाद्य तथा अमृण्मय भवन में लोष्ट-निर्मित छाद्य (टाइल्स की छत) निर्मित करना चाहिये । ब्रहमस्थान का तल (अधिष्ठान से) नीचा होना चाहिये । इसी प्रकार के गृह के भीतरी भाग का तल होना चाहिये । गृह का तल नीचा होने पर गृह का द्वार इस प्रकार आच्छादित होना चाहिये, जिससे गृह की वर्षा के जल से रक्षा हो सके । सभी वर्णो के गृह के अधिष्ठान की ऊँचाई स्तम्भ की आधी होनी चाहिये । कुछ विद्वानों के मतानुसार अधिष्ठान की ऊँचाई गृहस्वामी के वक्ष या नाभि के बराबर होनी चाहिये । यह मान दक्षिण दिशा से प्रारम्भ होकर चारो दिशा के भवनों के लिये क्रमशः कहा गया है ॥९५-९८॥

गृह के अन्य कक्षों की संरचना प्रधान भवन के अनुसार करनी चाहिये । गृहस्वामी के भोग का स्थान वही (निर्दिष्ट स्थल पर) करना चाहिये ॥९९॥

<u>भोगविन्यास</u>

भोग का विन्यास - पके भात के एवं नमक के जल का पात्र पूर्वोत्तर दिशा में रखना चाहिये । अन्तरिक्ष के पद पर चूल्हा, सत्य के पद पर ओखली एवं ईशान के स्थान पर पाकस्थल सभी व्यक्तियों के लिये कल्याणकर होता है ॥१००॥

<u>चुल्लीलक्षण</u>

चूल्हे के लक्षण - चूल्हे के पाँच प्रकार कहे गये है । इनका विस्ता-मान आठ अंगुल से लेकर दो-दो अंगुल बढ़ाए हुये सोलह अंगुल तक तथा ऊँचाई बारह अंगुल से प्रारम्भ करते हुये- तीन-तीन अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ तक होता है ॥१०१॥

चूल्हे के मुख का विस्तार चार अंगुल से लेकर बारह अंगुल तक और इसी प्रमाण से पुट (चूल्हे के स्थान) की चौड़ाई एवं पृष्ठ कूट (चिमनी) का निर्माण करना चाहिये । इसकी चौड़ाई एवं ऊँचाई समान होनी चाहिये । यह चूल्हे का उपयुक्त प्रमाण है । चूल्हे का सबसे छोटा प्रमाण छोटे लोगों के लिये उपयुक्त होता है ॥१०२॥

राजाओं के चूल्हे का आकार मनुष्य के शीर्ष के समान, देवों एवं ब्राह्मणों का चूल्हा चौकोर, वैश्यों का चूल्हा आयताकार तथा अन्य आकृति के चूल्हे अन्य वर्ण के लोगों के लिये अभीष्ट होते है ॥१०३॥

चूलीसंख्या

चूली की संख्या - मनुष्यो तथा देवों के भवन में चूली की संख्य एक, तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह होती है । इनकी संख्या सम एवं विषम होती है । देवों, ब्राह्मणों एवं राजाओ के भवन मे सभी संख्याये अनुकूल होती है । शेष वर्ण के लोगों के भवन में उसी संख्याये अनुकूल होती है । शेष वर्ण के लोगों के भवन मे उसी संख्या का प्रयोग करना चाहिये, जैसा विद्वानों ने कहा है ॥१०४॥

पुनर्भोगविन्यास

पुनः भोगे का विन्यास - अन्नप्राशन (भोजन) का स्थान आर्य, इन्द्र तथा सविन्द्र के पद पर होना चाहिये । श्रवण (वेदाभ्यास, अध्ययन) का स्थान विवस्वान् के पद पर, विवाह का स्थान मित्र के पद पर तथा क्षौरकर्म (बाल कटवाने) का स्थान इन्द्रजय, वायु एवं सोम के पद पर कहा गया है । आय-व्यय (हिसाब-किताब) का स्थान पितृ, दौवारिक एवं जल के पद पर और सुगल तथा पुष्पदन्त के पद पर प्रसूतिगृह होना चाहिये । जलकोश (जलसंग्रह) आपवत्स के स्थान पर एवं कुण्ड (जलकुण्ड) आय के पद पर होना चाहिये । अङ्कन (चक्की) महेन्द्र के पद पर तथा पेषणी (सिल) महीधर के पद पर होना चाहिये ॥१०५-१०८॥

वस्तुभेद

वास्तु के भेद - पूर्ववर्णित भवनों के क्रम में वास्तुभेद का वर्णन करता हूँ । इनमें प्रथम दिशाभद्र, उसके पश्चात दूसरा गरुड़पक्ष, तीसरा कायभार एवं चौथा तुलानीय होता है ॥१०९॥

दिशिभद्रकम्

दिशाभद्र भवन - दिशिभद्र भवन में उसकी लम्बाई के समान सभी दिशाओं में भद्रक होना चाहिये । सभी दिशाओं में आंगन तथा दिक्कोणों में प्रतिवाटभू (खुला स्थान या यागस्थल) होना चाहिये । शेष पूर्ववर्णित नियम के अनुसार, विशेष रूप से ब्राह्मण एव राजाओ के भवन में निर्मित करना चाहिये ॥११०-१११॥

गरुडपक्ष

गरुड़पक्ष - गरुडपक्ष भवन के नियम वही है, जो राजभवनों के होते है ।

कायभार

कायभार - इस भवन की लम्बाई विस्तार की दुगुनी होती है एवं लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये । दो भाग पश्चिम में छोड़कर शेष भाग मे चौसठ भाग निर्मित करना चाहिये । मण्डप आदि सभी भागो का निर्माण पहले के समान करना चाहिये । प्रधान भवन दक्षिण दिशा में एवं शेष भोगाधिवास होते है ॥११२-११३॥

अरिष्टागार एवं गृह के सामानों का भृंगराज, दौवारिक, सुग्रीव एवं पितृ के पद पर होना चाहिये । द्वार के वाम भाग में वरुण के पद पर दानशाला, असुर के पद पर धान्यगृह, इन्द्रराज के पद पर

आयुध, मित्र के पद पर मित्रवास (अतिथिगृह) रोग के पद पर उलूखल यन्त्र (ओखली), भूधर के पद पर कोश-गृह, नाग के पद पर घी एवं औषध जयन्त के पद पर विष, आपवत्स के पद पर विषघात, पर्जन्य के पद पर कूप तथा शिव के पद पर देवगृह होना चाहिये । सवित्र से अन्तरिक्ष के पद तक खाद्यसामग्री एवं रसोई का स्थान होना चाहिये । वितथ, पूषा एवं सविन्द्र के पद पर भुक्तिगेह (भोजनशाला) होनी चाहिये ॥११४-११८॥

यह वैश्यों में ऐश्वर्यशाली लोगों के लिये है । कायभार संज्ञक भवन पश्चिम भाग को छोड़कर सभी वैश्यो के लिये अनुकूल होता है । अब तुलानीय भवन का वर्णन किया जा रहा है ॥११९-१२०॥

तुलानीय

तुलानीय - तुलानीय भवन की लम्बाई उसकी चौड़ाई की दुगुनी होती है । लम्बाई के सात भाग किये जाते है । वास्तु-मध्य में तीन भाग लिया जाता है एवं चौसठ पदों को बाँटा जाता है । मण्डप आदि सभी अंगो का निर्माण पहले के समान होता है । पूर्व एवं पश्चिम मे दो-दो भाग प्रयत्नपूर्वक छोड़कर मध्य स्थान को विद्वान् व्यक्ति को उचित रीति से आवश्यकतानुसार अलंकृत करना चाहिये ॥१२१-१२२॥

वायु, भल्लाट एवं सोम के पद पर आस्थानशाला (स्वागतकक्ष) होना चाहिये । मुख्य के पद पर ओखली, आप के पद पर गणिकाओं का स्थान, वाहन सामने (द्वार के) वाम भाग में तथा शेष स्थान इच्छानुसार निर्मित करना चाहिये । समृद्ध शूद्रो के स्थान का इस प्रकार भली-भाँति वर्णन किया गया ॥१२३-१२४॥

यदि भवन के बाहर भित्ति पर चारो ओर जल गिरे तो कुल का नाश होता है । यदि भवन की छत का किनारा (भित्ति) में संक्रमित न हो तो सभी वर्ण वालो की सम्पूर्ण सम्पत्ति का नाश हो जाता है ॥१२५-१२६॥

गृह के विस्तार के प्रमाण से एवं लम्बाई के मान से गृह की ऊँचाई रखनी चाहिये । इस प्रकार से निर्मित भवन प्रशस्त होता है, इससे विपरीत होने पर विनाश का कारण बनता है ॥१२७॥

द्वारमान

द्वार के मान - विधि के ज्ञाता (स्थपति) को मनुष्यों के भवन के द्वार का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये । स्तम्भ की लम्बाई के आठ भाग करने चाहिये । उसके साढ़े छः भाग से द्वार की लम्बाई रखनी चाहिये । लम्बाई के नौ भाग करके उसके आधे भाग को छोड़ देना चाहिये । शेष भाग के बराबर द्वार की चौड़ाई रखनी चाहिये ॥१२८॥

स्तम्भ की लम्बाई के पाँच भाग करने चाहिये । चार भाग से द्वार की लम्बाई रखनी चाहिये । शेष भाग के छः भाग करने चाहिये । सढ़े तीन भाग से उत्तर (लिन्टल) तथा ढ़ाई भाग से प्रति होनी चाहिये । द्वार पर बन्ध (बन्द करनेवाला भाग) होना चाहिये, जिसकी मोटाई पूर्ववर्णित होनी चाहिये ॥१२९॥

कर्मकाल

उदित होते हुये सूर्य की किरणोंसे जब (शङ्कु की छाया पड़े) तब अन्नशाला का निर्माण करना चाहिये । दोपहर के पश्चात् जब सूर्य कीकिरणें पश्चिम से अत्यन्त ढलकर आती है, उस समय अति उन्नत धनगृह निर्मित होना चाहिये । दक्षिण गृह अत्यन्त उँचा एवं विस्तृत होना चाहिये । (इस समय सूर्य दक्षिण में होता है) । सुखगृह का निर्माण उस समय करना चाहिये, जब सूर्य की किरणे

उतर दिशा से आती है या जब किरणे सुखद हो। प्राचीन मनीषियों के अनुसार ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय) वैश्य एवं शूद्रो के भवन का निर्माण सूर्य के उदित होने एवं डूबने के समय के अनुसार करना चाहिये ॥१३०-१३१॥

द्वारस्थान

द्वार का स्थान गृह का मुख्य प्रवेशद्वार राक्षस, पुष्पदन्त, भल्लाट या महेन्द्र के पद पर प्रशस्त होता है। यह गृहस्वामी के धन, वंश एवं पशुओं की वृद्धि करता है। गृह की भित्ति एवं स्तम्भ के मध्य में स्थित प्रवेशद्वार प्रशस्त होता है ॥१३२॥

गृह में वास-योजना - गृहस्वामी का कक्ष भवन के दाहिनी ओर एवं उसकी स्त्री का कक्ष बायी और होना चाहिये। इसके विपरीत होनेपर प्रशस्त नही होता है एवं यही स्थिति उनके चित्त को सदैव दुःखी बनाती है ॥१३३॥

सम्पत्ति एवं समृद्धि के लिये गृह का निर्माण वास्तु-क्षेत्र के मध्य मे, गृह के मध्य मे, स्तम्भ एवं भित्ति के विषय में जिस प्रकार कहा गया है. उसी प्रकार करना चाहिये। इनके आपस में मिश्रित हो जाने पर सभी प्रकार की सम्पत्तियों का नाश होता है। अतः निर्माणकार्य भली-भाँति परीक्षा करके ही करना चाहिये ॥१३४॥

आरम्भकाल

गृह-निर्माण का आरम्भकाल - सूर्य के मेष और वृष में जाने पर अन्नगृह का निर्माण करना चाहिये। कर्क और सिंह में सूर्य के रहने पर धान्यालय का निर्माण करना चाहिये। तुला और वृश्चिक में सूर्य के रहने पर धनालय एवं मकर तथा कुम्भ में सूर्य के होने पर सुखालय का निर्माण होता है। सूर्य के मीन, मिथुन, कन्या या धनु में होने पर कर्मवित् व्यक्ति को सभी दिशाओं में (अर्थात् किसी भी दिशा में) घर नही बनवाना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति इस व्यवस्था की उपेक्षा कर अपनी इच्छा के अनुसार गृह-निर्माण प्रारम्भ करता है तो वह या तो यमलोक जाता है अथवा उसके सेवकों का नाश होता है ॥१३५-१३६॥

मयमतम् - अध्याय २८

(गृहप्रवेश)

गृह में प्रथम प्रवेश - जब गृह निर्मित हो जाय तब गृह में प्रवेश करना चाहिये। विना पूर्ण रूप से निर्मित गृह में प्रवेश करने की शीघ्रता नही करनी चाहिये। गृहनिर्माण के पूर्ण होने के पश्चात गृह-प्रवेश करने मे विलम्ब होने पर उस गृह में देव एवं भुत आदि गणों का वास हो जाता है ॥१॥

जब गृह-निर्माण का कार्य समापन की ओर पहुँचे तब शुभ नक्षत्र, तिथि, वार, शुभ होरा, शुभ मुहूर्त, अंश, करण एवं शुभ लग्न में गृहप्रवेश करना चाहिये ॥२॥

अधिवास

प्रवेश से पूर्व के कृत्य - गृहप्रवेश के एक दिन पूर्व गृह में ब्राह्मण, पशु एवं वृषभ को बसाना चाहिये एवं जल आदि से उन्हे तृप्त कराना चाहिये। स्वाध्याय (वेद-पाठ) तथा होम आदि तथा

स्वस्तिवाचन से ब्राह्मण को प्रसन्न करना चाहिये । गृह की सफाई करनी चाहिये । भित्ति पर हरिद्रा (हल्दी), सरसों, कुष्ठ (कूट), वचा के मिश्रण का लेप करना चाहिये तथा भूमि पर चन्दन के जल का छिड़काव करना चाहिये ॥३॥
भवन के उत्तर-पूर्व भाग में निशाकाल में (पूर्वसन्ध्या में) बुद्धिमान मनुष्य को अधिवास-कर्म करना चाहिये । गृह को वितान, पताका तथा रंग-बिरंगे वस्त्रादिकों से मण्डप को सजाना चाहिये ॥४॥
स्थपति को श्वेत वस्त्र, सोने का यज्ञोपवीत, श्वेत पुष्प, श्वेत लेप (चन्दन), सोने एवं रत्नों से युक्त विविध आभूषण को धारण कर प्रसन्न मन से उपस्थित रहना चाहिये ॥५॥

कलश स्थापन

कलश की स्थापना- बुद्धिमान व्यक्ति को पच्चीस जलपूर्ण कलश को नये वस्त्रों से लपेटना चाहिये एवं उनमें सुवर्ण तथा रत्न डालना चाहिये । इन्हे तण्डुल (चावल) से युक्त उपपीठ वास्तुपद पर स्थापित करना चाहिये ॥६॥
इन कलशों के उत्तर दिशा मे बलि के अन्न (देवों को समर्पित करने वाले अन्न) श्वेत, लाल, पीला एवं कृष्ण वर्ण (का चावल), मूँग, पाअस (दूध में पका भात), पका यव, पिङ्गान्न (केसर का चावल), कृसर (खिचड़ी), गुड़ मे पका भात एवं शुद्धान्न (केवल बात) रखना चाहिये ॥७॥
इसके पश्चात् स्थपति पलंग पर बैठता है, जिस पर सुद्नर बिस्तर बिछा होता है, चार दीपक होते है तथा उस पर वस्त्र (चादर) होता है । स्थपति सदैव 'शम्बर' (शुभ वाचक शब्द) बोलता रहता है ॥८॥
एक सुवर्णपात्र में सभी अन्न, बलि एवं चरु (हवन के लिये खीर), रत्न, सुवर्ण, दही, गुड, मधु, फूल, घी, अक्षत, धान का लावा, रजनि, तगरु, कुष्ठ (कूट), अच्छकल्क (हल्दी का मिश्रण) आदि रक्खा जाता है ॥९॥
इसके पश्चात् स्थपति सभी देवों को (वास्तुमण्डल) उनके कोष्ठों में रखता है और निर्मल कलशोम को एक हाथ की पंक्ति में रखता है । तक्षक (स्थपति) इन कलशों को श्वेत पुष्प, यूप (काष्ठ की खूँटी, जिसकी प्रयोग यज्ञभूमि में होता है), दीप तथा गन्ध अर्पित करता है । प्रत्येक देवता को आदरपूर्वक ओंकार से प्रारम्भ कर नमः पर्यन्त नाम लेते हुये बलि प्रदान करता है, ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है । ॥१०॥

बलिविधान

बलिप्रदान - सबसे पहले विधिपूर्वक अज (ब्रह्मा) को नमन करते हुये उन्हे बलि-प्रदान करे । इसके पश्चात् चतुर्मुख ब्रह्मा के चारो दिशाओं मे स्थित देवों को उनके अनुकूल बलि, पुष्प, गन्ध एवं धूप आदि से तृप्त करना चाहिये ॥११-१२॥
बन्धुओं के साथ इन्द्र के लिये पूर्व दिशा में, अग्नि के लिये अग्निकोण में, यम के लिये दक्षिण दिशा मे, निऋति एवं उसके पित्रु आदि बन्धु-वर्ग के लिये नैऋत्य कोण में, पश्चिम मे वरुण के लिये, वायव्य कोण में परिवार के साथ अनिल के लिये, सोम के पद पर उत्तर दिशा में मित्रो के साथ सोम के लिये बलि प्रदान करना चाहिये । पूर्वोत्तर दिशा में बन्धु-बान्धवों के सहित शिव के लिये बलि प्रदान करना चाहिये । इस प्रकार सभी दिशाओं एवं कोणों में बलि प्रदान करना चाहिये ॥१३-१४॥
चरकी के लिये ईश पद (के बाहर), विदारी के लिये ज्वलन (के स्थान के बाहर), पूतना के लिये पितृपद के बाहर, इसी प्रकार पापराक्षसी के लिये मारुत के पद के बाहरी भाग पर बलि-कर्म करना चाहिये ॥१५॥

स्तम्भ पर वन (वृक्ष) एवं घास के लिये, दिन में विचरण करने वालों के लिये दिशाओं में, रात्रि मे विचरण करने वालों (राक्षस आदि) के लिये दिक्कोणों मे बलि प्रदान करना चाहिये । सर्प एवं देवताओं के लिये (भूमि के नीचे स्थित देवों के लिये) पृथ्वी पर बलि डालनी चाहिये । धर्म एवं सभी देवों के लिये आकाश की ओर बलि फेंकनी चाहिये । द्वार के वाम भाग में मनु एवं अन्य को तथा शयन पर श्री को बलि प्रदान करना चाहिये ॥१६॥

शालाओं मे, मण्डप में, सभागारो में, मालिकाओं में, मध्य आँगन मे तथा विमान (मन्दिर) में, मुख्य मण्डप में भवन के आभ्यन्तर देवों का चौसठ पद वास्तु-मण्डल में आवाहन कर गन्ध-पुष्प आदि से उनकी पूजा करनी चाहिये । उनको जल तथा सुन्दर बलि प्रदान करने के पश्चात् जल एवं धूप स्थपति द्वारा प्रदान किया जाना चाहिये । ॥१७-१८॥

उत्तम धूप में तुलसी, सर्ज्जरस (साल वृक्ष का रस), अर्जुन, मञ्जरी, घनवाचक, पटोल (ककड़ी की एक जाति), गुग्गुल, त्रपुष, हिंग, महौषधि (दूर्वा), सरसो तथा कुरवक (सदाबहार पुष्प) होते है ॥१९॥

(उपर्युक्त धूप) प्रभूत धन एवं अन्न प्रदान करता है । भूत, पिशाच एवं राक्षसो को दूर करता है और कीट, सर्प, मक्खी, चूहा, मकड़ी एवं चीटियों का दाह करता है (अर्थात् ये घर से दूर रहते है) ॥२०॥

इसके पश्चात् पात्रों के पश्चिम भाग में धान्य के बिछौने पर तक्षक (स्थपति) के सभी साधन (उपकरण, औजार) रखकर उनको बलि प्रदान करना चाहिये । उस संग्रह के मध्य स्थित होकर उनके लिये (इस प्रकार) कहना चाहिये ॥२१॥

आरोग्य, प्रसन्नता, धन एवं यश की वृद्धि से युक्त, महान कर्म से युक्त, निरन्तर उपद्रवकारी कर्मों से रहित पृथिवी धर्म के मार्ग पर चिर काल तक जीवित रहे । धारानिपात से, जल के प्रकोप से, (गज के) दाँतों द्वारा गिराये जाने से, वायु के प्रकोप से, अग्नि के दाह से और चोरों द्वारा चोरी से इस गृह की रक्षा कीजिये । यह गृह मेरे लिये कल्याणकारी हो ॥२२-२३॥

स्थपतिनिर्गमनम्

स्थपति का निकलना - इस प्रकार कहते हुये सम्पूर्ण साधनों (उपकरणों) को खड़े होकर स्थपति दोनों हाथों से (जोड़ते हुये) एवं शिर से प्रणाम करे । उन सभी उपकरणों को हाथों में अपने लोगों एवं सेवकों के साथ उचित रीति से रखकर सन्तुष्ट मन से बन्धु, पुत्र एवं सहायक आदि के साथ स्थपति अपने घर जाय । इसके पश्चात् सभी बलि के अन्नों को समेट कर गृहदेवताओं के लिये जल मे विधिवत् डाल देना चाहिये ॥२४-२५॥

इसके पश्चात् गृह की भली-भाँति सफाई करके कुष्ठ, अगरु एवं चन्दन-मिश्रित जल से तथा कलश के सुगन्धयुक्त मणि एव सुवर्णमिश्रित जल से सिञ्चन करना चाहिये । तदनन्तर लावा एवं शालि (चावल) को भवन के भीतर छींटना चाहिये । इसके पश्चात् सम्पूर्ण गृह में आठो प्रकार के अन्न, धन और रत्नों को रखना चाहिये ।॥२६-२७॥

गृहपतिगृहिणीप्रवेशः

गृहस्वामी एवं गृहस्वामिनी का प्रवेश - गृहपति एवं गृहिणी माङ्गलिक प्रतीकों से युक्त, स्वजनों, सेवकों, पुत्रों (सन्तानो), बन्धु-बान्धवों से युक्त होकर अपने उस गृह में जगत्पति ईश्वर का चिन्तन करते हुये प्रवेश करते है, गृह के सभी वस्तुओं से युक्त होता है ॥२८॥

प्रसन्न मन से गृह में प्रवेश कर, गृह मे रखे गये सभी पदार्थों को देखकर गृहपति एवं गृहस्वामिनी को शय्या पर बैठना चाहिये । इसके पश्चात् गृहिणी व्यञ्जनसहित अन्न को लेकर गृह के निमित्त

बलि प्रदान करती है । बलि देने से बचे हुये अन्न को गृहिणी अपने कुल के साथ चलने वाली मूल दासी को देती है एवं देवता, ब्राह्मण तथा तक्षक (स्थपति) आदि को धन, रत्न, पशु, अन्न एवं वस्त्रादि देकर तृप्त करती है । ॥२९-३०॥

गृह में सर्वप्रथम आत्मीय जन, गुरुजन (बड़े लोग), मित्रगण, सेवकगण एवं अन्य सम्बन्धियों को भोजन कराना चाहिये । गृहपति एवं गृहिणी अपने गुरुजनों को प्रणाम करे । इसी क्रम से पुत्र-पौत्रों को भी भोजन कराना चाहिये ॥३१॥

गृहस्वामी उस पवित्र गृह में प्रवेश करे, जो जलपूर्ण घटों से युक्त हो, केले के फलयुक्त डाली से युक्त हो, पूग (सुपाड़ी) वृक्ष (की डाली) से युक्त हो, दीप, पीपल के पत्ते, श्वेत पुष्प, अङ्कुरित बीजों से युक्त हो । मांगलिक कन्याओं, निर्मल युवतियों, प्रधान ब्राह्मणों से युक्त हो एवं जिस भवन का द्वार वन्दनवार से सुसज्जित हो ॥३२॥

गृहपति जिस प्रकार विवाह के समय गृहिणी का हाथ पकड़ता है, उसी प्रकार श्वेत वस्त्र, जल एवं जलते हुये दीपक से युक्त होकर, प्रसन्न मन से श्वेत पुष्प एवं वस्त्र धारण कर गृहिणी का हाथ पकड़कर गृह में प्रवेश करे ॥३३॥

विना बलि प्रदान किये, विना भोजन कराये, विना गृह आच्छादित किये, विना गर्भविन्यास किये, ब्राह्मण एवं स्थपति आदि जहाँ तृप्त न किये गये हो या जहाँ विस्तर न हो, ऐसे गृह में प्रवेश करने पर मात्र विपत्ति आती है । दुष्ट ह्रदय (दुःखी मन, अप्रसन्न चित्त) प्रवेश करने वाला गृहपति विपत्ति का भाजन बनता है ॥३४॥

अत्यन्त सन्तुष्ट मन से पुत्र, पत्नी, आत्मीय जनों एवं प्रिय लोगों के साथ गृहस्वामी अपने गृह में प्रवेश करे एवं प्रवेश करने के पश्चात् शुभ वचन उसके कानों में पड़े ॥३५॥

ग्राम, अग्रहार, पुर, पतन आदि में ब्रह्मा के पद पर, दिशाओं एवं दिक्कोणों में बलि प्रदान करना चाहिये । देवालय एवं सरस्वती भवन में चौसठ पद वास्तुमण्डल में सभी देवताओं को बलि प्रदान करना चाहिये ॥३६॥

मयमतम् - अध्याय २९

राजभवन - अब मै (मय) संक्षेप में बाह्य भाग में नगर एवं शिविर से युक्त राजगृह का वर्णन करता हूँ ।

राजवेश्ममान

राजगृह के प्रमाण - नगर में तीन या चार भाग में पूर्व दिशा में या शालाओं (प्राकारों) के बीच (अथवा विना प्राकारों के) राजभवन होना चाहिये । अधिराज का भवन दक्षिण से पश्चिम भाग में होना चाहिये । पार्ष्णीय आदि राजाओं के भवन नगर के पश्चिम भाग में सात या नौ भाग से होना चहिये । अङ्कुर आदि (राजपुत्रों) के भवन तथा सेनापति के भवन भी वहीं होने चाहिये । विश्वनृपेश्वर (सम्राट) का भवन नगर के तीसरे भाग से मध्य में होना चाहिये ॥१-३॥

नगर के अनुसार राजभवनों का प्रमाण कहा गया है । अब दण्ड-प्रमाण का वर्णन किया जा रहा है । भवन का विस्तार एक सौ चौवालीस दण्ड होना चाहिये । इनमें क्रमशः चार, आठ, बारह एवं सोलह दण्ड कम करते जाना चाहिये । राजभवन का व्यास बत्तीस दण्डपर्यन्त होता है । उपर्युक्त राजभवनों का विस्तार उसी प्रकार बढ़ाना चाहिये, जो पाँच सौ अट्ठाईस दण्डपर्यन्त जाता है एवं जो राजभवन का सबसे बड़ा विस्तार प्रमाण होता है । इस प्रकार बत्तीस दण्ड से प्रारम्भ कर बत्तीस प्रकार के राजभवन के प्रमाण बनते है । राजभवन का ज्येष्ठ या अज्येष्ठ (छोटा) प्रमाण (नगरादि के अनुसार) होना चाहिये ॥४-७॥

लम्बाई चौड़ाई की दुगुनी, दुगुनी से चतुर्थांश कम, डेढ भाग या सवा भाग अधिक होनी चाहिये । साला (प्राकार) का आकार बारह प्रकार का होता है- चौकोर, वृत्त, आयताकार, शकटाकार, नन्द्यावर्त, कौक्कुट (मुर्गे का आकार), गज का आकार, कुम्भ का आकार, स्वस्तिकाकार, गोलाकार, मृदङ्ग का आकार या मग्न (खोखला) होना चाहिये तथा एक मान का प्रयोग करना चाहिये ॥८-९॥

एक बार अभीष्ट लम्बाई एवं चौड़ाई का चयन करने के पश्चात् उसी के अनुसार भवननिर्माण करना चाहिये । यदि भवन निर्मित होने के पश्चात् किसी भी कारण से उससे छोटा है तो वह राजा के लिये अशुभ होता है एवं निरन्तर विपत्तिकारक बनता है । यदि भवन को बाहर बढ़ाकर निर्मित करना अभीष्ट हो तो उसे पुर्व या उत्तर दिशा में बढ़ाना श्रेयस्कर होता है अथवा चारो ओर बढ़ाना चाहिये, ऐसा प्राचीन मनीषियों का मत है ॥१०-११॥

छोटे भवनों की योजना - प्रथम आँगन पूर्व या दक्षिण मे होना चाहिये । भवन के मध्य में पीठ होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई एवं चौड़ाई आधा दण्ड हो । यही सह (ब्रह्मा) की वेदी पीठ से चारो ओर एक दण्ड अधिक बड़ी होती है ॥१२-१३॥

वेदी की दक्षिण तीस हाथ की दुरी पर सीध में राजा का भवन होना चाहिये । वेदी के पश्चिम में मध्यसूत्र होता है । वेदी के उत्तर में इसी प्रमाण की दूरी पर रानी का भवन होता है, जिसका मध्य सूत्र वेदी के पूर्व में होता है ॥१४-१५॥

राजा के दैर्घ्य (दीर्घिका, तालाब) को अड़तालीस, बत्तीस, चौबीस या सोलह दण्ड की दूरी पर निर्मित करना चाहिये तथा प्रथम प्राकार को इसके बाहर बनाना चाहिये । यह तीन हाथ विस्तृत एवं ग्यारह हाथ ऊँचा होता है । प्राकार के बाहर सात हाथ चौड़ि सड़क होनी चाहिये । इसके बाहर नौ हाथ चौड़ी भवनो की पंक्ति होनी चाहिये । इसके पश्चात् भवनों की अन्तिम पंक्ति एवं उसके बाहर प्राकार होना चाहिये । यह प्राकार एक दण्ड चौड़ा एवं साढ़े दस हाथ ऊँचा होता है । इसके चारो और नौ हाथ चौड़ी सडक होती है । इससे बत्तीस दण्ड की दूरी पर बाहरी प्राकार 'मर्यादि' होता है । यह डेढ़ दण्ड विस्तृत एवं पन्द्रह हाथ ऊँचा होता है । इसके बाहर तीन दण्ड विस्तृत मार्ग होता है । राजभवन के बाहर देख-रेख के लिये बारह सुरक्षाकर्मी नियुक्त किये जाते है । बुद्धिमान पुरुषों ने भित्तियों के बाहर एवं भीतर का मान इस प्रकार निर्धारित किया है ॥१६-२१॥

एतद्गोपुराण

गोपुर द्वार - छोटे राजाओं के भवनों में तीन प्राकार, तीन मार्ग एवं तीन भाग (तीन भवनों की पंक्तियाँ) होती है । इनमें चार से अधिक गोपुर नही होते है । प्रमुख गोपुर सबसे अधिक उन्नत होना चाहिये । पश्चिम का प्रवेशद्वार (गोपुर) नीचा होना चाहिये । प्रधान गोपुर भवन के पूर्व या

दक्षिणमुख होना चाहिये । उत्तर या पश्चिममुख (राजाओं के लिये) प्रशस्त नही होता है । राजाओं के भवन में पाँच मुख अभीष्ट नही होते । पूर्ववर्णित (संख्या में) गोपुर होने चाहिये ॥२२-२३॥

गृहविन्यास

भवनों का विन्यास - कुछ विद्वानों के मतानुसार रानियों का भवन राजाओं के भवन के भीतर होना चाहिये । उसके मध्य में आँगन या एक सौ स्तम्भों से युक्त प्रपा होनी चाहिये । दक्षिण भाग में राजभवन तथा पश्चिम भाग में अभिषेक-गृह होना चाहिये । उत्तर दिशा में एक तल या अनेक तल से युक्त राजमहिषी (पटरानी) का भवन होना चाहिये । राजा का प्रधान आवास पश्चिम दिशा में पूर्वमुख होना चाहिये ॥२४-२६॥

परिखा

खाई - बाह्य प्राकार के चारो ओर परिखा होनी चाहिये, जिसकी चौड़ाई छः दण्ड से लेकर नौ दण्डपर्यन्त होती है । परिखा के बाहर एवं भीतर भाग में तीन दण्ड विस्तृत मार्ग होना चाहिये । परिखा के मूल भाग का विस्तार ऊपरी भाग के विस्तार के आठवे भाग के बराबर होना चाहिये । इसकी गहराई आवश्यकतानुसार (परिस्थिति के अनुसार) एवं आकृति घण्टे के समान (अथवा सुरक्षा के अनुसार) होनी चाहिये ॥२७-२८॥

पुनर्गृहविन्यासः

पुनः गृह का विन्यास - रानी के भवन के बाहर गृहों को आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये । अब मै यहाँ उनके दैविक भाग का वर्णन कर रहा हूँ । प्रथम प्राकार के बाहर का भवन देवता के भाग के अनुसार होना चाहिये ॥२९॥

प्रथमावरण

द्वारहर्म्य संज्ञक द्वार आर्य के पद पर होना चाहिये । इन्द्र एवं सूर्य के पद पर एक बड़ा आँगन होना चाहिये । भृश एवं व्योम के पद पर वृत्त (शालाविशेष) होना चाहिये । पूषा के पर पर स्वर्ण होना चाहिये । सभी सालाओं (प्राकारों) का आँगन राक्षस के पद से लेकर वितथ के पद तक होना चाहिये । यम के पद पर अत्यन्त उन्नत सेनावेशहर्म्य (रक्षाकर्मी से युक्त प्रवेशद्वार पर निर्मित शाला) होना चाहिये । गन्धर्व के पद पर नीड़ (सजावटी खिड़की की आकृति) के समान निर्माण होना चाहिये, जो नृत्य करने के अनुकूल रङ्गस्थल से सुशोभित हो । यह विमान मन्दिर, शाला या हर्म्य में होना चाहिये ॥३०-३२॥

भृङ्गराज के पद पर अश्वशाला, भृश के पद पर सूतिकागृह, पितृ के पद पर स्थानहर्म्य (स्वागत कक्ष), दौवारिक एवं सुकण्ठ के पद पर जललीला (स्थानविशेष, सम्भवतः जलक्रीडा-स्थल) निर्मित करना चाहिये । पुष्पदन्त के पद पर खलूरिका (अतिरिक्त बाहर निकला स्थान या कक्ष) निर्मित करना चाहिये, जहाँ नमक एवं मरिच आदि मसाले रक्खे जायँ ॥३३-३४॥

वरुण, असुर, शोष एवं मित्र के पद पर सङ्करालय (मिलने-जुलने का स्थान) होना चाहिये । इसके दाहिने एवं बाँये रानी का कक्ष एवं गर्भागार होना चाहिये । मित्र के पद पर नृत्यशाला एवं रस (नाट्यशाला) तथा उपस्करगृह (नृत्यादि से सम्बन्धित सामग्री रखने का कक्ष) होना चाहिये । रोग एवं समीरण के पद पर पूर्ण रूप से बन्द आवास कक्ष होना चाहिये ॥३५-३६॥

वर्धमान आदि चतुश्शाल गृहो में नाग के पद पर सैरन्ध्री (केशसज्जा करने वाली स्त्री) एवं धात्री स्त्रियों (बच्चों की देख-रेख करने वाली महिलाओं) का कक्ष, मुख्य के पद पर कन्याओं का गृह

होना चाहिये । भल्लाट के पद पर औषधकक्ष एवं मृग के पद पर सांवाहिका गृह (मालिश करने वाली स्त्री का कक्ष) होना चाहिये । रुचक आदि चतुश्शाल गृह में यहाँ कक्ष निर्मित करना चाहिये । उदिति एवं आपवत्स के पद पर स्नानगृह होना चाहिये, जहा~म पीने का जल एवं उष्ण जल होना चाहिये । विद्वानों के अनुसार यह प्रासाद के समय होना चाहिये । इष्टदेव का स्थान ईशान एवं जयन्त के पद पर होना चाहिये ॥३७-४०॥

महेन्द्र के पद पर भोजनकक्ष होना चाहिये । महीधर और मरीच के पद पर (भोजनकक्ष) अथवा पार्वत कूर्म सभाकक्ष के समान सम्बाध (मिलने-जुलने का स्थान) निर्मित कराना चाहिये । सभी द्वार एवं भित्तियाँ गृहस्वामी की इच्छा के अनुसार होनी चाहिये । प्रथम आवरण (प्रथम आकार) में (सभी अंगो का) वर्णन किया गया । अब द्वितीय आवरण का वर्णन क्रमानुसार किया जा रहा है ॥४१-४२॥

द्वितीयावरण

द्वितीय प्राकार - इन्द्र एवं आदित्य के पद पर छत्र एवं भेरी का स्थान एवं शंख, काहल तथा तूर्य आदि अन्य वाद्यों का स्थान होना चाहिये । सत्य के पद पर दान की सामग्री, भृश के पद पर धर्मसम्बन्धी कार्यहेतु जल, पंक्तिक (आकाश) के पद पर ओखली, ज्वलन (अग्नि) के पद पर इन्धन, पूषा, साविन्द्र एवं वितथ के पद पर अश्वशाला होनी चाहिये ॥४३-४४॥

पूर्व में स्थित शालाओं के द्वार पश्चिम दिशा में, दक्षिण में स्थित शालाओं के द्वार उत्तर में, पश्चिम में स्थित भवनों का मुख पूर्व में एवं उत्तर मे स्थित शालाओं के मुख दक्षिण में होने चाहिये । सभी गृह मध्य में स्थित भवन के सामने मार्ग द्वारा पृथक्-पृथक् होना चाहिये ॥४५-४६॥

राक्षस के पद पर शस्त्रागार, (द्वार के) वाम भाग में द्वारशाला (द्वाररक्षक का कक्ष), धर्मराज के पद पर अन्न एवं पेय पदार्थों को तैयार करने का कक्ष होना चाहिये । चतुश्शाल गृह को मध्य रङ्ग (मध्य में आच्छादित हाल या बड़ा कमरा) से युक्त निर्मित करना चाहिये । गन्धर्व के पद पर सेनापति का स्थान प्रशस्त एवं विजय प्रदान करने वाला होता है । ऐसा भी मत है कि भृंगराज के पद पर (सेनापति का स्थान) अजेय होता है । मृष के पद पर व्यालकामी (सपेरा) एवं इन्द्रकाजाली (जादूगर) आदि का स्थान होना चाहिये । निऋृति के पर पर दौवारिक एवं सुकण्ठ के पद पर भैसों का स्थान होना चाहिये । पुष्पदन्त आदि के पद पर दानगृह, ईक्षणगृह (मिलने-जुलने का स्थान) तथा स्नानगृह होना चाहिये ॥४७-५०॥

नाग एवं रुद्र के भाग पर लम्बी दीर्घिका (तालाब) होनी चाहिये । कन्याओं एवं (उनकी) धात्रियों का स्थान मुख्य के पद पर होना चाहिये । सामान्यतया विद्वानों के मतानुसार कञ्जुकियों से मद्गु (एक विशेष प्रकार के राजसेवक, सङ्कर जाति के लोग) का स्थान अन्यत्र (राजभवन से हट कर) होना चाहिये । भल्लाट, सोम एवं मृग के पद पर कृण्व आदि (चित्रकार एवं कलाकार आदि) का निवास होना चाहिये । अदिति के पद पर कुब्जिनी (कुबड़ी), वामनी कन्या (बौनी) एवं षण्डकी (हिजड़ी) आदि का स्थान होना चाहिये । उदिति, ईश एवं पर्जन्य के पद पर धात्री स्त्रियों का स्थान होना चाहिये ॥५१-५३॥

आप एवं आपवत्स के पद पर बावडी, कूप, दीर्घिका (तालाब), पीने योग्य जल का स्थान एवं पुष्पों का बाग होना चाहिये । जयन्त के पद पर दक्षिणा-गृह एवं सुरेन्द्र के पद पर दानशाला होनी

चाहिये । पूर्व से दक्षिण की ओर निर्मित इन सभी भवनों का मुख मुख्य भवन की ओर होना चाहिये ॥७४-७५॥

तृतीयावरणम्

तृतीय आवरण या प्राकार - इन्द्र के पद पर शास्त्र, रवि के पद पर संगीत, सत्य एवं भृश के पद पर अध्ययन्, आकाश के पद पर प्रधान रसोईगृह, पूषा एवं पावक के पद पर गायों एवं उनके बछड़ो को रखना चाहिये । वितथ के पद पर नमक, वल्लूर (सूखा मांस), स्नायु (नस, नाड़ी) तथा चर्म रखना चाहिये । राक्षस के पद पर गजशाला एवं धर्म के पद पर चित्र एवं शिल्प का स्थान होना चाहिये एवं इसकी योजना दण्डक, शूर्प या लांगल (हल) के समान करनी चाहिये ॥७६-७७॥

गन्धर्व एवं भृंगराज के पद पर रसपदार्थों का स्थान बनाना चाहिये । मृष के पद पर दाह (इन्धन), पितृ एवं दौवारिक के पद पर दान-सामग्री, सुग्रीव के पद पर मल्लों का निवास तथा पुष्पदन्त के पद पर चार कोष्ठ (शालायें) होने चाहिये । ॥७८-७९॥

वारुण के पद पर युवराज की शाला या मालिका होनी चाहिये । वही पर अश्वशाला एवं पुरोहित का आवास होना चाहिये । असुर के पद पर चन्द्रशाला एवं शोष के पद पर हिरणों का स्थान होना चाहिये । रोग के पद पर गधे एवं ऊँट का स्थानन होना चाहिये एवं औषध-स्थान भी वही निर्मित करना चाहिये । वायु के पद पर वापी एवं गोत्रनाग के पद पर पुष्करिणी (कमल का तालाब) होना चाहिये । मुख्य एवं भल्लाट के पद पर गजशाला एवं अश्वशाला होनी चाहिये ॥८०-८२॥

सोम के पद पर प्रसूतिगृह एवं उपनीतिका (विचार-विमर्श का स्थान) होनी चाहिये । मृग, अदिति, उदिति, ईशान एवं जयन्त के पद पर दीर्घिका (तालाब) आदि होना चाहिये । वही पर विहार एवं आराम (उपवन) तथा आँगन से युक्त सभा-स्थल होना चाहिये ॥८३-८४॥

नगर

नगर - (राज) भवन के सामने एवं बगल में राजा की सेनापंक्ति होनी चाहिये । उसके बाहर व्यापारियों के आवास की पंक्ति आवश्यकतानुसार होनी चाहिये । राजभवन की पश्चिम दिशा में लम्बी दीर्घिका, वापी एवं कूप आदि क्रमशः ओने चाहिये । वही पर अन्तःपुर तथा मूलभृत्यों (वंशो से रहने वाले सेवकों) के आवास की पंक्ति होनी चाहिये ॥८५-८६॥

(नगर में) दीर्घिका, आराम (उपवन), वापी एवं कूप सभी स्थानों पर होना चाहिये । विभिन्न जाति के लोग एवं विभिन्न प्रकार की स्त्रियाँ वहाँ निवास करती है । विभिन्न प्रकार केशिल्पी वहाँ निवास करते है तथा (नगर) छः प्रकार की सेनाओं से युक्त होता है । पूर्वोत्तर कोण एवं दक्षिण-पूर्व कोन में गजशाला एवं अश्वशाला होती है । नगर विभिन्न वर्ण के लोगों से युक्त, विभिन्न व्यापारीवर्ग से युक्त होता है । सभी वर्ग के लोग राजा की इच्छा के अनुसार अपने-अपने अभिधान वाले होने चाहिये । ॥८७-८९॥

नगरभित्ति

नगर का प्राकार - नगर को चारो ओर से घेरने वाला प्राकार दो दण्ड चौड़ा होना चाहिये । इसकी चौड़ाई क्रमशः पाँच, छः या सात हाथ माप की भी कही गई है । इसकी ऊँचाई चौड़ाई से दुगुनी या तीन गुनी होनी चाहिये एवं इसके बाहर मिट्टी की भित्ति होनी चाहिये या इसके बाहर एक धनुप्रमाण (एक दन्ड) से परिखा एवं वप्र (मिट्टी की भित्ति) होनी चाहिये । उसके बाहर सभी स्थान पर शिल्पिका (रचना विशेष) होनी चाहिये ॥९०-९१॥

राजवेश्मगोपुराण

राजभवन के गोपुर द्वार - सभी राजभवनों में छोटा या बड़ा गोपुर होना चाहिये । बाहरी (प्राकार का) गोपुर स्वामी (राजा) के आवास बराबर होना चाहिये । यदि स्वामी का आवास छोटा हो तो गोपुर आवास से छोटा एवं एक तल का होना चाहिये । यदि प्रधान भवन नौ या ग्यारह तल का हो तो द्वार-गोपुर सात तल का होना चाहिये । भीतरी (भित्ति पर निर्मित) गोपुर बाहरी भित्तियों के गोपुर से क्रमशः एक-एक तल कम होता जाना चाहिये ॥७२-७४॥

नरेन्द्र राजाओं (राजाओं का स्तरविशेष) का सबसे बड़ा गोपुर द्वार महेन्द्र के पद पर या राक्षस के पद पर पाँच या तीन तल का होना चाहिये । पुष्पदन्त और भल्लाट के पद पर कम तलों का गोपुर द्वार होना चाहिये । सुग्रीव, मुख्य, जयन्त एवं वितथ के पद पर पक्षद्वार (पार्श्वद्वार) एक या दो तल से युक्त निर्मित करना चाहिये । ॥७५-७७॥

विशेष रूप से नरेन्द्रों का भवन इन्द्र के पद पर होना चाहिये । ब्रह्मा के भाग से संलग्न राजभवन सभी प्रकार की सम्पत्तियों एवं सुखों का प्रदाता होता है॥७८॥

वेश्मतललम्बविधान

राजभवन के तल का विधान - सम्पूर्ण पृथिवी के स्वामी राजा का भवन ग्यारह तल का होता है । ब्राह्मणों का भवन नौ तल का, राजाओं (क्षत्रियों) का भवन सात तल का, मण्डल के स्वामियों का भवन छः तल क युवराज का भवन पाँच तल का, वैश्यों का चार तल का तथा योद्धाओं एवं सेनाओं के स्वामी का भवन भी चार तल का होता है । शूद्रों का भवन एक से लेकर तीन तलपर्यन्त होना चाहिये । सामन्त आदि प्रमुखों का भवन पाँच भूमियों का होना चाहिये ॥७९-८१॥

सभी राजभवन सम या विषम संख्या वाले तल से युक्त होते है । राजा की स्त्रियों तथा देवियों (अन्य पत्नियो) के भवन के तल सम या विषम संख्या में होते है । दण्डियुक्त, लूपायुक्त, दो नेत्र (खिड़की) एवं प्रस्तर से युक्त मृत्तिका-निर्मित, तृणों (घास-फूस) से आच्छादित, एक तल या दो तल से युक्त, स्तूपिका एवं कर्णलुपा से रहित भवन सभी वर्ण वालों के लिये प्रशस्त होता है ॥८२-८३॥

मिश्रित जाति के लोगों, सभी प्रकार के ऐश्वर्य का भोग करने वालों, रुचक आदि भवनों में निवास करने वालों के भवन में (तल आदि का) आवश्यकतानुसार निर्माण करना चाहिये । यहाँ जिन अंगों की चर्चा नही की गई है, उनका प्रयोग बुद्धिमान व्यक्ति को आवश्यकतानुसार करना चाहिये । इस प्रकार पण्डितों ने राजाओं की राजधानी के सामान्य नियमों का वर्णन किया है ॥८४-८५॥

नरेन्द्रवेश्म

नरेन्द्र का राजभवन - अब मै (मय) विशेष रूप से नरेन्द्र के सनातन आवास के विषय में कहता हूँ ॥८६॥

प्राकार

प्राकार, बाहरी भित्ति - प्राकार की चौड़ाई एक दण्ड (एवं उससे लगी हुई) परिखा दो या तीन दण्ड की होनी चाहिये । वृत्त-मार्ग चार दण्ड एवं बीस दण्ड तक गृहों की पंक्तियाँ होनी चाहिये । वेश्याओं की क्रीड़ा से आवृत मार्ग तीन या चार दण्ड मान का होना चाहिये । वृत्त-मार्ग चार दण्ड एवं बीस दण्ड तक गृहों की पंक्तियाँ होनी चाहिये । (इसके पश्चात्) तीन दण्ड का वप्र मार्ग (मिट्टि से निर्मित मार्ग) तथा पाँच हाथ प्रमाण का प्राकार (दूसरा प्राकार) होना चाहिये ॥८७-८८॥

उसकी (द्वितीय प्राकार की) परिखा चार दण्ड चौड़ी होनी चाहिये । परिखा के चारो ओर आठ यष्टि विस्तृत मार्ग होना चाहिये । उसके पश्चात् अड़तालीस दण्ड विस्तृत क्षेत्र में सभी प्रकार के भवन होने चाहिये । उसके बाहर चारो ओर छः या सात धनु प्रमाण विस्तृत मार्ग होने चाहिये । पुनः चार दण्ड प्रमण का वप्र एवं सात हाथ का प्राकार (तीसरा प्राकार) होना चाहिये । (इसके पश्चात्) एक दण्ड प्रमाण का नागों से युक्त बन्धन (बाँध, खाई) होना चाहिये ॥८९-९१॥
परिखा की चौड़ाई आठ दण्ड से लेकर बारह दण्डपर्यन्त होनी चाहिये । प्राकार की चौड़ाई के बराबर भितरी एवं बाहरी मार्ग होना चाहिये । उसे बाहर दस दण्ड तक सभी प्रकार के लोगों का आवास होना चाहिये । अथवा वहाँ प्राकार (चौथा प्राकार) या आवास के साथ परिखाये होनी चाहिये । वास्तुविदों के द्वारा इस प्रकार वप्र एवं प्राकार की प्रशंसा की गई है । पाँचवाँ आवरण (प्राकार) आठ हाथ चौड़ा होना चाहिये । भीतरी भागों की योजना आवश्यकतानुसार करनी चाहिये ॥९२-९४॥
वेश्मविन्यास
राजभवन का विन्यास - राजभवन के चुने हुये विस्तार एवं लम्बाई के छः एवं नौ भाग करने चाहिये । एक भाग सामने के लिये, एक भाग पीछे के लिये एवं एक-एक भाग दोनों पार्श्वो के लिये रखना चाहिये । शेष भाग में पैंतीस भाग ब्रह्मा का स्थान होता है । उस स्थान पर सौ स्तम्भों वाला मण्डप एवं उसके भीतर वेदिकापीठ होना चाहिये या उसके भीतर देवालय हो एवं उसके चारो ओर प्रपा निर्मित हो । एक भाग से मार्ग एवं उसी प्रमाण से खलुरिका (अतिरिक्त भाग) निर्मित करना चाहिये । यह चार द्वारों से युक्त, सौष्ठिक (लम्बा कक्ष) एवं कोष्ठ से युक्त होने पर प्रशस्त होती है ॥९५-९७॥
राजभवन का केन्द्रभाग के नियमों का वर्णन किया गया । वहाँ नौ पदों पर प्रमुख देवता का स्थान भी हो सकता है । राजभवन को अभीप्सित भाग में, देवालय के दक्षिण भाग में तथा ज्येष्ठ रानियों के आवास के उत्तर भाग में होना चाहिये । आर्य के पद पर द्वार होना चाहिये एवं जिसके पश्चिम में हर्म्य, शाला या सभी रंग-विरंगे अलंकरणों से युक्त अभिषेक-सभा होनी चाहिये । चारो कोनों पर दृढ़ स्तम्भों से युक्त खलूरिकायुक्त सभा होनी चाहिये ॥९८-१००॥
पूर्वोत्तर दिशा में जल, स्नान एवं देवों का गृह होना चाहिये । सामने होम का स्थान होना चाहिये । पूर्व-दक्षिण दिशा में सेना के अवलोकन का हर्म्य (कक्ष) या कूट होना चाहिये । पश्चिम-दक्षिण कोण में नृत्य, वाद्य एवं अन्य मनोरञ्जन के स्थान तथा उत्तर-पश्चिम कोण मे गायक गादि का एवं अन्य (नाट्यादिकर्मी) स्त्रियों का स्थान होना चाहिये ॥१०१-१०२॥
पूर्व दिशा में दुर्ग का आँगन एवं मेरु गोपुर, पूर्वोत्तर दिशा मे जल, जलक्रीडा का आँगन एवं सभा होनी चाहिये । वहाँ भोजन एवं पा का गृह सभी उचित लक्षणों से युक्त निर्मित करना चाहिये । पूर्व-दक्षिण कोण में मध्य-आँगन से युक्त सभा होनी चाहिये । वहाँ रत्न, सुवर्ण एवं वस्त्र आदि का गृह प्रशस्त होता है । उसके पश्चात् दक्षिण को में मध्य-आँगन से युक्त सभा होनी चाहिये । इसके बाहर चारो ओर स्त्रियों के अपने भवन होने चाहिये । वहाँ आराम (बगीचा) से युक्त क्रीड़ागृह एवं जल का स्थान होना चाहिये । पूर्वोत्तर कोण में सभी स्त्रियों का सभावास (सभी के रूप में आवास या कक्ष) होना चाहिये ॥१०३-१०६॥

यहाँ राजभवन के जिन भीतरी अंगो एवं बाहरी अंगो का वर्णन नही किया गया है, उनके विषय में पूर्ववर्णित नियम जानना चाहिये । इस प्रकार मुनियों ने राजाओं के पद्मक आवास का वर्णन किया है ॥१०७॥

सौबलवेश्म

प्रथमावरण

सौबल राजगृह (पथम आवरण, प्राकार) - राजभवन की लम्बाई एवं चौड़ाई सुनिश्चित कर स्थानीय संज्ञक वास्तुमण्डल (एक सौ बीस पद वास्तु) निर्मित करना चाहिये । मध्य पद में सकल वास्तुमण्डल के अनुसार ब्रह्मा की पीठ बनानी चाहिये । यह वेदिका पर मण्डप में होनी चाहिये । रानी का भवन दक्षिण एवं उत्तर में होना चाहिये । पश्चिम दिशा में राजा का भवन अनेक तलों से युक्त होना चाहिये । पूर्व दिशा में आँगन होना चाहिये एवं मध्य भाग में द्वारशोभा संज्ञक द्वार आदि से सुसज्जित होना चाहिये । द्वार के पश्चिम में पुर्वी भाग में अभिषेक गृह होना चाहिये । इसकी योजना पीठ वास्तु पद पर होनी चाहिये । इस पर साल (प्रथम आवरण) पूर्व-वर्णन के अनुसार करना चाहिये ॥१०८-११०॥

द्वितीयावरण

उसके पश्चात् (प्रथम आवरण के पश्चात्) पूर्व से प्रारम्भ कर क्रमशः जयन्त, भानु एवं भृश के पद पर आँगन होना चाहिये । उनके मध्य में तीन तल से युक्त द्वारहर्म्य द्वार होना चाहिये । अग्नि के पद पर रसोई एवं वितथ के पद पर मूल कोश (परिवारिक कोष) होना चाहिये । उसी पद-भाग पर द्वारप्रासाद द्वार का निर्माण होना चाहिये । ॥१११-११३॥

यम, भृंगराज एवं पितृभाग पर स्त्रियों का भवन होना चाहिये । सुगल के पद पर नृत्तशाला (रंगमञ्च, नाट्यगृह) एवं वारुण के पद पर राजभवन होना चाहिये । शोष के पद पर अन्तःपुर एवं वायु के पद पर जल-क्रीड़ा के निमित्त वापी होनी चाहिये । मुख्य के पद पर राजमहिषी का आवास, शाला या मालिका होनी चाहिये । ॥११४-११५॥

तुलाभार का निर्माण सोम के पद पर और उसके पश्चात् हेमगर्भ का कृत्य होना चाहिये । दिति के भाग पर सुवर्ण एवं रत्न तथा सुगन्धि का कक्ष होना चाहिये । वही गजशाला होनी चाहिये । ईश के पद पर वापी एवं कूप होना चाहिये । वही वर्चोगृह (शौचगृह) एवं जलयन्त्र स्थापित करना चाहिये । वही पर साल (द्वितीय आवरण) एवं मार्ग का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये ॥११६-११७॥

तृतीय आवरण - उसके (द्वितीय आवरण) के बाहर स्थण्डिल वास्तुमण्डल (उनचास पद का वास्तुमन्डल) निर्मित करना चाहिये । बुद्धिमानों के मतानुसार पर्जन्य, महेन्द्र, भानु, सत्य एवं अन्तरिक्ष के पद पर आँगन निर्मित करना चाहिये । महेन्द्र के पद पर चार या पाँच तल से युक्त द्वार निर्मित करना चाहिये । वही शंख, भेरी आदि वाद्यों के विभिन्न प्रकार के शब्द होते है । यहाँ जिन बातों का वर्णन नही किया गया है, उन्सभी का चारो ओर निर्माण पूर्ववर्णन के अनुसार करना चाहिये । इस (तृतीय आवरण) के बाहर परमशायी वास्तुमण्डल (इक्यासी पद) निर्मित करना चाहिये । इसके पूर्व भाग में आँगन होना चाहिये ॥११८-१२०॥

चतुर्थावरण

चौथा आवरण - इसका (पूर्ववर्णित आँगन का) अधिकांश भाग जयन्त से अन्तर्क्षपर्यन्त होना चाहिये। जिनकी यहाँ चर्चा नही की गई है, वे सभी श्येन (अग्नि) के पद से प्रारम्भ करते हुये निर्मित होने चाहिये ॥१२१॥

पञ्चमावरण

पाँचवा आवरण - उसके (चौथे आवरण के) बाहर स्थानीय वास्तुमण्दल (एक सौ इक्कीस पद) के पूर्व दिशा में आँगन होना चाहिये। इस आँगन की चौड़ाई उसकी लम्बाई के सात भाग में दो बाग से रखनी चाहिये। यह गोपुर द्वार से एवं दुर्ग के मन्दिर से युक्त होना चाहिये। इसके पूर्व-दक्षिण भाग में बड़ी रसोईगृह होनी चाहिये। वही राजभवन के राजकीय कार्यो का लेखन करने वाले (प्रशासन) कर्मियों का स्थान होना चाहिये ॥१२२-१२४॥

दक्षिण भाग में आठ पदों पर एक बड़ा आवृत आँगन होना चाहिये, जहाँ अश्वक्रिडा या गज-क्रीडा होनी चाहिये। वही ऊँचा कूट एवं निऋति के पद पर राजभवन होना चाहिये। उसके बाहरी भाग में खलूरिका तथा उसके बाहर वरुण पद पर स्त्रियों का आवास होना चाहिये। नृप-भवन के वाम भाग में स्त्रियों का सङ्करालय (मिलने-जुलने का कक्ष), जलक्रीडास्थान, सभा, मालिका या आवासभवन होना चाहिये। ॥१२५-१२७॥

वायु के पद पर वापी, विहार (उद्यान आदि) एवं आश्रम आदि का स्थान होना चाहिये। सोम के पद पर तुलाभार एवं उसके बाद सुवर्णगर्भ का कृत्य करना चाहिये। ईश के पद पर शिवालय उचित रीति से निर्मित करना चाहिये। उसके (पाँचवी भित्ति के) बाहर नगर या शिविर का निर्माण पूर्ववर्णित विधि से करना चाहिये। इस राजभवन का सौबल कहा गया है ॥१२८-१२९॥

अधिराजमन्दिर

अधिराज राजभवन - अब मै विशेष रूप से संक्षेप में अधिराज राजाओं के भवन का वर्णन करता हूँ। विस्तार एवं लम्बाई का निश्चय करने के पश्चात् वहाँ उभयचन्दित वास्तुमन्डल (उनहत्तर पद) निर्मित करना चाहिये। उसके मध्य पद मे ब्रहमा का आसन या अभिषेक के योग्य सभागर एवं मण्डप निर्मित करना चाहिये ॥१३०॥

उसके पश्चिम भाग में पाँच, सात या नौ तल का राजभवन होना चाहिये। उसके पृष्ठ भाग एवं दोनो पार्श्वों में एक भाग से आँगन से युक्त खलूरिका होनी चाहिये। राजा की इच्छानुसार भीतरी भाग में भोजन-कक्ष का निर्माण करना चाहिये ॥१३१-१३२॥

पूर्वोत्तर कोण में स्नानगृह एवं देवालय होना चाहिये। सामने नौ भाग से अत्यन्त लम्बा-चौड़ा विशाल आँगन होना चाहिये, जिसके पूर्व भाग में मध्यभाग से युक्त खलूरिका निर्मित होनी चाहिये। दो या तीन तलयुक्त द्वार हो, जिस पर भेरी होनी चाहिये। भवन का मुख-मण्डप यहाँ निर्मित करना चाहिये तथा पार्श्व-भाग में पोत का पार्श्वभाग निर्मित करना चाहिये........................ द्वार के समीप राजा का प्रयोगस्थल (अभ्यासस्थल) होना चाहिये। आँगन के दो यातीन पार्श्व भागों में गोलक आदि (खेलों) का स्थान होना चाहिये। जिस भवन में मूल कोश (प्रधान खजाना) रक्खा जाय, वह पूर्वोत्तर कोण में होना चाहिये ॥१३३-१३६॥

उसके पश्चिम भाग में वस्त्र आदि का स्थान एवं कक्ष होना चाहिये। द्वार के उत्तर भाग में पीने योग्य पानी एवं उष्ण जल का कक्ष निर्मित करना चाहिये। वहीं पर पाक-गृह एवं सभी वस्तुओं को रखने का स्थान (संग्रह कक्ष) निर्मित करना चाहिये। द्वार के दक्षिण भाग में अधिवासक गृह

(कपड़ा बदलने का स्थान) निर्मित करना चाहिये। उसके दक्षिण भाग में सुगन्ध आदि (श्रृंगारपरक सामग्री) का कक्ष होना चाहिये। पूर्व-दक्षिण में निर्मित कक्ष में मूल कोश रखने का गृह निर्मित होना चाहिये। राक्षस के पद पर एवं उसके पश्चिम भाग में गजशाला होनी चाहिये। उसके पश्चात् दक्षिण-पश्चिम कोण में शिव का स्थान एवं रत्न और सुवर्ण रखने का कक्ष होना चाहिये। ॥१३७-१४०॥

पूर्वोत्तर कोण में दान एवं अध्ययन हेतु शाला होनी चाहिये। प्रायः प्रयोगशाला एवं छोटा द्वार होना चाहिये। (यहाँ मूल-पाठ खण्डित है।) द्वार के दोनों पार्श्वों में सार-द्रव्यों का स्थान एवं कूट-गृह होना चाहिये। वही पर गजशाला,सभी प्रकार के ओषधियों का कक्ष एवं शस्त्रागार होना चाहिये। अन्य सभी व्यवस्थायें राजा की इच्छा के अनुसार करनी चाहिये ॥१४१-१४२॥

राजा का भवन मुखाङ्गण (सम्मुख आँगन) एवं मुखमण्डल से युक्त होना चाहिये। राजा की इच्छानुसार भोग-गृह एवं रक्षा-व्यवस्था करनी चाहिये। (यहाँ मूल पाठ खण्डित है)। ॥१४३॥

उसके दक्षिण पार्श्व भाग में बारह पद का लम्बा आँगन होना चाहिये। वही पश्चिम भाग में मण्डप, शाला या मालिका होनी चाहिये। उसके दोनों पार्श्वो मे स्नान-गृह एवं मण्डप होना चाहिये। आँगन के दक्षिण भाग में सभी प्रकार की वस्तुओं का संग्रहकक्ष होना चाहिये। पूर्व भाग में परिघा, मिण्ठक एवं कूटशाला से सुसज्जित वेशन (प्रवेश द्वार) होना चाहिये। राजभवन के एवं आँगन के पूर्व भाग, दोनों पार्श्वो एवं पश्चिम भाग मे स्त्रियों का आँगन से युक्त आवास या मालिकागृहों की पंक्ति होनी चाहिये। भवन के उत्तर पार्श्व में राजभवन के समान ऊँचा राजमहिषी का भवन होना चाहिये। उसके एक भाग माप से पार्श्व भाग में रानियों की मालिका-पंक्ति (भवनों की पंक्ति) होनी चाहिये। वही कन्याओं का आवास एवं कुब्जक आदि (सेवकों) का आवास होना चाहिये ॥१४४-१४८॥

दक्षिण से उत्तर की ओर क्रमशः एक, दो या तीन भाग से विशाल उद्यान एवं उसके बाहर साल (प्राकार) होना चाहिये। उसके उत्तर भाग में जलक्रीड़ा का स्थान, जल का स्थान एवं राजा की दीर्घिका (जल-वापी) होनी चाहिये। राजभवन के पश्चिम भाग में स्त्रियों की सङ्करशाला (मिलने-जुलने का कक्ष) होना चाहिये। ॥१४९-१५०॥

राजभवन के पूर्वोत्तर भाग में बाहर नव पदों में इष्टदेवों का गृह होना चाहिये। वहीं पर आग्रायण (पूजाकृत्य) की शाला, पुष्पवाटिका एवं कूप होना चाहिये। पूर्व दिशा में तीस पदों से एक विस्तृत आँगन निर्मित होना चाहिये। महेन्द्र के पद पर तीन या चार तल से युक्त गोपुरद्वार निर्मित होना चाहिये। द्वार के दक्षिण ओर पार्वती, सरस्वती एवं लक्ष्मी का मन्दिर होना चाहिये। इनका मुख भीतर की ओर होना चाहिये एवं ये दो, तीन या चार तल से मुक्त होने चाहिये। इसके पूर्व भाग में शंख, भेरी आदि वादों का कक्ष होना चाहिये ॥१५१-१५४॥

उसके दक्षिण भाग मे सभी प्रकार के रक्षकों से युक्त बड़ी रसोई होनी चाहिये। आँगन के दक्षिण भाग में दो या तीन तल से युक्त द्वार होना चाहिये। द्वार के दोनो पार्श्वो मे लेखक (हिसाब लिखने वाले) की खलूरी होनी चाहिये। आँगन के उत्तर भाग में एक विशाल सभागृह होना चाहिये, जिसका मुख दक्षिण की ओर हो, साथ ही सुसज्जित, सुन्दर एवं उँचा हो, जिसके पश्चिम भाग में पूर्व की ओर गीत आदि की सभा होनी चाहिये। अन्य सभी राजा की इच्छा के अनुसार करना चाहिये। ॥१५५-१५७॥

राजभवन के बाहर प्रस्तर एवं ईट से प्राकार निर्मित करना चाहिये, जिसके मूल की चौड़ाई एवं ऊँचई पूर्ववर्णित नियम के अनुसार होनी चाहिये । उसके बाहर परिखा होनी चाहिये । उत्तम राजभवन ईट आदि से निर्मित होना चाहिये; इसे 'जयङ्ग' कहते है ॥१५८॥

परिखा को प्रवाहित होने वाले जल से भरना चाहिये । इसे कर्दम, मत्स्य, जोक, जलसर्प, पद्म, काँटेदार मछलियाँ, कच्छप, केकड़ा एवं शंखो से युक्त करना चाहिये । ॥१५९॥

भित्ति पर निवास करने योग्य कूट से युक्त आलम्बन निर्मित होने चाहिये । यह जाल, लता एवं पत्रों से परिपूर्ण होता है । इसका भीतरी भाग झुका एवं उठा होता है । भित्ति छिद्र से युक्त होती है एवं अनेक यन्त्रों से युक्त होती है । इस प्रकार राजभवन बाहर, भीतर एवं मध्य भाग में दुर्गयुक्त होना चाहिये । राजा के सभी जन (प्रजा) रक्षणीय होते है, इसलिये बाहर (दुर्ग के बाहर) छः प्रकार के बल (सैनिक) होने चाहिये ॥१६०-१६१॥

नगरभेद

नगर के भेद - विद्वानों के मतानुसार राजाओं के नगर चार प्रकार के होते है- स्थानीय, आहृत, यात्रामणि एवं विजय ॥१६२॥

जनपद के मध्य में (वर्तमान राजा के) कुल के मूल राजाओं के द्वारा बसाया गया नगर स्थानीय संज्ञक होता है । यह तृण, जल एवं भूमि से युक्त होता है । ॥१६३॥

प्रभु (स्वामी), मन्त्र (सही मन्त्रणा) एवं उत्साहरूपी तीन शक्तियों से युक्त; तृण, भूमि एवं जल से युक्त; नदी से आवृत या अन्य रक्षणों से युक्त नगर को कभी रिक्त नही छोड़ना चाहिये । प्रतिपक्षी राजागण इस नगर (आहृत) को दुर्गम कहते है । भूमि, जल एवं तृण से युक्त तथा युद्ध की यात्रा के लिये निर्मित नगर को संग्राम (यात्रामणि) कहते है । जो नगर विजय के अवसर पर स्थापित किया जाता है, तीन आवश्यक वस्तुओं स युक्त होता है एवं जिसका प्रधान उद्देश्य सीमा की रक्षा है, विज्ञोने उस नगर को विजय कहा है ॥१६४-१६६॥

बड़े राजभवन में धनुष (शस्त्र) से युक्त भवन यदि (शत्रुओं द्वारा) अधिगृहीत कर लिया जाता है तो शेष राजभवन शक्तिहीन हो जाता है ॥१६७॥

हस्तिशाला

गजशाला- तीन हाथ से प्रारम्भ कर आधा-आधा हाथ बढ़ाते हुये पाँच हाथ तक गजशाला के पाँच माप प्राप्त होते है ॥१६८॥

लम्बाइ एवं चौड़ाई के अनुसार गजशाला तीन प्रकार की होती है । ये क्रमशः नौ एवं छः भाग, सत एवं चार भाग तथा तीन एवं पाँच भाग के होते है । छोटे राजभवन में छोटे माप की एवं बड़े राजभवन में बड़े माप की गजशाला निर्मित करनी चाहिये । मुखशाला एक भाग माप से होनी चाहिये तथा मध्य भाग के विस्तार से निर्गत निर्मित होना चाहिये । इसके दक्षिण भाग में एक भाग माप से शयनस्थान निर्मित होना चाहिये ॥१६९-१७०॥

गजशाला के स्तम्भ के लिये अनुकूल काष्ठ राजादन, मधूक, खदिर, खादिर, अर्जुन, तिन्त्रिणी, स्तम्बक, पिशित, शमी, क्षीरिणी एवं पद्मक होते है ॥१७१-१७२॥

(गज) शाला के स्तम्भों की ऊँचाई सात, आठ या नौ हाथ होनी चाहिये । इसमें स्तम्भ का भूमि में गड़ा भाग नही ग्रहण किया जाता है । इसकी चौड़ाई भूमि मे गड़े भाग के अनुसार इस प्रकार

होनी चाहिये, जिसमें स्तम्भ दृढ़तापूर्वक स्थापित हो सके । ये शालास्तम्भ वृक्ष की शाखाओं के समान शिखाओं से युक्त होने चाहिये ॥१७३॥

गजशाला के स्तम्भ वृत्ताकार होने चाहिये । इनकी मोटाई एक हाथ, तीन चौथाई हाथ या आधा हाथ इस तरह तीन प्रकार की कही गई है । इसके ऊर्ध्व भाग की चौड़ाई (नीचे से) आठ भाग कम होनी चाहिये ॥१७४-१७५॥

चौड़ाई के सोलह भाग करने पर पाँच भाग शाला की चौड़ाई में एवं तीन भाग पृष्ठ भाग में ग्रहण करना चाहिये । वाम भाग में आठ भाग छोड़कर पूर्वोक्त नियम के अनुसार स्तम्भ को (भूमि के भितर) गाड़ना चाहिये ॥१७६॥

भित्ति के ऊँचाई स्तम्भ की आधी ऊँचाई तक होनी चाहिये । उसके ऊपर कटक (तृण-सींक आदि से) आच्छादित करना चाहिये, जिसे खोला एवं बन्द किया जा सके । वितस्तिगोस्तन (विशेष प्रकार की खिड़की या झरोखा) एवं बाहर की ओर मुख होना चाहिये । इसका तल (भूमि, फर्श) गज के प्रमाण से फलक-प्रस्तर (काष्ठ-फलक) से निर्मित करना चाहिये । इसका प्रस्तर शिलाओं एवं ईंटो से निर्मित नही करना चाहिये । इसमें (गजशाला) मूत्र निकलने का द्वार (बाहर निकलने के) द्वार की स्थिति के अनुसार निर्मित करना चाहिये । अन्य सभी व्यवस्थायें बुद्धिमान स्थपति को आवश्यकतानुसार करनी चाहिये ॥१७७-१८०॥

अश्वशाला

अश्वशाल, घुड़शाल - अश्वशाला के पाँच प्रकार के प्रमाण- नौ, आठ, सात, छः या पाँच हाथ होना चाहिये तथा इसकी लम्बाई तीन भक्ति (इकाई) से लेकर इक्कीस भक्ति तक होनी चाहिये ॥१८१॥

अश्वशाला चार द्वार, चार कक्ष एवं प्रत्येक कक्ष में प्रग्रीव से युक्त होनी चाहिये । स्तम्भ का व्यास दस या बारह हाथ कहा गया है । भित्ति की ऊँचाई तीन,चार, पाँच या छः हाथ होनी चाहिये । भिन्न एवं अभिन्न (दोनो प्रकार की शालाओं) की भित्ति का जोड़ समुचित रीति से होना चाहिये । प्रत्येक गृह में नेत्रभित्ति एवं पृष्ठ भाग में जालक (झरोखा) होना चाहिये । गृह के अन्तिम भाग में दृढ़ कर्णधारा (रचनाविशेष) होनी चाहिये ॥१८२-१८४॥

विषय संख्या वाले बिछाये गये वंश के ऊपर प्रस्तरफलकों (काष्ठ-खण्ड) से भूमि निर्मित होनी चाहिये । इसमें मूत्र निकलेके लिये छिद्र होना चाहिये एवं इसे ठोस काष्ठ से दृढ़ बनाना चाहिये । प्रत्येक अश्वस्थान मे प्रवेश के लिये एक भक्ति-प्रमाण का प्रवेश मार्ग होना चाहिये । (अश्वशाला की) कील ठोस काष्ठ से निर्मित चौदह अंगुल लम्बी होनी चाहिये । इसकी चौड़ाई दो या तीन अंगुल एवं अग्र भाग में सूई के समान नोंक होनी चाहिये । पश्चाद्बन्ध को अग्रबन्ध में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार जोड़ना चाहिये, जैसे गर्त में दृढ़तापूर्वक बैठाया जाता है ॥१८५-१८७॥

नानालया

विविध भवन - मोर एवं बन्दर आदि के गृह, तोते का पिञ्जरा, एक जोड़ी बैल, गाय एवं बछडो, जल, धान्य एवं धन के कक्ष; वस्त्र, रत्न, अस्त्र-शस्त्र, द्यूतक्रीडा एवं कार्य करने के लिये आवरण-कक्ष; दानशाला, भोजनगृह एवं दक्षिणायुक्त यज्ञशाला होनी चाहिये ॥१८८-१८९॥

दक्षिण दिशा में उचित स्थान पर पिञ्जरे का स्थान होना चाहिये । बगीचे और जलाशय के पास स्थान-मण्डप (बैठने के लिये मण्डप) होना चाहिये । बैलों के लिये कूटागार या गोल कक्ष होना चाहिये ॥१९०॥

मन्त्रशालादिविधि

मन्त्रणा कक्ष आदि की विधि - राजा मन्त्रणा-कक्ष पूर्व-पश्चिम लम्बा, सुन्दर एवं ऊँची भित्तियों से युक्त होना चाहिये । सभा स्तम्भों से आवृत तथा भित्तिहीन होनी चाहिये, जिससे दूर तक देखा जा सके ॥१९१॥

अथवा वहाँ पश्चिम दिशा में कूटागार होना चाहिये, जो राज-सिंहासन युक्त हो एवं इस प्रकार निर्मित हो, जिससे कि उसका मुख पूर्व की ओर हो । उसके पूर्व-दक्षिण भाग मे मन्त्री का आसन होना चाहिये । दूत का पूर्वोत्तर भाग में एवं प्रशास्ता का उत्तर भाग में आसन होना चाहिये । उसके दक्षिण भाग में सेनापति का आसन होना चाहिये । सभी आसनों के मध्य बराबर नालिक का अन्तर होना चाहिये । मन्त्रनालिका सुन्दर एवं एक-एक अंगुल की दूरी पर पाँच गाँठ से युक्त होनी चाहिये । यह छिद्रयुक्त एवं अग्र भाग में (दोनो ओर) कली से युक्त होनी चाहिये ॥१९२-१९४॥

प्रसाधनगृह

भवन की चौड़ाई के पाँच भाग एवं लम्बाई के छः भाग करने चाहिये । मध्य भाग में एक भाग (चौड़ा) एवं दो भाग लम्बा आँगन होना चाहिये । यह वक्ष के बराबर ऊँची भित्ति से ढँका होना चाहिये । उसके मध्य में वृत्ताकार प्रस्तर होना चाहिये तथा पूर्वोत्तर भाग में जलपूर्ण पात्र होना चाहिये । उसके दक्षिण भाग में केश धोने के लिये पर्यंक (आसन) होना चाहिये ॥१९५-१९६॥

मण्डप-मालिका पूर्वोत्तर द्वार से युक्त होती है । प्रसाधन करने वाली स्त्री का आसन मित्र के पद पर तथा वहीं पर महिलाओं का स्थानमण्डप होना चाहिये । इसका विस्तार पाँच हाथ से प्रारम्भ होकर पच्चीस हाथ तक विशम संख्या वाले माप में होना चाहिये । सभा, मण्डप एवं शालाओं की लम्बाई के सामान्य नियम होते है । चौड़ाई पन्द्रह हाथ होने पर लम्बाई इक्कीस हाथ एवं ऊँचाई चूली-पर्यन्त होनी चाहिये; किन्तु वर तेरह हाथ से अधिक नही होनी चाहिये ॥१९७-१९९॥

<u>अभिषेकशाला</u>

अभिषेक के अनुकूल शाला पूर्वाभिमुख निर्मित करनी चाहिये । इसके मध्य भाग में रंगमञ्च से युक्त सभा होनी चाहिये । राजा का मण्डप दक्षिण भाग मे होना चाहिये एवं जिस कक्ष में पट्टाभिषेक हो, उसे उत्तर दिशा में होना चाहिये ॥२००-२०१॥

(मध्य भाग में) पाँच, सात या नौ हाथ चौड़ी एवं लम्बाई में चौड़ाई की दुगुनी वेदिका होनी चाहिये । इसकी ऊँचाई चौड़ाई के तीन, चार या पाँच भाग के बराबर होनी चाहिये । स्तम्भों की ऊँचाई वेदिका के बराबर एवं चौड़ाई वेदिका के अनुसार होनी चाहिये । भीतरी भाग स्तम्भों से युक्त होना चाहिये; किन्तु मध्य भाग में स्तम्भ नही होना चाहिये । स्तम्भों की चौड़ाई बारह, सोलह या अट्ठारह अंगुल होनी चाहिये । एक भक्ति (माप की इकाई) पर्यन्त जाल से यह आवृत होना चाहिये; जिससे कि वहाँ प्रकाश का प्रवेश हो सके ॥२०२-२०४॥

<u>तुलाभारस्थान</u>

तुलाभार का स्थान - तुलाभार कृत्य के अनुरूप कूट या मण्डप होता है । तोरण्के स्तम्भ की लम्बाई तीन हाथ एवं व्यास दस अंगुल होना चाहिये । इसके पृष्ठ भाग में (ऊर्ध्व भाग मे) नौ, आठ या सात अंगुल की शिखा होनी चाहिये । इसे वास्तु के मध्य में इस प्रकार स्थापित करना

चाहिये, जिससे यह दक्षिण-उत्तर की ओर रहे । तोरण के मध्य भाग की ऊँचाई समान होनी चाहिये ॥२०५-२०७॥

एक-दूसरे में प्रविष्ट लट्ठे (क्रास बीम) मध्य भाग में वक्रतुण्ड (मुड़े हुये मुख या सूँड की आकृति) से युक्त होते है । पूर्व से पश्चिम में लगाई गई प्रधान तुला के दोनों सिरे अचल (न हिलने-डूलने वाले) निर्मित करना चाहिये । तुला के मध्य में लगी अरे (तीलियाँ, श्रृंखलाये) महाराज के (पदादि) अनुसार होनी चाहिये । मध्य भाग में दृढ़ काष्ठ से निर्मित कुण्डल जड़ देना चाहिये । इस कुण्डल को वक्रतुण्ड से दृढ़तापूर्वक जोड़ना चाहिये । फलकासन (काष्ठ का आसन) का निर्माण पुं-काष्ठ या नपुंसक-काष्ठ को छोड़कर करना चाहिये । इसे समान्रूप से लम्बी एवं दृढ श्रृंखलाओं द्वार सावधानी से जोड़ना चाहिये । इसे दो-दो वक्रतुण्डों से दो-दो बार प्रयत्नपूर्वक जोड़ना चाहिये ॥२०८-२११॥

वास्तु की चारो दिशाओं मे तथा पूर्वमुख तोरण होना चाहिये । स्तम्भ, विष्ट (क्रास बीम) एवं तुला प्रशस्त एवं दृढ काष्ठों से निर्मित करना चाहिये । चारो ओर बाहर प्रपा (मण्डप) का निर्माण होना चाहिये, जो वास्तु के मध्य तक पहुँचता हो । उसी के बराबर उसके बाहर चारो ओर (दूसरी प्रपा) निर्मित करनी चाहिये । तोरण काष्ठ (क्रमशः) उदुम्बर (गूलर), वट (बड़), अश्वत्थ (पीपल) तथा न्यग्रोध (बरगद) के काष्ठ से निर्मित होना चाहिये । इसी क्रम से पीला, लाल, श्वेत एवं नीला ध्वज लगाना चाहिये ॥२१२-२१४॥

जब राजा तुला के बराबर (तुला के दोनो पलडे बराबर) हो जाय एवं राजा का मुख इन्द्र की दिशा (पूर्व) की ओर हो जाय, तो राजा को सभी सुख प्राप्त होते है । अपने सञ्चित सुवर्ण राशि को देखकर राजा पृथ्वी पर कुबेर के समान हो जाता है ॥२१५॥

<u>हिरण्यगर्भस्थान</u>

हिरण्यगर्भ का स्थान - सुवर्ण-गर्भ से युक्त भवन के भित्ति की लम्बाई सात या नौ हाथ, व्यास चौकोर एवं व्यास के बराबर भूतल से उसकी ऊँचाई होती है । स्तम्भ का व्यास दस या बारह अंगुल का कहा गया है । यह वृत्ताकार या चौकोर होता है एवं इसे भूमि के भीतर यथाशक्ति दृढ़तापूर्वक गाड़ना चाहिये । आवृतभित्ति (भवन के पास की भित्ति) की ऊँचाई तीन हाथ एवं इसकी वेदिका एक दण्ड ऊँची होनी चाहिये । (भवन का) भीतरी भाग सोलह विष्टों (क्रास बीम) की दो पंक्तियों से सुसज्जित होना चाहिये, जो स्तम्भों के अग्र भाग पर टिके है ॥२१६-२१८॥

उनकी ऊँचाई समान होनी चाहिये; ऊपर से ढँकी होनी चाहिये एवं लुपा के द्वारा इन्हे सहारा प्राप्त होना चाहिये । सभा के मध्य भाग में वेदिका निर्मित होनी चाहिये, जो सात हाथ चौड़ी एवं दो हाथ ऊँची या पाँच हाथ चौड़ी एवं दो हाथ ऊँची हो । उसके मध्य में गर्त होना चाहिये ॥२१९-२२०॥

बाहर जाल से युक्त भित्ति होनी चाहिये, जिसके बाहर प्रकाश हो । सभा की ऊँचाई नीव्र (छत का किनारा) के बराबर एवं चौडाई एक दण्ड प्रमाण की होनी चाहिये । उसके बाहर तेईस हाथ की परिखा होनी चाहिये । चारो दिशाओं में चार द्वार एवं दूध वाले वृक्षों के काष्ठ से निर्मित तोरण होना चाहिये । प्रत्येक तोरण का व्यास एवं ऊँचाई द्वार के बराबर होनी चाहिये ॥२२१-२२३॥

आठ मांगलिक पदार्थ काँसे के पात्र पर या अन्य धातु पर (अंकित कर) स्तम्भों के ऊपर तोरण पर लगाना चाहिये । चक्रवर्ती की शिखा (पहचान, चिह्न) को प्रत्येक द्वार पर लगाना चाहिये ।

सभी के लिये आठ मंगल- छत्र, ध्वज, पताका, भेरी, श्री, कुम्भ, दीपक एवं नन्द्यावर्त (स्वस्तिक) है ॥२२४-२२५॥

राजभवन के रक्षक का आवास द्वार की ऊँचाई का दुगुना होना चाहिये । राजभवन के बाहर की रक्षा बाहर चलने वाले लोगों (रक्षकों) के द्वारा की जानी चाहिये । राजा की इच्छानुसार रानी एवं राजकुमारी का आवास मालिका-भवन के अन्त में भूमि के नीचे या जहाँ मन को अच्छा लगे, वहाँ बनवाना चाहिये ॥२२६-२२७॥

राजा की इच्छानुसार राजभवन, कोष एवं अन्य भाग, रक्षा, प्रकार, गजशाला, अश्वशाला, रानियों का आवास आदि निर्मित करना चाहिये । नगर की संरचना परिस्थिति के अनुसार करनी चाहिये ॥२२८॥

मयमतम् - अध्याय ३०

द्वार का विधान -

मुनियों के वास्तु-परक वाक्य को सुखपूर्वक बुद्धि मे धारण कर (मै मय) ब्राह्मण, राजा (क्षत्रिय), व्यापारी (वैश्य) एवं शूद्रजनों के भवनों के मुख-द्वार की स्थिति, चौड़ाई एवं ऊँचाई तथा पृथक्-पृथक् उनके भेद एवं सज्जा के साथ नामों का उल्लेख करूँगा ॥१॥

द्वार के प्रमाण -

द्वार की चौड़ाई (कम से कम) तीन बित्ता एवं लम्बाई (ऊँचाई) सात बित्ता होनी चाहिये । (पूर्वोक्त) चौड़ाई एवं लम्बाई मे क्रमशः छः एवं बारह अंगुल बढ़ाते हुये पन्द्रह बित्ता चौड़ाई एवं इक्कीस बित्ता (ऊँचाई) ले जानी चाहिये । इस प्रकार द्वार के विस्तार एवं ऊँचाई के पच्चीस प्रकार के प्रमाण बनते है ॥२-३॥

इनमें प्रथम मान शयन-गृह के लिये उपयुक्त है । (आगे के) बारह प्रमाण गृह के होते है । विद्वानों के मतानुसार गृह के बाहर चारो ओर खलूरी के द्वारमान भी यही है । (तत्पश्चात) बारह प्रमाण नगर, ग्राम, दुर्ग एवं राजभवन के होते है । द्वार की ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी एवं छः अंगुल या नौ अंगुल अधिक होनी चाहिये । यह माप सभी के लिये कहा गया है ॥४-५॥

छोटे द्वारो की चौड़ाई के तीन मान प्राप्त होते है- दो बित्ता छः अंगुल, दो बित्ता तीन अंगुल तथा दो बित्ता । उनकी ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होनी चाहिये । इस प्रमाण में छः अंगुल या दो अंगुल अधिक लेना चाहिये । इस द्वारो से ब्राह्मण आदि (अन्य वर्णो) का प्रवेश प्रशस्त होता है ॥६-७॥

द्वार की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई के आथ भाग में साढ़े छः भाग के बराबर एवं विस्तार स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भाग में साढ़े आठ भाग के बराबर होनी चाहिये । छोटे एवं मध्यम द्वार प्रत्येक भूमि पर होते है । जिस द्वार की ऊँचाई चौड़ाई की दुगुनी होती है, वह मनुष्यो के आवास के लिये शुभ नही होता है ॥८-९॥

देवालयों में द्वार की उचाई स्तम्भ के आठ भाग में सात, नौ मे आठ तथा दस में नौ भाग के बराबर एवं चौड़ाई उचाई की आधी होनी चाहिये । प्रत्येक तल में उस तल के स्तम्भ के अनुसार द्वार का मा रखना चाहिये ॥१०॥

योगमान

द्वार का योगमान - द्वार के योग के विस्तार का मान स्तम्भ के बराबर, उससे एक चौथाई भाग या उससे आधा भाग अधिक होना चाहिये । उसकी मोटाई चौड़ाई की आधी होनी चाहिये । चौखट का जो भाग उत्तर (लिन्टल) के नीचे एवं वाजन (ऊपरी भाग) तक जाता है, उसकी चौड़ाई त्रिपाद (पौने तीन भाग) होनी चाहिये । ॥११-१२॥

कवाट

कपाट, द्वार का पल्ला - कवाट की चौड़ाई स्तम्भ की चौड़ाई के तीसरे, चौथे या पाँचवे भाग के बराबर होनी चाहिये । देवता, ब्राह्मण एवं राजाओं के द्वार में दो कपाट एवं शेष के लिये एक कपाट कहा गया है । सामन्त एवं प्रमुख आदि के लिये द्वार के दो कपात प्रशस्त होते है ॥१३-१४॥

द्वार के कपाटों की उचाई साढ़े चार, पाँच, सात, आठ या ग्यारह हाथ होनी चाहिये । यह उचाई भवन के भीतरी भाग की उचाई के अनुसार होनी चाहिये । इसमे आधा भाग गुल्फ (नीचे की चौखट) एवं आधा भाग विमल (ऊपर क चौखट) के लिये होता है । यह दृढ़ता के लिये थोडा मोटा रक्खा जाता है । कपाट के भीतरी भाग में सरप (द्वार के खुलने-बन्द होने पर नियन्त्रण रखने वाला अंग) लगाया जाता है, जिसकी उचाई कपाट के तीन भाग में दो भाग के या पाँच भाग में चार भाग के बराबर होती है । इसके विषय में पहले वर्णन किया जा चुका है ॥१५-१६॥

दो कपाट होने पर एक बड़ा एवं दूसरा छोटा होता है । दाहिनी ओर के कपाट की उचाई के पाँच भाग एवं चौड़ाई के तीन भाग करने चाहिये । (लम्बाई के) तीन भाग को ऊपर एवं नीचे के लिये एवं एक भाग दोनो पार्श्वो के लिये छोडकर मध्य मे बचे द्वारभाग को 'आवार' कहते है । इसे लोहे के पट्टो से इस प्रकार दृढ करना चाहिये, जिससे कि कपाट दृढ हो एवं सुन्दर लगे ॥१७-१९॥

भाजन (साँकेट) का भीतरी व्यास बडे द्वार, मध्य द्वार या छोटे द्वार के अनुसार तीन, चार या पाँच अंगुल का होना चाहिये अथवा (साँकेट के) बाहरी चौडाई का आधा, दो तिहाई, तीन चौथाई या तीसरे भाग के अनुसार होना चाहिये । अथवा इसका माप दस अंगुल या विकासन (घूमने वाली कील) की चौड़ाई के बराबर होनी चाहिये । वेत्र (कील के नोक) को (साँकेट मे) इस प्रकार रखना चाहिये, जिससे कि यह हाथी की सूँड के समान लगे ॥२०-२१॥

कपाट के लिये विषम संख्या के फलक का प्रयोग करना चाहिये एवं मध्य भाग मे जोड नही होना चाहिये । कपाट की भेषणी (सहारा देने वाला भाग) मध्य भाग को छोडकर होनी चाहिये । दो कपाट होने पर दृढ़ता को ध्यान मे रखते हुये भेषणी का प्रयोग (अनावश्यक होने पर) नही करना चाहिये ॥२२-२३॥

तल्प (कपाटफलक) पर तीन, पाँच, सात, नौ या ग्यारह दण्ड लगना चाहिये, जिनकी मोटाई तल्प की आधी एवं चौड़ाई मोटाई की दुगुनी होनी चाहिये । उनकी आकृति अश्व के कन्धे या नख के समान, पीपल के पत्ते के अग्र भाग के समान, स्वस्तिक के समान, घटिका (छोटा घट) या मिर्णका के समान होनी चाहिये । ॥२४-२५॥

कवाट को श्रीमुख, वामदण्ड, पिञ्जरी, गल, अर्गल (कड़ियाँ, श्रृंखलाये) क्षेपण, सन्धिपत्र, गुच्छे, वन, लतागुल्म (झुरमुट), भीतरसे पकडने वाले भाग (हैण्डल) वालाग्र (पूँछ), मध्य भाग में कुण्डल, विषाण (सींग), परिघा एवं क्षुद्र दण्ड (छोटा दण्ड, जिससे द्वार को खुलने से रोका जा सके) से युक्त करना चाहिय ॥२६-२७॥

कपाट को सभी प्रकार से सुन्दर इन्द्रकील से युक्त करना चाहिये या अन्य धातु से उचित रीति से दृढ करना चाहिये । गुल्फ (निचले भाग),सन्धिस्थान पर एवं ललाट (सामने के भाग) पर इन्द्रकील को शृंग एवं लोहे के पत्र द्वारा प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार लगाचा चाहिये, जिससे कि वे दृढ रहे एवं सुन्दर लगे । दो कलियो के बीच में सूई के समान लम्बी पत्र त्रिनेत्रा लगानी चाहिये । चौखट का भीतर धँसा भाग पूरी ऊँचाई का तीसरा भाग होना चाहिये, जिससे कि वह दृढ रहे ॥२८-३०॥

पट्ट के सामने स्कन्धपट्टिका (दोनो कपाटों के मध्य के अवकाश को ढँकने वाली पट्टी) को प्रवेश करते समय दाहिने कपाटफलक पर इस प्रकार लगाना चाहिये, जिससे कि वह सुन्दर प्रतीत हो । इसकी मोटाई कपाटफलक के समान एवं चौडाई मोटाई की दुगुनी होती है । यह पद्मपत्र की आकृति से सुसज्जित होती है । दक्षिण योग पर अर्गल (सिकडी, सिटकिनी) एवं वामयोग पर कपाटफलक होना चाहिये । ॥३१-३२॥

<u>शुभाशुभद्वार</u>

प्रशस्त एवं अप्रशस्त द्वार - विद्वान को (द्वार खोलते समय) बाँये हाथ से कपाटफलक एवं दाहिने हाथ से घटिका (द्वार को खोलने बन्द करने का अवयव) का प्रयोग करना चाहिये । चाहे द्वारफलक एक हो या दो हो । द्वार को खोलने एवं बन्द करते समय उत्पन्न स्वर भेरी के स्वर के समान, गज के स्वर या सिंह के स्वर के समान, वीणा एवं वेणु के स्वर के समान हो तो वह नाद प्रशस्त होता है । कण्ठ से निकले गर्जन के समान, चिल्लाने के समान, गूँजने के समान एवं अन्य प्रकार के स्वर अप्रशस्त होते है ॥३३-३५॥

द्वार के नीचे का भाग एवं ऊपर का भाग समान रूप से खुलना चाहिये । भीतरी अर्गला का उसके छिद्र से (जहाँ फँसाया जाय) छोटा होना या अर्गला एवं योग का आपस में रगडना बन्धुओं के नाश का कारण, शत्रुओं से पीडा एवं सदा उपद्र का कारण होता है । जो द्वार अपने-आप खुले तथा अपने-आप बन्द हो, वह बन्धु-बान्धव के विनाश का, सम्पत्ति की हानि का एवं विपत्ति का कारण होता है ॥३६-३७॥

द्वार का वृक्ष, कोप, चारदिवारी, खम्भा एवं कूप से विद्ध होना (इनका द्वार के सामने होना), देवालय से विद्ध होना, मार्ग से विद्ध होना, बाँबी एवं भस्म से विद्ध होना, सिरा एवं मर्मस्थान से विद्ध होना विष-नाडी के समान (अप्रशस्त) होता है और वह सर्पो का स्थान (मृत्युकारक स्थान) होता है । द्वार गृह का रक्षक एवं दृढ होना चाहिये । ऐसा द्वार विद्वानो को प्रसन्न करता है ॥३८-४०॥

गज के ऊपर बैठकर आते-जाते समय द्वार के कपाट के आघात से यदि ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है तो द्वार राजा के विनाश का कारण बनता है । जब पैदल हो और ऐसी घटना हो तो वह राजा की अवनति का कारण बनता है । यदि राजा बडे द्वार से प्रवेश करता है तो वह निःसन्देह चिरकाल तक जीवित रहता है । वह दूसरे के राज्य पर भी अधिकार प्राप्त करता है एवं कभी भी क्षीण नही होता है ॥४१-४२॥

<u>द्वारस्थान</u>

द्वार की स्थिति - देवो, ब्राह्मणो एवं राजाओं का द्वार मध्य में तथा शेश मनुष्यों के आवास का द्वार मध्य भाग के पार्श्व मे होना चाहिये ॥४३॥

बत्तीस पद वास्तुमण्डल मे महेन्द्र, राक्षस, पुष्पदन्त एवं भल्लाट- इन चारो पदो पर द्वार होना चाहिये । ये द्वार अपनी दिशाओं के अधिपति देवों द्वारा संरक्षित होते है । बुद्धिमान व्यक्ति को इसी प्रकार भीतर के द्वार एवं बाहर के द्वारों का समायोजन करना चाहिये । शेष अन्य सभी द्वर दोषयुक्त होते है । ब्रह्मा के समान एवं ब्रह्मा की ओर (बाहर निकलने वाले व्यक्ति की पीठ) वाले द्वार निषिद्ध होते है । प्रलाप करने से क्या लाभ? अन्य स्थान पर द्वार निन्दित होते है ॥४४-४६॥

द्वार के विस्तार का माप सुनिश्चित होना चाहिये । माप से कम या अधिक रोग का कारण होता है । खोलने एवं बन्द करने पर जहाँ इसे रोका जाय, उसी स्थिति मे कपाट का स्थित रहना तथा ऊपर एवं निचे का व्यास एवं लम्बाई बराबर रहे तो वह द्वार प्रशस्त होता है । यदि (खोलने एवं बन्द करने पर द्वार का) स्वर धोबी के वस्त्र धोने जैसा हो तो वह गृहस्वामी के विपत्ति का कारण बनता है ॥४७-४९॥

जलद्वार (जलप्रणाली) को जयन्त, वितथ, सुग्रीव एवं मुख्य के पद पर क्रमशः निर्मित करना चाहिये । अन्य स्थान (जलद्वार के लिये) छोड देना चाहिये ॥५०॥

पर्जन्य, भृश, पूषा, भृंगराज, दौवारिक, शोष, नग एवं अदिति के पद उपद्वार का प्रयोग करना चाहिये । इसे सुरङ्ग कहते है । ये एक या दो तल से युक्त बहुत-सी रक्षाओं (सुरक्षा-बल) से युक्त होते है ॥५१-५२॥

(यहाँ कुछ छूट है; पाठ खण्डित है) । स्तम्भ एवं अधिष्ठान की ऊँ के मान को लेकर जो शेष बचे, उससे उपपीठ की ऊँचाई एवं द्वार की ऊँचाई लेनी चाहिये; जिसका वर्णन पहले किया गया है । सामने द्वार (कपाट) से लगे गुप्त या दिखाई पडने वाले सोपान का निर्माण करना चाहिये । द्वार के योग को द्वारगोपुर के बराबर गहराई मे (भूमि मे) स्थापित करना चाहिये । भवन की बाहरी भित्ति राजभवन एवं अन्य भवनों की सीमा निर्धारित करता है ॥५३-५४॥

<u>गोपुरमान</u>

गोपुर के मान - अब द्वारशोभा से लेकर द्वारगोपुर तक (सभी द्वारो) का विस्तार, लम्बाई एवं ऊँचाई के प्रमाण का वर्णन संक्षेप में क्रमशः किया जा रहा है । प्रथम आवरण द्वारशोभा के पाँच प्रकार के व्यास-मान प्राप्त होते है । ये पाँच, सात, नौ, ग्यारह एवं तेरह हाथ है । द्वारशाला का विस्तार मान पन्द्रह से तेईस हाथ पर्यन्त होता है । द्वार-गोपुर के पच्चीस हाथ से लेकर तैतीस हाथ पर्यन्त पाँच प्रकार के विस्तारमान कहे गये है ॥५५-५८॥

इनकी लम्बाई विस्तार के बराबर या उससे दो तिहाई, चौथाई, आधा या तीन चौथाई भाग अधिक होती है । इसकी उचाई इच्छानुसार या चौड़ाई के बराबर अथवा सात भाग में पाँच भाग या दस मे सात भाग अधिक रखनी चाहिये ॥५९-६०॥

<u>एकतलगोपुर</u>

एक तल का गोपुर - द्वारशोभा आदि पाँच गोपुरद्वारों के अलंकरणों का वर्णन किया जा रहा है । (एक तल गोपुर की) लम्बाई के दो, चार या छः भाग करने चाहिये । उसके आधे भाग से नालीगेह

(मध्यभाग) बनाना चाहिये। शेष भाग से भित्ति की मोटाई रखनी चाहिये । द्वार मध्य में होना चाहिये । मण्डप के आकार में एवं तीन वर्ग से युक्त इस द्वार का नाम 'श्रीकर' होता है ॥६१-६२॥ उसके चारो ओर एक भाग से महावार (बड़ा मार्ग) निर्मित करना चाहिये । यह ढँका हुआ या खुला हुआ एवं लांगल (हल) के आकार की भित्ति से युक्त हो । वार के ऊपरी भाग तक प्रस्तलस्तुल (संरचनाविशेष) से युक्त सोपान होना चाहिये । यहाँ सकल दुस्तक (अर्थ स्पष्ट नही है) कोष्ठ, कानन (संरचनाविशेष) एवं मुखपट्टिका निर्मित होनी चाहिये । मध्य स्तम्भ से युक्त मध्य भाग में नासिका होनी चाहिये । महावार पर अष्ट नासियाँ (सजावटी खिड़की) होनी चाहिये । ग्राम मे इसे 'सीता' कहते है । ॥६३-६४-६५॥

(अथवा मुख भाग पर) मुखपट्टिका के युक्त काननकोष्ठ (एक लम्बी निर्मिति) होना चाहिये । इसकी संज्ञा 'श्रीभद्र' है एवं यह सभी स्थान के लिये प्रशस्त है । इस प्रकार एक तल के तीन प्रकार के गोपुरों का वर्णन किया गया । अब दो तल के गोपुरों का वर्णन किया जा रहा है ॥६६-६७॥

द्वितलगोपुर

रतिकान्त

दो तल के गोपुर - (रतिकान्त) - (द्वितल गोपुर में) लम्बाई छः भाग एवं चौड़ाई दो भाग होनी चाहिये । मध्य भाग मे एक भाग चौड़ा एवं तीन भाग लम्बा नालीगृह (कक्ष) होना चाहिये । यह चारो ओर एक भाग मोटी भित्ति से घिरा होना चाहिये तथा उसके आधे भाग से तीन भाग से वार (मार्ग, बरामदा) होना चाहिये । उसके बाहर उसके आधे भाग से तीन भाग चौडा गोपानमञ्चक निर्मित होना चाहिये । अधिष्ठान उपपीठ से युक्त तथा स्तम्भ आदि से सुसज्जित होना चाहिये । महावार अष्टनासियों से युक्त और शिखर कोष्ठक के आकार का होना चाहिये । सामने एवं पीछे दो भाग चौडी महानासी होनी चाहिये । यह भद्र से युक्त, भद्र से रहित या स्तम्भसहित भद्र से युक्त होती है । महावार दक्षिण भाग से सोपान से युक्त होता है । इसका नाम 'रतिकान्त' है एवं यह सभी की प्रसन्नता में वृद्धि करता है ॥६८-७२॥

कान्तविजय

कान्तविजय - उसी शिखर में यदि चार नासियाँ हो तो उसकी संज्ञा 'कान्तविजय' होती है एवं यह सभी की शोभा बढ़ाने वाला होता है ॥७३॥

सुमङ्गल

सुमङ्गल - यदि शिखर हीन (छोटा, चिपटा) हो एवं हारा से युक्त हो तथा वार की बाहरी भित्ति पर चारो ओर नासियाँ निर्मित हो तो उसकी संज्ञा 'सुमङ्गल' होती है । इस प्रकार द्वितल गोपुर का वर्णन किया गया, अब त्रितल गोपुर का वर्णन किया जा रहा है ॥७४॥

त्रितलगोपुर

मर्दल

त्रितलगोपुर (मर्दल) - यह गोपुर चार भाग चौडा एवं छः भाग लम्बा होता है । द्वार के दोनो पार्श्वो मे एक-एक भाग के आवास होते है । उसके चारो ओर आधे भाग से भित्ति निर्मित होती है । उसके चारो ओर एक भाग से वार निर्मित होता ह, जिस पर दो नासियाँ निर्मित होती है । दोनो गृह सोपान से युक्त होते है एवं ऊपर भी हारा निर्मित होते है । उन दोनो के मध्य वास्तल (गटर)

निर्मित होता है, जिसका माप द्वार की चौड़ाई के बराबर होता है । इस द्वारहर्म्य गोपुर की संज्ञा 'मर्दल' होती है एवं यह राजगृह में निर्मित होता है ॥७५-७८॥

मात्रखण्ड - यह गोपुर छः भाग चौड़ा एवं दस भाग लम्बा होता है । द्वार के दोनो पार्श्वो मे एक भाग से कक्ष निर्मित होते है । दोनो कक्ष आधे भाग मोटी भित्ति से घिरे होते है । उसके बाहर एक भाग से चारो ओर वार निर्मित होता है । उन दोनो के मध्य द्वार की चौड़ाई के बराबर जलस्थल (गटर) निर्मित होता है । उसके बाहर एक भाग से चारो ओर वार निर्मित होता है । उसके चारो ओर महावार (बडा मार्ग, बरामदा) निर्मित होता है, जिस पर नासिकाये निर्मित होती है । इसका शिखर हीन (लगभग चिपटा) होता है एवं ऊपर हार निर्मित होता है । बाहरी वार पर चौदह नासिकाये निर्मित होती है । द्वार, सोपान एवं मार्ग का निर्माण आवश्यकतानुसार करना चाहिये । इस गोपुर की संज्ञा 'मात्रखण्ड' है एवं यह राजाओं को विजय प्रदान करता है । ॥७९-८०-८१-८२-८३॥

श्रीनिकेतन

इस गोपुर द्वार की चौड़ाई आठ भाग एवं लम्बाई दस भाग होती है । नालीगृह (मध्य कक्ष) दो भाग से एवं चारो ओर एक भाग से भित्ति होती है । तत्पश्चात आधे भाग से अलिन्द्र (बरामदा) एवं एक भाग से चारो ओर अन्धार (मार्ग, गलियारा) होता है । इसके पश्चात एक भाग से चारो ओर अलिन्द्र एवं एक भाग से हार (बाहरी भित्ति) निर्मित होता है । कूट की चौड़ाई दो भाग से एवं शाला की लम्बाई छः भाग से होती है । कोष्ठक का विस्तार चार भाग से एवं (उसी प्रकार उसकी) लम्बाई होती है । द्वार का निर्माण एक भाग से चूलहर्म्य से युक्त करना चाहिये । कूट एवं शाला के मध्य मे जल का स्थान होना चाहिये । इस प्रकार आदितल (भूतल) का वर्णन किया गया । अब दूसरे तल के भागों का वर्णन किया जा रहा है ॥८४-८८॥

नाली-गृह, चारो ओर की भित्ति एवं अलिन्द्र पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये । आधे भाग से चारो ओर गोपानप्रस्तर से युक्त पिण्डी का निर्माण करना चाहिये । ऊपरी भाग में आठ नासियों से युक्त महावार निर्मित होता है । शिखर कोष्ठक के आकार का होता है एवं इसका विस्तार लम्बाई का आधा होता है । आगे एवं पीछे दो भाग चौड़े महानासियों का निर्माण होता है ॥८९-९०॥

ऊपरी तलो में मध्य स्तम्भ से युक्त प्रवेश का संयोजन आवश्यकतानुसार करना चाहिये । प्रत्येक तल मे दक्षिण भाग मे सोपान निर्मित होता है । अधिष्ठान उपपीथ एवं स्तम्भ आदि से सुसज्जित होते है । ऊह एवं प्रत्यूह (प्रधान एवं अप्रधान भाग) से युक्त इसकी संज्ञा 'श्रीनिकेतन' होती है । शुद्ध (एक) या मिश्रित (अनेक) पदार्थों से निर्मित तीन तल के गोपुरों के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया । ये विभिन्न प्रकार की खिड़कियों एवं अन्तःसालो (भीतरी प्राकारों) से युक्त होते है । अब सात तल से प्रारम्भ कर चार तल पर्यन्त गोपुरों का वर्णन किया जा रहा है ॥९१-९४॥

सप्ततलगोपुर

भद्रकल्याण

सात-तल गोपुर (भद्रकल्याण) - इस गोपुर की चौडाई चौदह भाग एवं लम्बाई सोलह भाग होती है । नालीगेह (मध्यकक्ष) दो भाग चौडा एवं छः भाग लम्बा होता है । इसके चारो ओर भित्ति होती है । दो भाग मान के चार अलिन्द्र होते है । चारो ओर आधे भाग से चार हारा का निर्माण करना चाहिये । इसके बाहर चारो ओर एक भाग से अलिन्द्र होता है । एक भाग से हार-भाग एवं आधे भाग से भित्ति होती है । हार के भाग के बराबर दोनो पार्श्वो में पञ्जर निर्मित होते है ॥९५-९७॥

प्रत्येक ऊपरी तल की भूमि प्रतियुक्त होती है । तीसरे तल को खण्डहर्म्य आदि से सुसज्जित एवं जलस्थल से युक्त बनाना चाहिये । प्रत्येक ऊपरी तल की ग्रीव पर चार महावार (बडे बरामदे) होते है । प्रत्येक ऊपरी तल के द्वार के मध्य में स्तम्भ निर्मित करना चाहिये । छत पर छत के माप की पट्टिका एवं विषम संख्या में स्तूपिकाये होनी चाहिये ॥९८-१००॥

इसे तोरणो, झरोखो एवं क्षुद्रनीडो (छोटी सजावटी खिड़कियों) से भली-भाँति अलंकृत करना चाहिये । प्रत्येक तल पर महावार (की भित्तियों) को नासियों से सुसज्जित करना चाहिये । यह द्वार के दोनो पार्श्वो मे तथा कूट और शाला के मध्य मे होता है । इसके पश्चात उपपीठ, चढने के लिये सीढ़ी एवं चार (चलने के लिये मार्ग) होता है । आँगन एवं कूट का सोपान त्रिखण्ड या श्रृङ्गमण्डल (शैली का) होता है । प्रत्येक ऊपरी तल मे सोपान की योजना आवश्यकतानुसार की जानी चाहिये । इस द्वारगोपुर को 'भद्रकल्याण' संज्ञा से अभिहित किया जाता है ॥१०१-१०३॥

सुभद्र

सुभद्र - उसी मे मध्य भाग तथा दोनो पार्श्वो मे नासिका हो तथा सामने एवं पीछे नासियाँ हो तो उसकी संज्ञा 'सुभद्र' होती है ॥१०४॥

भद्रसुन्दर

भद्रसुन्दर - मध्य भाग में दो भाग से जलस्थान तथा दोनो पार्श्वों मे दो भाग प्रमाण से चार नासियों से युक्त सौष्ठिक होता है । इसे 'भद्रसुन्दर' नाम से अभिहित किया गया है । पार्श्व भाग में इसी के विस्तार मे सोलह भाग एवं लम्बाई मे अट्ठारह भाग रक्खा जाता है । इसकी लम्बाई चौड़ाई से चतुर्थांश अधिक होती है । शेष भागो को आवश्यकतानुसार रखना चाहिये । इसका निर्माण एक या अनेक द्रव्यों से क्या जाता है ॥१०५-१०७॥

षट्तलगोपुर

छः तल का गोपुर - इस प्रकार सप्ततल गोपुर का वर्णन किया गया है । इसके तीन प्रकार होते है । इसी मे निचले तल को छोड छः तल के गोपुर बनते है; जिन्हे क्रमशः सुबल, सुकुमार एवं सुन्दर कहा गया है ॥१०८-१०९॥

पञ्चतलगोपुर

पाँच तल का गोपुर - द्वार की लम्बाई एवं चौड़ाई चौदह भाग होनी चाहिये । गृह की भित्ति एवं गृह (मध्य कक्ष) पहले के समान होना चाहिये । उसके चारो ओर हार (बाह्य भिति) एवं अलिन्द्र क्रमशः पाँच तथा डेढ़ भाग से होनी चाहिये । अलिन्द्र एवं बाह्य भित्ति की चौड़ाई एक भाग होनी चाहिये । आँगन में दो भाग से सौष्ठिक एवं छः भाग लम्बी शाला होनी चाहिये । कूट एवं शाला के मध्य भाग मे तीन भाग से जलस्थान होना चाहिये । विस्तार में जलस्थान दो भाग से हो एवं तीन महावार से युक्त हो । शेष अंगो का निर्माण पूर्ववर्णित रीति से करना चाहिये । पञ्चतल गोपुर को क्रमशः श्रीच्छन्द, श्रीविशाल एवं विजय कहा गया है । इस प्रकार विभिन्न अंगो से सुशोभित पञ्चतल गोपुर तीन प्रकार के कहे गये है ॥११०-११४॥

चतुस्तलगोपुर

चार तल का गोपुर - उस लम्बाईएवं चौड़ाई मे से दो भाग छोड दिया जाय, दो महावारों से युक्त हो तता कूट एवं कोष्ठ पहले के समान हो (तो वह चतुस्तल गोपुर होता है), यह ललित, कल्याण एवं

कोमल- तीन प्रकार का होता है । ये चतुस्तल संज्ञक गोपुर ग्रामो एवं राजभवन के लिये उपयुक्त होते है ॥११५-११६॥

सामान्यविधि

सामान्य नियम - सप्ततल आदि तीन गोपुरों में तीन अलिन्द्र, दो एवं एक अलिन्द्र होते है । शेष मे भित्ति का प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार प्रत्येक के तीन भेद होते है एवं उनका अलंकरण इस प्रकार करना चाहिये, जिससे कि वे सुन्दर एवं दृढ रहे । स्तम्भ एवं प्रस्तर की चौड़ाई एवं लम्बाई पूर्ववर्णित रीति से रखनी चाहिये ।

ऊपरी तल एवं निचले तल के मध्य के स्थान (या संरचना) को 'प्रति' कहते है । गर्भन्यास प्रवेशद्वार के दाहिनी ओर भित्ति के नीचे होना चाहिये ॥११९॥

ब्राह्मण आदि चारो वर्णो के निवास के लिये मय ने एक से लेकर सात तल तक गोपुरो का वर्णन किया है, जिनके इक्कीस भेद बनते है । इनमें से ब्राह्मण आदि को उपयुक्त गोपुर का चयन करना चाहिये । प्रारम्भिक तीन भेद सभी वर्णो के अनुकूल होते है; विशेष रूप से उन लोगो के लिये, जो मनुष्यो मे समृद्धिशालि है । दूसरे ग्राम, अग्रहार, पुर, पत्तन के लिये एवं सभी राजभवन एवं देवालयो के लिये प्रशस्त होते है ॥१२०-१२१॥

मयमतम् - अध्याय ३१

यानशयनभेद

यान एवं शयन के भेद - अब मै (मय) यानो (वाहनो) एवं शयनो के लक्षण को क्रमशः कहता हूँ । शिबिका (पालकी) एवं रथ यान है तथा पर्यङ्क (पलंग) आदि शयन है । शयन के अन्तर्गत उन्ही से उत्पन्न (उन्ही की शैली मे निर्मित) पीठ आदि आसन आते है ॥१॥

शिबिकाभेद

शिबिका के भेद - मेरे (मय के) अनुसार पीठा, शिखरा और मौण्डी - ये तीन प्रकार की शिबिकायें होती है । इनकी लम्बाई एवं चौड़ाई समान होती है । इनमे भेद भित्ति (पार्श्व का किनारा), शिखर (छाजन) या अपने तीन स्तर के निर्माण के कारण होता है । अब मै (मय) उनकी चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई का अलग-अलग वर्णन करता हूँ ॥२-३॥

पीठ

इसका विस्तार तीन बित्ता एवं लम्बाई पाँच बित्ता होनी चाहिये । अधम (छोटा) पीठा का माप तीन बित्ता एवं मध्यम का माप उससे एक अंगुल अधिक होता है । उत्तम (सबसे बडा) उससे तीन अंगुल अधिक होता है - ऐसा मुनियो द्वारा कहा गया है । इसकी लम्बाई चौड़ाई से डेढ गुनी या दुगुनी होती है ॥४-५॥

श्रेष्ठ (सबसे बडे) पीठा की भित्ति की ऊँचाई चौड़ाई की आधी होती है । मध्यम पीठा की ऊँचाई उससे तीन अंगुल कम एवं अधम पीठा की ऊँचाई उससे (मध्यम से) तीन अंगुल कम होती है । इस प्रकार पीठा की ऊँचाई तीन प्रकार की होती है । चौड़ाई, लम्बाई एवं ऊँचाई के अनुसर

पौण्डिका संज्ञक शिबिका तीन प्रकार की कही गई है । इनकी चौड़ाइ इकतीस, पैंतीस एवं सैतीस अंगुल कही गई है । इनकी लम्बाई एवं ऊँचाई पूर्ववर्णित रीति से करनी चाहिये ॥६-७॥
उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकार के ईषिका (चौखट, फ्रेम) की चौड़ाई पाँच, उसके आधी या दो अंगुल होनी चहैये । उसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी एवं लम्बाई उचित (आवश्यकतानुसार) होनी चाहिये । (अथवा) इसकी चौड़ाई पाँच, चार या तीन अंगुल एवं मोटाई डेढ अंगुल होनी चाहिये । यह क्षुद्रपट्टिका, वाजन, निम्न एवं अब्जक (सभी अलंकरणो) से युक्त होती है ॥८-९॥
हस्त (काष्ठनिर्मित पार्श्वभित्ति का ऊपरी भाग) की चौड़ाई ढाई, दो या डेढ अंगुल चौडी तथा मोटाई तीन चौथाई या चौडाई की आधा होती है । इसकी आकृति आधी गोलाई लिये, छत्र के समान या वेत्र (वेत) के समान होती है ॥१०-११॥
हस्त एवं ईषिका के मध्य छः भाग करना चाहिये एवं वहाँ चार चम्पक (रचना-विशेष) निर्मित करना चाहिये । इनका विस्तार ढ़ाई, दो या डेढ़ अंगुल होना चाहिये । कम्पकों के ऊपर एवं नीचे एक अंगुल मोटा फलक होता है एवं इनकी ऊँचाई (हस्त एवं ईषिका के मध्य) छठे भाग के बराबर होती है । मध्य कम्प को छोड़कर (फलक की ऊँचाई) आवश्यकतानुसार रखनी चाहिये । मध्य भित्ति पर मध्य भाग के दो भाग मे नर, नारी, चक्रवाक, लता, चार पैर वाले पशु, नाटक आदि के दृश्यों से अलंकरण होने चाहिये । हस्त एवं अधिक (सम्भवतः ईषिका) के मध्य मे अग्रभाग मे व्यालस्थान होता है । निर्गमन के साथ मुष्टिबन्ध-माप चौड़ाई का दुगुना होता है (इन्हे हस्त एवं ईषिका के मध्य में स्थापित किया जाता है) । उसके नीचे अंघ्रि (स्तम्भ, पाद) होता है, जिसकी ऊँचाई अधोभाग (व्याल के नीचे भाग) के बराबर होती है । उससे सम्बद्ध निर्गम उसके बराबर माप का या चौड़ाई के आधे माप का होता है एवं नक्रमुख (मकराकृति) से सुसज्जित होते है । स्तम्भ का व्यास पाँच, सात या नौ भाग चौड़ा तथा नौ, दस या ग्यारह भाग लम्बा होता है । इन पादों की चौड़ाई एवं मोटाई कम्प की चौड़ाई एवं मोटाई के अनुरूप होती है ॥१२-१८॥
बड़े काष्ठखण्ड (चौखट, फ्रेम) के अग्र भाग एवं मूल भाग (ऊपरी एवं निचले सिरे) पर दृढ एवं आवश्यकतानुसार शिखा (खूँटी जैसी आकृति) निर्मित करनी चाहिये, जिससे कि वह काष्ठ (फ्रेम के दूसरे फलक में) सरलता से स्थापित किया जा सके (दूसरे फलक मे शिखा के अनुसार गड्ढा निर्मित होता है, जिसमे शिखा दृढ़ता से स्थापित की जाती है) इसमें पाँच या चार अंगुल का निर्गम होता है, जिस पर पद्म, पद्म का अग्रहस्त एवं कोने पर उसी के माप का कमल या चौकोर आकृति निर्मित होती है ॥१९-२०॥
छोटे-छोटे खण्डो के ऊपर विस्तृत कम्प या फलक होना चाहिये, जिसकी ऊँचाई एक भाग के बराबर होनी चाहिये । यह शोभा के लिये या आवश्यकतानुसार होता है । वही छोटे-छोटे स्तम्भ एवं गुलिकाये (गोलियाँ) शोभार्थ निर्मित होती है । अथवा सामने पाँच या तीन भाग के बराबर द्वार होना चाहिये, जिसका विस्तार तीन या चार अंगुल एवं ऊँचाई सात या आठ अंगुल होनी चाहिये । स्तम्भ, कुम्भ, अवलग्न (स्कन्ध) तथा हीरक (आकृतिविशेष) से युक्त और सुन्दर गोल होना चाहिये । बुद्धिमन व्यक्ति को द्वार के गुल्फ को दृढ़तापूर्वक कील से जड़ देना चाहिये । इस प्रकार विभिन्न प्रकार से अलंकृत शिबिका को 'पैठिका' कहा गया है ॥२१-२४॥
शिबिकाओं के अन्य प्रकार - (शेखरी) शिबिका की ऊँचाई उसकी चौड़ाई के बराबर एवं भित्ति चौड़ाई की आधी या तीन भाग के बराबर होती है । स्तम्भों से युक्त एवं शिखर से युक्त शिबिका को

'शेखरी' कहा गया है । 'मौण्डी' शिबिका मुण्ड के आकार की होती है एवं भित्तियाँ 'शेखरी' के समान होती है । इसकी चौड़ाई के समान ऊँचाई होती है । यह मण्डप के समान होता है एवं कहा जाता है ॥२५-२६॥

इन शिबिकाओं का प्रमाण स्तम्भ के मध्य से लिया जाता है । यान एवं शयन के निर्माण के लिये प्राचीन मनीषियों के अनुसार प्रशस्त वृक्ष शाक (सागौन), काल, तिमिश, पनस (कटहल), निम्ब, अर्जुन एवं मधूक (महुआ) के होते है । श्रीयुक्त मनुष्य जब यान पर सवार होता है तब उसकी प्रसन्नता अभिव्यक्त होती है । इस प्रकार के लक्षणों से युक्त शिबिका उस व्यक्ति को सफलता एवं समृद्धि प्रदान करती है ॥२७-२८॥

शिबिका-निर्माण का अध्याय समाप्त हुआ

रथः

रथ - रथ का विस्तार दोनो चक्रों के बाहरी भाग से ग्रहण किया जाता है । यह छः, सात या आठ बित्ता होता है । यह माप चक्रों की दोनों नाभियों के अन्तिम भाग से या अक्ष (धुरी) के ऊपर रक्खे उत्तर (पट्टी) की लम्बाई से अथवा रथ के बाह्य भाग की चौड़ाई के अनुसार रक्खी जाती है । इसकी लम्बाई चौड़ाई से डेढ़ गुनी अधिक होती है ॥२९॥

रथ में पाँच भार (लम्बी पट्टियाँ) होती है, जिनकी मोटाई एवं ऊँचाई चार, तीन या दो अंगुल होती है । अथवा उनकी संख्या तीन, सात या नौ होती है तथा उनका विस्तार एवं ऊँचाई पूर्ववर्णित रक्खा जाता है । उन्हे लम्बाई के अनुसार रक्खा जाता है एवं उपयुक्त तिर्यक् कम्पो से दृढ़ किया जाता है ॥३०-३१॥

मध्य भार के ऊपर तुला होती है । इसके जोड़ से प्रारम्भ कर कूपर (रथ का दण्ड) होता है । इस कूपर का माप रथ के सामने के भाग से लिया जाता है, जिसका माप तीन हाथ से प्रारम्भ होता है एवं उसका अग्र भाग (छोर) मुड़ा होता है । इस कूपर को मध्यभार कहा जाता है । यह युग (जुआ) को सहारा प्रदान करता है । इसके ऊपर एक अंगुल मोटा फलक प्रस्तर (पट्टी) होता है ॥३२-३३॥

अक्ष, अक्षोत्तर, चक्रपट्ट एवं भारोपधानक (का वर्णन किया जा रहा है) । भारोपधानक (लम्बी पट्टी का सहारा) की ऊँचाई पाँच, छः या सात अंगुल; मोटाई दे या तीन अंगुल एवं लम्बाई अट्ठारह अंगुल होती है । ये पार्श्व में लगे होते है । इनकी आकृति पोतिका के समान होती है एवं लोहे की पट्टी से ये दृढ़तापूर्वक जड़ी होती है ॥३४-३५॥

अक्ष के ऊपर उत्तर (क्रास बीम) के मध्य में एक छिद्र होता है, जिसकी चौड़ाई एवं गहराई बराबर होती है । इसे अक्ष की रक्षा के लिये निचले भाग में दोनो पार्श्वो से दृढतापूर्वक कसा जाता है । इसकी मोटाई चौड़ई की आधी होती है, जो कि उपधान के बराबर होती है । इसकी लम्बाई अक्ष के बराबर होती है । यदि यह (उत्तर) काष्ठनिर्मित हो तो चौकोर होता है एवं लोहे की पट्टी, कील एवं उसी काष्ठ की शिखा (नुकीली लकड़ी) द्वारा दृढ किया जाता है । अक्ष के ऊपरी भाग में उत्तर को काष्ठ के कील से दृढतापूर्वक कसा जाता है ॥३६-३८॥

चक्र का विस्तार अक्ष के उत्तर के बराबर कहा गया है । नाभि की ऊँचाई (घेरा) दस अंगुल एवं लम्बाई- चौड़ाई एक वितस्ति (बित्ता) होनी चाहिये । पट्ट एवं नाभि के बीच में बत्तीस, चौबीस या सोलह अथवा आवश्यकता के अनुसार संख्या में अरें (तिलियाँ) होती है । ये छोर पर तीन अंगुल

चौड़ी होती है अथवा मूल भाग में सँकरी डेढ़ अंगुल माप की होती है । ये यव के आकार की एवं मूल तथा अग्र भाग (दोनो छोर) पर शिका (नोक) से युक्त होती है । जब पहिया रोहारोह (ऊपर-नीचे) होता है, उस समय अक्ष का मध्य भाग आँख के सदृश प्रतीत होता है ॥३९-४१॥

भार (लम्बी पट्टी) को लोहे के पट्ट, कील एवं पट्टबन्ध आदि से जो जहाँ उचित हो, कसना चाहिये । लोहपट्टी की लम्बाई उसकी चौड़ाई से दुगुनी होनी चाहिये । उपपीठ एवं गोपनीय भाग को यथास्थान स्थापित करना चाहिये ॥४२-४३॥

स्तम्भों की ऊँचाई चक्र के आधे भाग के बराबर होती है । यह आधे भाग में हस्त (हत्था, रेलिंग) को सहारा देता है । चूलिका (ऊर्ध्वभाग की संरचना) की ऊँचाई स्तम्भ की ऊँचाई की आधी होती है । पट्टिकाओं के मध्य भाग मे आगे, दोनो पार्श्वो में एवं तलभाग में गुलिकायें (गोली आकृतियाँ) होती है । पृष्ठ भाग पाँच अंगुल ऊँची मुखपट्टिका से घिरा होता है । कोने के स्तम्भों के मध्य भाग में उत्तर पर मुकुल (कमल-कलिका) अंकित होते है ॥४५॥

भार, भारोपधान, अक्ष, अक्षोत्तर, कूबर (कूपर) एवं कूबर के छोर को लोहपट्टो एवं कीलों से इस प्रकार जोड़ना चाहिये, जिससे कि वे सही स्थान पर ठीक से जुड़े । अक्ष एवं अक्षोत्तर के मध्य में लकड़ी की कील का प्रयोग करना चाहिये ॥४६-४७॥

रथ पर आरोहण सर्वराज पर अधिकार प्राप्त करने के समय (साम्राज्य का अधिपति बनने के समय), राज-युद्ध के समय, महोत्सव के समय, मंगलवेला में, देवपूजा तथा सोमयाग के समय तथा जिन कार्यो मे कहा गया हो, उस समय करना चाहिये ॥४८-४९॥

चक्र का माप (परिधि) वास (गर्भगृह, रथ में बैठने का स्थान) की चौड़ाई का दुगुना या तीन गुना होता है । अथवा इसका माप सात ताल एवं विस्तार तीन या चार अंगुल होना चाहिये । (रथ के) स्तम्भ के माप के अनुसार उत्तर आदि का निर्माण पुर्ववर्णित विधि से करना चाहिये । हार (फ्रेम, चौखट) के ऊपर अन्तराल में चौसठ छोटे स्तम्भ होते है और स्तम्भ से युक्त होते है । स्तम्भोम का उदय छः, साढ़े पाँच या पाँच ताल का होता है । यह एक, दो या तीन तलों से युक्त एवं एक या चार मुख (प्रवेश) से युक्त होता है । इसका आकार मण्डप के समान एवं शिरोभाग शाला के समान (सीधा) होता है ॥५०-५३॥

(अथवा) चक्र का माप तीन, चार, पाँच, छःया सात हाथ एवं मोटाई उसका चार, पाँच, छः सात या आठवाँ भाग होता है । अक्ष (धुरी), अक्षोत्तर (धुरी की पट्टी) तथा भारोपधान (लम्बी सहारा देने वाली बीम) की चौड़ाई एवं मोटाई आवश्यकतानुसार होनी चाहिये एवं काष्ठकीलों से दृढ किया जाना चाहिये । यह एक, दो या तीन तल से युक्त एवं प्रासाद (देवालय) के समान अलंकृत होना चाहिये ॥५४-५५॥

(अथवा) सोलह स्तम्भों से युक्त, सभी दिशाओं में मुखभद्र से युक्त, सभी प्रकार के अलंकरणो से युक्त रंग (रङ्गमञ्च की आकृति) को रथ में दृढ़तापूर्वक जोड़ना चाहिये । इस प्रकार विद्वानों के अनुसार शिल्प-विशेषज्ञ की इच्छानुसार रथ में (आकृति आदि का) संयोजन करना चाहिये ॥५६-५७॥

लेखित (चित्रण) में पादुक (प्लिन्थ), (दूसरा) जोड़े सहित पद्म, (तीसरा) मुर्तियों सहित स्तम्भ, (चौथा) तुर्यक आदि से युक्त पट्टी, पाँचवाँ बोधि एवं छठवा कमलकलिका होती है ॥५८॥

दो, तीन, चार, एक एवं नौ वर्गों से विप्रभाग की गणना की जाती है । पद्म, सहकर्ण के साथ पट्टी एवं व्याल तथा नक्र से सुशोभित प्रस्तर का निर्माण होना चाहिये । दो भाग से पद्म, जगती, प्रवेश का आधार एवं कुमुद एक-एक भाग से निर्मित होना चाहिये ॥५९-६०॥

यदि सोलह भाग हो तो तीन भाग से पट्टी, एक भाग से वेदी, एक भाग से धरातल (आधार), पाँच भाग से पद्म, दो भाग से वेदिका, एक भाग से वेदी, एक भाग से गल, एक भाग से प्रस्तर एवं (शेष से) मुनि, देव, नाट्य दृश्य एवं उपधान आदि निर्मित होने चाहिये ॥६१॥

मयमतम् - अध्याय ३२

शयन

शयन - (सबसे छोटे) शयन की चौड़ाई तीन बित्ता एवं लम्बाई पाँच बित्ता होती है । ज्येष्ठ (उससे बडे शयन) की चौड़ाई तीन अंगुल एवं लम्बाई पाँच अंगुल अधिक होती है । ईषिका (पट्टी, दण्ड) की चौड़ाई चार अंगुल या पाँच अंगुल होती है । इसकी मोटाईचौड़ाई की आधी होती है । मध्य पट्ट व्यास के तीसरे भाग के बरबर होता है । (अथवा) ईषिका की मोटाई उसकी चौड़ाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर होती है ॥१-२॥

(शयन के) शीर्ष भाग एवं पृष्ठ (पैर की ओर दो लम्बी पट्टियाँ) या तो अन्त तक होती है या कोने पर समाप्त हो जाती है । पार्श्व की पट्टियाँ शीर्ष भाग से पृष्ठ भाग तक लम्बी होती है । इनके मध्य भाग में शिखा लगी होती है, जिससे के ये दृढ़ रहे । बड़ी पट्टियोम की लम्बाई इस प्रकार रखनी चाहिये, जिससे कि ये (शयन के) पाये में दृढ़तापुर्वक स्थापित की जा सके ॥३-४॥

शयन के पाद (पाये) की लम्बाई डेढ़ या एक बित्ता या उससे कम होनी चाहिये । इनकी चौड़ाई लम्बाई के चतुर्थांश या तीसरे भाग के बराबर होनी चाहिये, शयन के पाद सीदे, व्याघ्र के पैर या मृग के पैर के समान होने चाहिये । बड़े काष्ठखण्ड में लगायी गयी शिखा छोटे काष्ठ में स्थापित होनी चाहिये । शयनो की संज्ञा उनके (पैर, पाद) के आकार के अनुसार होती है ॥५-६॥

पर्यङ्क

पर्यङ्क, दीवान - पर्यंक का निर्माण फलक से या विभिन्न प्रकार की पट्टियों से किया जाना चाहिये । पाद एवं पट्टियों से युक्त पर्यंक की लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई शयन के बराबर होनी चाहिये । 'पर्यंकशिबिका' (पर्यंक का प्रकार) के ऊर्ध्व भाग में तोरण होता है, जिस पर कुण्डल, कील एवं बक (बगुले) की चोंच के आकार की कील (आदि अलंकरण) निर्मित होते है । यह राजा-रानियों, ब्राह्मणों आदि के लिये प्रशस्त होता है ॥७-८॥

यदि पर्यंक का सिर पूर्व की ओर हो तो लेटने वाले का मुख दक्षिण की ओर होना चाहिये । दक्षिण की ओर सिर होने पर मुख पश्चिम की ओर होना चाहिये । अन्य दिशायें इष्ट नही होती है । व्याघ्रपाद शयन एवं मृगपाद शयन ब्राह्मण एवं राजाओं के लिये प्रशस्त होते है । शेष अन्य वर्ण के लिये अनुकूल होते है ॥९॥

आसन

आसन - सीधे पाद वाले उत्तम, मध्यम एवं छोटे आसन को शयन के समान निर्मित करना चाहिये । इनकी चौड़ाई उन्तीस, सत्ताईस या पच्चीस अंगुल तथा ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होती है । समान लम्बाई-चौड़ाई वाले आसन को 'पीठ' और आयताकार को 'आसन' कहते है । इसकी लम्बाई-चौड़ाई से आठवाँ भाग अधिक या दुगुनी होती है । देवों, ब्राह्मणो एवं राजाओम के आसन (के पाद का आकार) सिंह, गज, भूत (प्राणी, जीव) या वृष के समान होता है । सिंह एवं गज के समान (पाद से युक्त) आसन की संज्ञा उनकी आकृति के अनुसार होती है ॥१०-१२॥

सिंहासन

सिंहासन - अब (मै, मय) देवों एवं राजाओ के (सिंहासन का) वर्णन करता हूँ, जो उत्तर, कमल, कपोत, मलिङ्ग आदि से युक्त एवं विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे अलंकरणों से युक्त होता है । यह उपपीठ एव पद्मबन्ध से युक्त होता है । यह कोनों एवं बीच-बीच में स्तम्भसिंह से अलंकृत होता है ॥१३-१४॥

सिंहासन इसके ऊपर होता है । यह तोरणयुक्त, लहरों (की आकृतियों) से सुसज्जित, सुवर्ण एवं रत्नोंसे अलंकृत होता है । इसके सभी अंग दृढ होते है, ऐसा मुनियों ने कहा है । इसके आसन-फलक की चौड़ाई सिंहासन के बराबर एवं लम्बाई चौड़ाई की दुगुने होती है । उसके पाद (पाये) पाँच अंगुल से अधिक नही होने चाहिये । ऊँचाई के लिये ऊपर वाजन होता है ॥१५-१६॥

इसके पिछले भाग में अर्ध-उत्तर होता है तथा उसके मध्य भाग में उसकी चौड़ाई के बराबर 'खात' होता है । मध्य भाग में एक विष्टर (कुशन) होता है, जिसकी चौड़ाई पाँच भाग एवं लम्बाई एक भाग (अधिक) होती है । आसन का पिछला भाग उचित माप का होना चाहिये । ऐसा न होने पर आसन प्रशस्त नही होता है । आसन एवं शयन की लम्बाई एवं चौड़ाई उत्तम होनी चाहिये एवं इच्छानुसार होनी चाहिये । एवं इच्छानुसार होनी चाहिये । इसकी लम्बाई-चौड़ाई (आसन के अनुसार) बढ़ाई-घटाई जाती है ॥१७-१९॥

पूजापीठ

पूजापीठ - पूजा पीठ की चौड़ाई छः अंगुल से प्रारम्भ होकर दो-दो अंगुल बढ़ाते हुये एक हाथ पर्यन्त दस प्रकार की होती है । कुछ विद्वानों के मतानुसार इसकी चौड़ाई चार अंगुल होती है । यह चौकोर, आयताकार या गोल होता है । इसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी, छठे या आठवे भाग के बराबर होती है । इसकी ऊँचाई चौड़ाई की आधी, छठे या आठवे भाग के बराबर होती है । यह सिंह पाद, कम्प एवं वाजन से युक्त होत है ॥२०-२१॥

उसके ऊपरी भाग में कर्णिका से सुशोभित सुन्दर पद्मपुष्प की पंखुडियाँ होती है। इसे 'शोभन' कहते है' क्योंकि यह सभी देवों से पूजित होता है । विभिन्न चित्रों (वर्णों) से अलंकृत इस पीठ को पूजा-पीठ कहते है, जो गृह की पूजा के लिये होता है । इसे न्यग्रोध, उदुम्बर, वट, पिप्पल, बिल्व या आमलक के काष्ठ से निर्मित करते है । इन काष्ठों से निर्मित पीठ सभी कार्यो के योग्य होते है एवं सिद्धि प्रदान करते है । ॥२२-२३॥

आयादि

आयादि - आय को आठ से गुणा कर एवं बारह से भाग देकर प्राप्त किया जाता है । व्यय नौ से गुणा कर एवं दस से भाग देकर प्राप्त किया जाता है । गुह्य को तीन से गुणा कर एवं आठ से भाग देकर प्राप्त किया जाता है । उड्व एवं वायु को आथ से गुणा अक्र एवं सत्ताईस से भाग देकर

तथा अंश को चार से गुणा कर एवं नौ से भाग देकर प्राप्त किया जाता है । वार का ज्ञान नौ से गुणा कर एवं सात से भाग देकर प्राप्त होता है । यान, शयन, रथ एवं आसन आदि का निर्माण इस प्रकार होता है ॥२४॥

मयमतम् - अध्याय ३३

निष्कलादिलिङ्गभेद

निष्कल आदि लिङ्ग के भेद - लिङ्ग (देव-प्रतीक) के निष्कल, सकल एवं मिश्र- ये तीन भेद होते है । निष्कल (प्रतीक) को लिङ्ग एवं सकल (आकृतियुक्त) को बेर (प्रतिमा) कहते है । मुखलिङ्ग इन दोनो का मिश्रित स्वरूप होता है । इसकी ऊँचाई एवं आकृति लिङ्ग के समान होती है ॥१॥
बिम्बमूर्ति (प्रतिमा) (मानव) शरीर के समान तथा विश्वमूर्तिस्वरूप (मूर्ति के सामान्य लक्षण एवं मानक) होती है । यह देवता के चिह्न, शरीर, प्रतिछन्द, प्रतिमा के प्रतीकों तथा नाम से होती है । इस प्रकार दृश्य देव (देवता की प्रतिमा) का वर्णन किया गया । अब निष्कल (प्रतीक, लिङ्गादि) का वर्णन किया जा रहा है ॥२-३॥

शिलालक्षण

ब्राह्मण आदि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) के लिये अनुकूल शिला (प्रतिमा निर्माण हेतु क्रमशः) श्वेत, लाल, पीली एवं काली होती है । शिला को एक रंग की, ठोस, स्पर्श में कोमल एवं भूमि के भीतर अच्छी तरह गड़ी होनी चाहिये । इसकी उचित लम्बाई एवं चौड़ाई होनी चाहिये । यह देखने में सुन्दर एवं युगा (बहुत पुरानी न हो) होनी चाहिये ॥४॥विद्वानों ने इन शिलाओं को गर्हित कहा है - वायु, धूप एवं अग्नि से क्षतिग्रस्त, अत्याधिक मृदु (जल्दी टूटने वाली) खारे जल के सम्पर्क वाली, निन्दनीय स्थान से प्राप्त, रूखी, किसी अन्य कार्य में प्रयुक्त, रेखा, बिन्दु या अन्य चिह्न से युक्त, वृद्धा (अत्यन्त पुरानी) टेढी, शर्करा (कंकड-बालु आदि से युक्त) जिसका रंग ठीक न हो, त्रास (चिटकी हुई), गृह में प्रयुक्त, (ठोकने पर) स्वरहीन, टूटी हुई एवं गर्भयुक्त ॥५-७॥
एक रंग की, घन (ठोस), कोमल, मूल से अग्र भाग तक सीधी, गजघण्टा के समान स्वर वाली शिला को 'पुंशिला' (पुरुषशिला) कहते है । मूल भाग में मोटी एवं अग्र भाग में पतली, कांस्यताल के समान स्वर वाली शिला को 'स्त्रीशिला' तथा मूल एवं अग्र भाग में पतली एवं (मध्य भाग में) मोटी शिला को 'षण्डा' (नपुंसक) शिला कहते है ॥८-९॥
विद्वान व्यक्ति को सकल, निष्कल एवं मिश्र (प्रतिमा) को पुंशिला से निर्मित करना चाहिये । नारी-प्रतिमा एवं पिण्डिका (मूर्ति की पिण्डका, आधार) के निर्माण में स्त्रीशिला का प्रयोग करना चाहिये । षण्डशिला से ब्रह्मशिला या कूर्मशिला का अथवा नन्द्यावर्त शिला का निर्माण करना चाहिये । इसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य को देवालय के तल एवं भित्ति आदि का भी निर्माण करना चाहिये ॥१०-११॥

यह शिला (अवस्था की दृष्टि से) बाला, मध्यमा तथा स्थविरा होती है । बाला शिला कम पकी हुई ईट के समान मृदु एवं टंक (टाँकी, छेनी) के आघात से टूटने वाली होती है । यह शिला सभी कार्यो के लिये त्याज्य होती है, ऐसा विद्वानों का मत है ॥१२-१३॥

यौवना (मध्यमा) शिला स्पर्स में कोमल, गम्भीर स्वर वाली, सुगन्धित, शीतल,मृदु, सघन अंगो वाली (ठोस) एवं तेजयुक्त (चमकदार) होती है । यह मध्यमा शिला सभी कार्यो मे प्रयोग करने योग्य होती है एवं सभी कार्यों में सिद्धि प्रदान करने वाली होती है॥१४॥

वृद्धा (स्थविरा) शिला मछली या मेढक के खाल के समान रूखी होने के कारण अप्रशस्त होती है । यह रेखा, बिन्दु एवं कलंक (दाग-धब्बो) से युक्त होती है । इस शिला का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये ॥१५॥

काटते-छीलते समय यदि शिला में मण्डल दिखाई पडे तो उसे 'गर्भिणी' शिला कहते है । विद्वान व्यक्ति को उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये ॥१६॥

(भूमि से बाहर निकालते समय) शिला का मुख नीचे की ओर एवं शिर ऊपर होता है । शिला का मूल भाग दक्षिण दिशा या पश्चिम दिशा एवं अग्र भाग उत्तर या पूर्व की ओर होता है । (भूमि में) जब शिला स्थित (खड़ी) हो तो अग्र भाग ऊपर एवं मूल भाग नीचे होता है । (दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व मे लेटी स्थिति मे) नैऋत्य कोण में अग्र भाग एवं ईशान में (मूल) तथा (उत्तर-पश्चिम एवं दक्षिण-पूर्व मे लेटी स्थिति की शिला का) अग्र भाग आग्नेय कोण में तथा (मूल भाग) वायव्य कोण में होता है ॥१७-१८॥

<u>शिलासंग्रहन</u>

शिला-संग्रह - (सूर्य के) उत्तरायण मास मे, शुक्ल पक्ष मे, शुभ उदय काल में, शुभ पक्ष, नक्षत्र एवं करण से युक्त मुहूर्त में लिंग-निर्माण (हेतु प्रस्तर लेने के लिये) वन, उपवन, पर्वत अथवा शुद्ध स्थान पर जाना चाहिये, जहाँ भूमि में प्रस्तर प्राप्त होता हो । यह क्षेत्र विशेष रूप से पूर्व, उत्तर या ईशान दिशा में होना चाहिये । ॥१९-२०-२१॥

स्थापक, स्थपति एवं कर्ता तीनों को मंगल कृत्य करने के पश्चात शुभ शकुनो एवं मंगलध्वनि के साथ (प्रस्थान करना चाहिये), स्थापक एवं स्थपति श्वेत को वस्त्र धारण कर, श्वेत सुगन्ध एवं लेप धारण कर तथा श्वेत वस्त्र का उत्तरीय (ऊपर ओढने का चादर) ओढकर, सिर पर श्वेत पुष्प धारण कर एवं पाँच अंगो में आभूषण धारण कर (शिला प्राप्त करनी चाहिये) ॥२२-२३॥

गन्ध, पुष्प, धूप, मांस, रक्त, दुध, भात, मछली एवं विविध प्रकार के भोज्य पदार्थों से अभीष्ट वृक्षों, प्रस्तरो तथा वनदेवता की पूजा करनी चाहिये । भूतो एवं क्रूर देवो को बलि प्रदान कर कार्य के अनुकूल श्रेष्ठ शिला का चयन करना चाहिये । श्रेष्ठ स्थपति उचित वेष धारण कर पूर्वाभिमुख होकर मन्त्र-पाठ करे ॥२४-२६॥

<u>अयं मन्त्र-</u>

मन्त्र इस प्रकार है - भूत एवं गुह्यको के साथ देवगण तथा क्रूर वनदेवता यहाँ से दूर चले जायँ । आप सबको बलि प्राप्त हो । मै इस कार्य को करूँगा । आप निवासस्थान बदल दे ॥२७॥

इस प्रकार कहने के पश्चात प्रणाम कर शिला-छेदन प्रारम्भ करे । उसी समय स्थापक उसके (शिला) के उत्तर दिशा में नियमपूर्वक हवन करे । तत्पश्चात सोने की सूई एवं अष्ठील (गोल पत्थर)

से पहले शोधन करना चाहिये । (अर्थात शिला पर निशान बनाना चाहिये) । तदनन्तर तीक्ष्ण शस्त्र से तथा बड़े पत्थर से उसपर प्रहार करना चाहिये ॥२८-२९॥

वाञ्चित लम्बाई एवं चौड़ाई से प्रयत्नपूर्वक अधिक शिला (का माप) लेकर उसे चौकोर बनाकर उसके मुखभाग का निर्णय करना चाहिये ॥३०॥

इसे शुद्ध कर एवं गन्ध आदि से विधिपूर्वक पूजा करके लिङ्ग, पिण्डका (लिङ्ग का आधार) या मूर्ति के लिये प्रस्तर या काष्ठ को वस्त्र से लपेट कर रथ पर सावधानी से रखकर सभी मङ्गल (कृत्यों एवं पदार्थो) के साथ कर्ममण्डप (जहाँ निर्माण करना हो) में लाना चाहिये । वहाँ छिपे रूप से (सबकी आँखो से बचाकर) वर्णित विधि से भली-भाँति कार्य करना चाहिये ॥३१-३३॥

यदि विद्वान को कही गई विधि से (शिलादी) न प्राप्त हो तो अन्य स्थान से शिलादि ग्रहण करना चाहिये । उसके उत्तर दिशा में पुर्वोक्त विधि से (हवन आदि करके) वहाँ उत्खनन कर, प्रशस्त नक्षत्र एवं मुहूर्त मे लाकर, विधिपूर्वक हवन कर एवं जल से शुद्ध करके गन्ध आदि से पूजन कर सभी प्रकार की मंगलध्वनियों के साथ पूर्ववर्णित विधि से (कर्ममण्डप तक) लाना चाहिये । इससे उचित दिशा न होने का दोष समाप्त हो जाता है ॥३४-३६॥

लिङ्गप्रमाण

लिङ्ग का स्थान - लिङ्ग के मान से विमान (देवालय) का प्रमाण अथवा देवालय के प्रमाण से लिङ्ग के मान का निर्धारण करना चाहिये । विद्वान व्यक्ति को गर्भ के मध्यसूत्र से वाम भाग मे कुछ ईशान कोण का आश्रय लेते हुये पूजा किये जाने वाले लिङ्ग को स्थापित करना चाहिये ॥३७॥

द्वार की चौड़ाई के इक्कीस भाग करने चाहिये । ब्रहमा के भाग में इसका मध्य भाग होता है । मध्यम भाग के छः भाग करने चाहिये । इसके वाम भाग में दो भाग छोड़कर उस भाग से सूत्र को पूर्व-उत्तर की ओर ले जाना चाहिये । इस सूत्र को ब्रहमसूत्र कहते है तथा वह सूत्र शिव के मध्य भाग को निर्दिष्ट करता है ॥३८-३९॥

नागरलिङ्ग

नागर शिवलिङ्ग - नागर मन्दिर में नागरप्रमाण से लिङ्ग का मान कहा गया है । गर्भ-गृह के (चौड़ाई के प्रमाण से) आधे प्रमाण से सबसे छोटा शिवलिङ्ग होता है । श्रेष्ठ (बड़ा) शिवलिङ्ग (गर्भगृह की चौड़ाई के) पाँच भाग करने पर तीन भाग के बराबर होता है । इन दोनों के मध्य में आठ भाग करने पर नौ शिवलिङ्ग निर्मित होते है । शिवलिङ्ग के श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद होते है तथा इनके भी (प्रत्येक के) तीन-तीन भेद होते है । इन लिङ्गो की चौड़ाई उनकी ऊँचाई के सोलह भाग में पाँच, चार या तीसरे भाग के बराबर होती है । इन्हे नागरभेद में जयद, पौष्टिक एवं सार्वकामिक कहा जाता है ॥४०-४२॥

द्राविडलिङ्ग

द्राविड शिवलिङ्ग - द्राविड गर्भगृह के इक्कीस भाग करने पर दसवें भाग के बराबर छोटे द्राविड लिङ्ग की ऊँचाई होती है एवं श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई तेरह भाग के बराबर होती है । इन दोनों के मध्य के अन्तर को उपयुक्त प्रकार से बाँटना चाहिये । द्रविड वर्ग के जयद आदि की ऊँचाई इक्कीस भाग में छः, पाँच एवं चार भाग के बराबर रक्खी जाती है ॥४३-४४॥

वेसरलिङ्गम्

वेसर शिवलिङ्ग - वेसर देवालय के पच्चीस भाग करने पर तेरह भाग से सबसे छोटा लिङ्ग निर्मित होता है । सबसे बड़ा लिङ्ग सोलह भाग के बराबर ऊँचा होता है । उनके मध्य भाग के आठ भाग करने पर पहले के समान नौ लिङ्ग निर्मित होते है । वेसर लिङ्ग के जयद आदि भेदों की ऊँचाई आठ, सात, छः (पच्चीस भाग में से) भाग के बराबर रक्खी जाती है ॥४५-४७॥
सभी प्रकार के लिङ्गों की चौड़ाई की परिधि सोलह में पाँच भाग के बराबर रक्खी जाती है । ये प्रमाण गर्भगृह के अनुसार कहे गये है । अब उनके हस्तप्रमाण को कहता हूँ ॥४८॥

<u>हस्ततो लिङ्गमानानि</u>

लिङ्गों का हस्तप्रमाण - एक हाथ से प्रारम्भ कर छः- छः अंगुल बढ़ाते हुये नौ हाथ पर्यन्त लिङ्ग के तैतीस भेद होते है । यदि देवालय बारह या उससे अधिक तल से युक्त हो तो ये तैतीस भेद पाँच हाथ से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त (छः-छः अंगुल) वृद्धि करते हुये निर्मित करना चाहिये । कुछ विद्वानों के मतानुसार एक हाथ से प्रारम्भ कर तीन-तीन अंगुल बढ़ाना चाहिये ॥४९-५०॥
यदि लिङ्ग के प्रमाण में ऊपर दिये मान से एक अंगुल कम या अधिक हो और ऐसा आयादि की दृष्टि से किया गया हो तो वह दोषपूर्ण नही होता है । छोटे, मध्यम एवं बड़े देवालय के लिये लिङ्ग के नौ मान होते है । ये पच्चीस अंगुल से प्रारम्भ होकर आठ या सोलह अंगुल बढ़ाते हुये होते है ॥५१-५३॥

<u>द्वारादितो मानानि</u>

द्वार आदि के अनुसार प्रमाण - श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई द्वार की ऊँचाई के बराबर तथा कनिष्ठ लिङ्ग की ऊँचाई उससे तीन भाग कम होती है । (अथवा) श्रेष्ठ लिङ्ग की ऊँचाइ स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भाग करने पर सात भाग के बराबर होती है । कनिष्ठ लिङ्ग नौ भाग में से पाँच भाग के बराबर होता है । उनके (ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ के) मध्य के अन्तर को आठ भाग बाँटना चाहिये । इससे नौ प्रकार के लिङ्गो की ऊँचाई बनती है । नागर आदि देवालय के लिङ्गो का व्यास पूर्ववर्णित मान के अनुसार रखना चाहिये ॥५४-५५॥
कुछ श्रेष्ठ ऋषियों के अनुसार कुम्भयोनि के बारे में कहा गया है कि देवालय की ऊँचाई अधिष्ठान से शिखर, ग्रीवा या स्तूपिकापर्यन्त मान को अंगुल-प्रमाण से विभाजित करना चाहिये (एवं उसके अनुसार लिङ्ग का मान निर्धारित करना चाहिये) । एक बार ऊँचाई का निर्णय कर लेने के पश्चात् उसमे अंगुल की वृद्धि या हानि नही होनी चाहिये ॥५६-५७॥

<u>आयादि</u>

आयादि - ऊँचाई में आठ का गुणा करना चाहिये एवं उसमें सत्ताईस का भाग देना चाहिये । शेष एक के सत्ताईस तक नक्षत्र का ज्ञान होता है । एक से अश्वयुज नक्षत्र होता है । ऊँचाई में चार का गुणा करना चाहिये । गुणनफल में नौ का भाग देना चाहिये । शेष से तस्कर आदि 'अंशक' प्राप्त होते है । इनमें (प्रथम तस्कर) अन्य भुक्ति, शक्ति, धन, राज, षण्ड, अभय, विपत् एवं समृद्धि - ये नौ क्रमशः अंशक होते है । इनमें तस्कर, विपत् एवं षण्ड वास्तुविदों द्वारा निन्दनीय है ॥५८-६०॥
ऊँचाई को आठ, नौ एवं तीन से गुणा करे एवं (प्राप्तांक) में बारह, दस एवं आठ से (क्रमशः) भाग देना चाहिए । शेष से धन, ऋण एवं योनि का ज्ञान होता है । यदि धन अधिक हो एवं ऋण कम हो तो चयन किया गया प्रमाण सम्पत्तिकारक होता है । योनियों में ध्वज, सिंह, वृष एव गज शुभ होते है

॥६१-६२॥
ऊँचाई को नौ सो गुणा करना चाहिये । गुणन-फल में सात से भाग देना चाहिये । शेष से सूर्य आदि सात दिन का ज्ञान होता है । इनमें क्रूर दिनों को छोड़ देना चाहिये । ॥६३॥
लिङ्ग के नक्षत्र का विरोध ग्राम या कर्ता के नक्षत्र से नही होना चाहिये । वह लिङ्ग देश, देश के स्वामी एवं उस देश की जनता के लिये शुभ होता है ॥६४॥

लिङ्गतक्षणम्

लिङ्ग का तक्षण = छेदन, कटाई- अभीप्सित लम्बाई एवं चौड़ाई से (शिला को) चौकोर बनाना चाहिये । इसके पश्चात् यथोचित देवता की आकृति उत्कीर्ण करनी चाहिये । इसे 'जाति' रूप कहते है । 'छन्द' रूप अष्टकोण या षोडशकोण होता है । वृत्ताकार लिङ्ग 'आभास' होता है । इस प्रकार लिङ्ग का छेदन तीन प्रकार का होता है ॥६५-६६॥
लिङ्ग की ऊँचाई के तीन भाग करना चाहिये । मूल में ब्रह्मा का भाग होता है, जो चौकोर होता है । मध्य का अष्टकोण भाग वैष्णव होता है । ऊर्ध्व भाग वृत्ताकार होता है तथा यह ईशभाग होता है ॥६७॥
अष्टकोण बनाने की तीन विधियाँ है । अभीष्ट मान (लिङ्गमान) से एक सम चतुरस्त्र (चौकोर) निर्मित करना चाहिये । अर्धकर्णों से दो रेखायें (कोण तक) खींचनी चाहिये तथा चतुरस्त्र के मध्य से रेखायें खीचनी चाहिये । इस प्रकार अष्टकोण निर्मित होगा । (द्रष्टव्य २५.५२) । चतुरस्त्र के एक चतुर्थांश एवं तीन भाग के बीच में मध्य पट्ट होता है । चौकोर की चौड़ाई के सात भाग करने पर तीसरे भाग में मध्य पट्ट होता है । इस प्रकार (अष्टकोण) तीन प्रकार से कहा गया है ॥६८-६९॥
अब षोडशास्त्र का लक्षण कहते है । कोण के अन्त से पट्टसूत्र-रेखा में तिलछे मिले सूत्र का पट्टार्ध से जो अंकित हो तो उसे षोडशास्त्र कहते है । इस प्रकार षोडशास्त्र के मध्य में कोटि छेदन से बुद्धिमान को वृत्त बनाना चाहिये, जो न ही ऊँचा होता है और न ही नीचा होता है । ॥७०-७१॥

सर्वतोभद्रादिलिङ्गप्रमाणम्

सर्वतोभद्र आदि लिंगो का प्रमाण - प्रथम प्रकार का लिङ्ग 'सर्वतोभद्र' दूसरा वर्धमान', तीसरा 'शिवाधिक' एवं चौथा 'स्वस्तिक' होता है । 'सर्वतोभद्र' लिङ्ग ब्राह्मण के लिये प्रशस्त होता है । 'वर्धमान' राजाओं को सुख एवं वृद्धि प्रदान करता है । 'शम्भुभागाधिक' वैश्यों को धन प्रदान करता है एवं 'स्वस्तिक' चतुर्थ वर्ण के लिये प्रशस्त होता है ॥७२-७३॥
सर्वतोभद्र लिङ्ग को तीस भागों में बाँटना चाहिये । दस भाग निचले भाग के लिये तथा उतना ही भाग मध्य एवं ऊर्ध्व भाग के लिये होना चाहिये । शम्भूभाग पूर्णतः गोल होता है । यह ब्राह्मणों एवं राजाओ के लिये प्रशस्त होता है ॥७४॥
वर्धमान लिङ्ग चार प्रकार के होते है । इसका निर्धारण ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवभाग की ऊँचाई से होता है । निचले भाग से प्रारम्भ करते हुये चार भाग (ब्रह्मा का), पाँच भाग (विष्णु का) एवं छः भाग शिवतत्त्व का होता है । (अथवा) पाँच, छः एवं सात भाग होता है । (अथवा) छः, सात या आठ भाग होता है । (अथवा अनृतः) सात, आठ एव नौ भाग होता है । यह लिङ्ग राजाओं को सभी प्रकार की सम्पतियाँ, विजय एवं पुत्रों की वृद्धि प्रदान करता है ॥७५-७६॥
शिवधिक लिङ्ग चार प्रकार का होता है । ब्रह्मा से प्रारम्भ कर तीन तत्त्व सात-सात एवं आठ भाग (या) पाँच, पाँच, छः भाग (अथवा) चार, चार, पाँच भाग एवं (अन्ततः) तीन, तीन, चार भाग होते है ।

यह लिङ्ग वैश्यों को सभी प्रकार की समृद्धी प्रदान करता है, जो संयमी है । ऐसा (विद्वानों द्वारा) कहा गया है । ॥७७-७८॥

स्वस्तिक लिङ्ग की ऊँचाई के नौ भाग करने चाहिये । इनमे दो भाग मूल के लिये, तीन भाग मध्य के लिये एवं चार भाग पूजा के लिये (उर्ध्व भाग) होता है । यह शूद्रो के लिये सभीकामनाओं को प्रदान करने वाला होता है ॥७९॥

<u>सुरार्चितादिलिङ्गभेदाः</u>

सुरार्चित आदि लिङ्गो के भेद - सुरार्चित लिङ्ग, धारालिङ्ग,साहस्त्रलिङ्ग एवं त्रैराशिक लिङ्ग सभी के कामनाओं को पूर्ण करता है ॥८०॥

(सुरगणार्चित) लिङ्ग की चौड़ाई उसकी लम्बाई के चौथे भाग के बराबर होती है एवं शेष पहले के समान होता है । इस लिङ्ग को सुरार्चित कहते है ॥८१॥

धारालिङ्ग सभी लिङ्गो के समान होता है । इसका मूल भाग आठ, सोलह या चार कोणों वाला होता है । इसका ऊपरी भाग दुगुना होता है । यह धारायुक्त धारालिङ्ग सभी वर्णो के लिये प्रशस्त होता है ॥८२॥

सर्वतोभद्र लिङ्ग में पूजाभाग में पच्चीस धारायें क्रमशः निर्मित की जायँ तथा प्रत्येक पर चालीस (लिङ्ग) निर्मित किये जायँ तो इस प्रकार सहस्त्र लिङ्ग निर्मित होते है एवं इसे साहस्त्रलिङ्ग कहते है ॥८३॥

त्रैराशिक लिङ्ग में वृत्ताकार भाग की परिधि सम्पूर्ण ऊँचाई के नौ भाग में छः भाग के बराबर होती है । अष्टास्त्र भाग की परिधि नौ मे सात भाग के बराबर एवं चौकोर भाग की परिधि नौ में आठ भाग के बराबर होती है । अज (ब्रह्म) के भाग की ऊँचाई नौ मे तीन भाग के बराबर, हरि (विष्णु) भाग की ऊँचाई नौ में तीन भाग तथा हर (शिव) भाग की ऊँचाई नौ में तीन भाग के बराबर होती है ॥८४॥

<u>आर्षलिङ्गम्</u>

आर्ष = ऋषि के अनुकूल लिङ्ग - ऋषियों के अनुकूल चार प्रकार के लिङ्ग होते है - सस्थूलमूल (तल में अधिक चौड़ा) लिङ्ग, यवमध्य (मध्य भाग में यव के समान) लिङ्ग, पिपीलिकामध्य (मध्य भाग में चींटी के समान) लिङ्ग तथा शिरः स्थूल (ऊपरी भाग में स्थूल) लिङ्ग । आवश्यकतानुसार तल, मध्य या ऊपरी भाग का विस्तार वाञ्छित विस्तार से आठ भाग कम होता है । आर्ष लिङ्ग में ब्रह्मा एवं विष्णु का भाग भली-भाँति चौकोर होता है ॥८५-८६॥

स्वयं प्रकट शिवलिङ्ग - स्वयम्भु लिङ्ग का आकार फलक के समान, द्विकोण, पञ्चकोण, त्रिकोण, ग्यारह, नौ, छः, सात तथा बारह कोण अथवा पूर्वोक्त से पृथक् कोण हो सकते है । इसका अग्र भाग शूल के समान एवं श्रृङ्ग के समान शिर हो सकता है । इसके शिरोभाग अन्य प्रकार के भी हो सकते है । ये मानयुक्त नही होते एवं प्रमाणसूत्र से पृथक् होते है (अर्थात् इनका कोई निर्धारित प्रमाण नही होता है) । ये ऊँचे-नीचे, झर्झर के समान छिद्रयुक्त, विवर्ण (अस्पष्ट वर्ण के) तथा पूजाभाग ऊँचा-नीचा हो सकता है । ये टेढ़े या सीधे, बालूयुक्त (प्रस्तर के), रेखा, चिह्न तथा बिन्दु से युक्त या एक रेखा से युक्त होते है । ये ही स्वयम्भु लिङ्ग कहलाते है । बुद्धिमान व्यक्ति को इन लिङ्गो के मूल स्वरूप का शोधन नही करना चाहिये । अज्ञानता से अथवा मोहवश मूल लिङ्गो का संशोधन दोषकारी होता है ॥८७-९०॥

शिरोवर्तनम्

शिरोभाग कि गोलाकार कटाई - स्थापना के समय लिङ्ग का (निचला) पूजा भाग पीठ के बराबर होना चाहिये । पूजाभाग वृत्ताकार या धारायुक्त हो सकता है । यह पूजक को मुक्ति प्रदान करने वाला होता है । अब क्रमानुसार लिङ्गो के शिरोभाग की गोलाकृति (निर्माण, कटाई) के विषय में कहा जा रहा है ॥९१-९२॥

मुनियों के अनुसार (लिङ्ग के शिरोभाग की) गोलाई पाँच प्रकार की होती है- छत्र के समान, त्रपुष (ककड़ी) के समान, कुक्कुट (मुर्गी के) अण्डे के समान, अर्धचन्द्र के समान या बुद्बुद के समान ॥९३॥

छत्राभ शिरोभाग की (गोलाई की ऊँचाई) चौड़ाई के सोलह भाग के बराबर या दो, तीन या चार भाग के बराबर होनी चाहिये । शीर्ष भाग से प्रारम्भ कर नीचे तक गोलाई दोनो पार्श्वो में उचित अनुपात में होनी चाहिये । प्रथम दो माप लिङ्गो के लिये सामान्य होते है । शैवाधिक लिङ्ग के लिये तिसरा माप होता है । वर्धमान लिङ्ग के लिये चार भाग का माप कहा गया है । मापों को एक-दूसरे में मिलाकर गोलाई का निर्माण अशुभ होता है ॥९४-९६॥

त्रपुषाकार लिङ्ग के गोलाई की ऊँचाई लिङ्ग की चौड़ाई के छः भाग में ढाई भाग के बराबर रक्खी जाती है । कुकुटाण्ड की ऊँचाई आधे माप से, अर्धचन्द्र की ऊँचाई तीसरे भाग के बराबर एवं बुदबुद की ऊँचाई आठ भाग में साढ़े तीन भाग माप से रक्खी जाती है ॥९७॥

सभी प्रकार के लिङ्गो का सामान्य नियम इस प्रकार है । लिङ्गो की गोलाई का माप लिङ्ग के ऊपरी भाग का तीसरा भाग होता है । यह शिरोमाप क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम एवं श्रेष्ठ लिङ्ग का होता है ॥९८-९९॥

लिङ्ग के शिरोभाग के अभीष्ट भाग को दोनो पार्श्वो मे (बराबर) रखना चाहिये । उसपर चार मत्स्याकृति निर्मित करनी चाहिये । प्रत्येक आकृति के मुख एवं पूँछ तक दो रेखाये खींचनी चाहिये । जहाँ उनका संयोग हो, वहाँ तीन बिन्दु लगाना चाहिये । इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक शिवलिङ्ग की वर्तना करनी चाहिये ॥१००॥

लक्षणोद्धरणम्

लक्षणों का उद्धरण - अब मै सभी लिङ्गो का लक्षणोद्धरण कहता हूँ । लिङ्गो की घिसाई चिकने पत्थर, महीन बालू के साथ गाय के बाल की रस्सी आदि से एक बार में करनी चाहिये एवं सावधानीपूर्वक लिङ्ग के चिह्नो की परीक्षा करनी चाहिये । इसके पश्चात शुभ लक्षणो का उद्धरण प्रारम्भ करना चाहिये । ॥१०१-१०२॥

मन्दिर के निकट रंग-बिरंगे वस्त्रों से अलंकृत मण्डप में शालि आदि धान्यों से युक्त सुन्दर स्थण्डिल पर आसन के ऊपर प्रस्तर-शयन पर, जो कि श्वेत वस्त्र से सज्जित हो, लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये । आचार्य एवं स्थपति नवीन वस्त्र, सुवर्ण एवं पुष्पादि से तथा पाँचो अंगो मे अलंकारो से सुसज्जित होकर तथा श्वेत पुष्प, लेप आदि से एवं उष्णीष (पगडी) आदि धारण कर सुन्दर बने ॥१०३-१०५॥

आचार्य नेत्र-मन्त्र का स्मरण करते हुये सोने की सूई से अजसूत्र, पार्श्वसूत्र तथा रेखा का लेखन करे ॥१०६॥

सुवर्ण अस्त्र से रेखाङ्कन प्रारम्भ कर स्थपति पुनः छोटे शस्त्र से हाथ में घी, दूध एवं मधु के साथ उचित रेखा बनाये, जिससे सुन्दर झरने का रूप बने ॥१०७॥

श्वेत वस्त्र से सभी अन्नों को ढँककर गाय, ब्राह्मण, गोवत्स तथा कन्या आदि को दिखाये तथा शेष को उचित रीति से बुद्धिमान को करना चाहिये ॥१०८॥

नागरलिङ्गलक्षणोद्धरणम्

नागर शिवलिङ्ग का लक्षणोद्धरण - प्रथम प्रकार के नागर लिङ्ग मे शिव-भाग की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये । छोटे लिङ्ग में छः भाग (मध्यम लिङ्ग में) चार भाग एवं (बड़े लिङ्ग में) तीन भाग ऊपरी भाग में एवं निचले भाग में तीन भाग छोड देना चाहिये । इस प्रकार सभी लिङ्गो की तीन प्रकार की ऊँचाई होती है । विष्णूभाग में पार्श्व में दो रेखाये खीचनी चाहिये । छोटे लिङ्गो में ये रेखायें चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पृष्ठ भाग में मिलती है । मध्यम लिङ्ग में ये रेखायें पाँच, चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पीछे मिलती है । श्रेष्ठ लिङ्ग में ये रेखाये छः, पाँच, चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पीछे मिलती है । श्रेष्ठ लिङ्ग मे ये रेखायें छः, पाँच, चार, तीन एवं दो भाग से होती हुई पीछे मिलती है । लिङ्ग की चौड़ाई (लम्बाई की) दो तिहाई होती है । या लिङ्ग की चौड़ाई पुरी लम्बाई तक समान एवं एक कृष्णल भाग (विशेष माप) कम होती है । इस प्रकार मय ने नागरलिङ्ग के सूत्र का भली-भाँति वर्णन किया ॥१०९-११३॥

द्राविडलिङ्गलक्षणोद्धरणम्

द्राविडलिङ्ग का लक्षणोद्धरण - द्राविड लिङ्ग के शिवतत्त्व की ऊँचाइ को पन्द्रह भाग में बाँटना चाहिये । सूत्र की लम्बाई हीन (छोटे) आदि क्रम से (मध्यम एवं श्रेष्ठ) नौ, दस या ग्यारह होनी चाहिये । आठ, नौ या दसवें भाग से सूत्र लटकाना चाहिये । इनका पृष्ठ भाग में संयोग, चार, तीन या दो पर (गोलाई बनाते हुये) होता है । यह माप छोटे लिङ्ग के लिये कहा गया है । पाँच, चार, तीन एवं दो मध्यम लिङ्ग के लिये तथा छः, पाँच, चार, तीन एवं दो भाग श्रेष्ठ लिङ्ग के कहा गया है । द्राविड लिङ्ग के सूत्र की चौड़ाई (शिवभाग की ऊँचाई की) आधी होती है ॥११४-११६॥

वेसरलिङ्गलक्षणोद्धरणम्

वेसरलिङ्ग का लक्षणोद्धरण - वेसर लिङ्ग के पूजाभाग की ऊँचाई को पन्द्रह भागों में बाँटना चाहिये । सूत्र की ऊँचाई को आठवें भाग से प्रारम्भ कर दस भाग तक रखना चाहिये । सूत्रों का संयोग पाँच, चार एवं तीन भाग पर (गोलाई बनाते हुये) होना चाहिये । सूत्र की चौड़ाई लिङ्ग की परिधि के सोलहवे भाग के बराबर होनी चाहिये । यह श्रेष्ठ वेसर-लिङ्ग का प्रमाण है ॥११७-११८॥
मध्यम लिङ्ग के (शिवतत्त्व) की ऊँचाई को आठ भागों में बाँटना चाहिये । सूत्र की ऊँचाई चार भाग होनी चाहिये । सूत्र तीन भाग से प्रारम्भ होकर दो या एक भाग पर संयुक्त होता है । सूत्र की चौड़ाई पौन भाग के बराबर होती है । छोटे वेसर लिङ्ग की (शिवभाग की) ऊँचाई को बारह भागों में बाँटना चाहिये । शेष प्रक्रिया पहले के समान होती है । सुत्र की चौड़ाई (शिवभाग के) दो भाग के बराबर होती है ॥११९-१२१॥

सूत्रयासगाम्भीर्य

रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई - सभी प्रकार के लिङ्गो में प्राप्त भाग (निश्चित किये गये भाग) मे नौ भाग करने पर एक भाग से रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई निर्मित करनी चाहिये । ये रेखायें स्पष्ट एवं नियमानुसार होती है । दृढमति व्यक्ति को आठ यवों को लेकर (आठ यव के माप से)

नौ भागों में बाँटना चाहिये । एक हाथ ऊँचे लिङ्ग में एक भाग से रेखा बनानी चाहिये । एक-एक भाग बढ़ाते हुये नौ हाथपर्यन्त लिङ्ग में आठ यव के माप से गहरी एवं लम्बी रेखा बनती है । ॥१२२-१२४॥

(अथवा एक हाथ से लिङ्ग में) आधे यव के माप से रेखाये निर्मित होनी चाहिये तथा श्रेष्ठ लिङ्ग मे साढ़े चार यवमाप से रेखाओं की चौड़ाई एवं गहराई रखनी चाहिये । (इसके मध्य प्रत्येक हाथ माप पर) आधे यव के माप को जोडते जाना चाहिये । मध्य सूत्र (रेखा) की चौड़ाई की आधी पार्श्व सूत्रों की चौड़ाई होती है । अन्य सभी रेखायें समान चौड़ाई एवं माप की होती है ॥१२५-१२६॥

सामान्यविधिः

सामान्य नियम - अब मै (मय) नागर आदि लिङ्गो के लक्षणोद्धरण के सामान्य नियमों का वर्णन करता हूँ । पूजा भाग की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये । इसमें नीचे दो भाग तथा ऊपर चार भाग छोड़ देना चाहिये । अग्र भागसहित सूत्र के दस भाग होते है । मणि रेखा दो भाग छोड़कर (पूजाभाग के) नीचे से प्रारम्भ करनी चाहिये । मुकुल को एक भाग छोड़कर वे रेखायें पृष्ठ भाग में जुड़ती है । मुकुल की चौडाई एक भाग के बराबर होनी चाहिये ॥१२७-१२९॥

अथवा लिङ्ग (के शिवभाग) की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये । नीचे एक भाग छोड़कर दस भाग नाल के लिये ग्रहण करना चाहिये । शेष कार्य पूर्व-वर्णित होना चाहिये । यह नियम सभी लिङ्गो के लिये सामान्य होता है ॥१३०॥

अथवा शिवभाग के बारह भाग करने चाहिये । दो भाग ऊपर एवं एक भाग नीचे छोड़ना चाहिये तथा नौ भाग (सूत्र तथा) अग्र भाग (मुकुल) के लिये ग्रहण करना चाहिये । शेष पूर्ववर्णित रीति से करना चाहिये ॥१३१॥

अथवा शिवभाग के अट्ठारह भाग करने चाहिये । दो भाग नीचे एवं पाँच भाग ऊपर छोड़ देना चाहिये । ग्यारह भाग अजसूत्र के लिये लेना चाहिये, जिसमें एक भाग मुकुल के लिये होता है । शेष पूर्ववत् होता है ॥१३२॥

अथवा शिवभाग के सोलह भाग करने चाहिये । दो भाग नीचे एवं चार भाग ऊपर छोड़कर दस भाग से सूत्र की ऊँचाई रखनी चाहिये । दो सूत्र आठवे भाग से प्रारम्भ कर पाँच, छः एवं आठ भाग से ले जाते हुये पृष्ठ भाग में एक भाग पर संयुक्त करना चाहिये । शेष सभी पहले के समान होता है ॥१३३-१३४॥

सूत्र को पहले भस्म लगे सूत्र के साथ लपेटना चाहिये । इसके घटिकाग्र (सूत्र का अग्र भाग) से चिह्न बनाकर पार्श्व भाग मे सूत्र से लक्षण अङ्कित करना चाहिये ॥१३५॥

सूत्राग्रलक्षणम्

सूत्र के अग्र भाग का लक्षण - सभी सूत्र के अग्र भाग पर गोला बनाना चाहिये । इसे लिङ्ग की आकृति के अनुसार या सामान्य नियम के अनुसार बनाना चाहिये । गोल आकृति सभी लिङ्गो में सामान्य है । यह पीपल के पत्ते के सदृश, कदली (केला) के मुकुल (कली) के समान, जौ के समान या कमलपुष्प की कली के समान होती है ।

सूत्र के अग्र-भाग की चौड़ाई (शिवतत्त्व के) भाग एक भाग के बराबर एवं ऊँचाई चौड़ाई के बराबर होती है ॥१३६-१३७॥

सूत्र के अग्रभाग का आकार लिङ्ग (के आकार) के अनुसार कहा जा रहा है । लिङ्ग के अग्रभाग की आकृति छत्र के समान होने पर सूत्राग्र गज-नेत्र के समान होता है । लिङ्ग का अग्र भाग अर्धचन्द्र के समान एवं बुदबुद के समान होने पर सूत्र का अग्र भाग शूल के अग्र भाग के समान होता है । लिङ्ग का अग्र भाग त्रपुषाभ (ककड़ी) होने पर सूत्राग्र कुक्कुट (मुर्गी) के अण्डे के समान होता है । कुक्कुट के अण्डे के समान लिङ्ग के अग्र-भाग के होने पर सूत्राग्र छत्र के समान होता है ॥१३८-१४०॥

मध्यम सूत्र की चौड़ाई लिङ्ग की परिधि के सत्रह भाग करने पर दो-तिहाई के बराबर होती है तथा पार्श्वसूत्र चौड़ाई मे उसके आधे होते है । लिङ्ग की लम्बाई मे सामान्य सभी नियम उसी प्रकार होते है ॥१४१-१४२॥

लिङ्गो की लम्बाई एवं चौड़ाई उनके नाम एवं भेदो के साथ, उष्णीष (शिरोभाग) का मान, छत्र के समान आदि (अन्य आकृतियाँ) एवं उष्णीषसूत्र का वर्णन मैने (मय ने) यहाँ नागर आदि क्रम से आवश्यकतानुसार किया ॥१४३॥

स्फाटिकलिङ्गम्

स्फटिक शिवलिङ्ग - अब मै (मय) छोटे, मध्यम एवं उत्तम स्फटिकलिङ्ग का क्रमशः वर्णन कर रहा हूँ । छोटे लिङ्ग के पूजा-भाग की ऊँचाई एक अंगुल से प्रारम्भ होकर एक-एक अंगुल बढ़ाते हुये छः अंगुल तक जाती है । मध्यम लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई सात अंगुल से प्रारम्भ होकर बारह अंगुल तक जाती है । उत्तम लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई छः प्रकार की होती है । यह तेरह भाग से प्रारम्भ होकर एक-एक अंगुल बढ़ाते हुये अट्ठारह भाग तक जाती है । (अथवा) ऊँचाई में डेढ़-डेढ़ अंगुल की वृद्धि करनी चाहिये । इस प्रकार (सभी लिङ्गो में) ग्यारह संख्याभेद प्राप्त होते है । श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ लिङ्गों के तैतीस ऊँचाई-मान (इस प्रकार) प्राप्त होते है ॥१४४-१४७॥

(पीठिका में स्थापित होने वाला) स्फटिकलिङ्ग के (अधोभाग के) पूजा भाग की ऊँचाई के आधे भाग या तीसरे भाग के बराबर होती है । पूजाभाग की चौड़ाई इसकी ऊँचाई के बराबर, तीन चौथाई या आधी होती है । स्फटिकलिङ्गो की आकृति धारा वाली या गोल होती है । इसके शिर की गोलाई नागर आदि लिङ्गो के सदृश होती है । मध्यम एवं श्रेष्ठ लिङ्ग में ब्रहमसूत्र पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये । विना ब्रहमसूत्र के यह वर-प्रदाता होता है
॥१४८-१५०॥

(लिङ्ग के पीठ की) चौड़ाई (लिङ्ग की) दुगुनी, ढाई गुनी या तीन गुनी होती है । पीठ का मण्डन (किनारा, घेरा) एवं नाल उचित रीति से निर्मित होना चाहिये । पिण्डिका (पीठ) की ऊँचाई पूजाभाग के बराबर या उसके तीन-चौथाई होनी चाहिये । ॥१५१-१५२॥

मृत्तिका-निर्मित एवं अन्य शिवलिङ्ग - लिङ्ग का निर्माण मृत्तिका, काष्ठ, रत्न एवं लौह (धाड) से स्फटिक के समान दृढ करना चाहिये । मृत्तिकानिर्मित लिङ्ग इच्छानुसार पक्का या कच्चा हो सकता है । काष्ठलिङ्ग दोषरहित (काष्ठ से) निर्मित होना चाहिये । धातु-निर्मित लिङ्ग घना (ठोस) होना चाहिये । लोहलिङ्ग घना होना चाहिये । लोहनिर्मित लिङ्ग अङ्गसहित मूर्ति अथवा अङ्गरहित (लिङ्गरूप) होता है । धातुनिर्मित लिङ्ग पूजित होने पर भोग एवं मुक्ति प्रदान करता है । शिला से भिन्न लिङ्ग को मणिलिङ्ग कहते है ॥१५३-१५५॥

अपनी जाति की वस्तु से अथवा लोहे से अथवा स्फटिक आदि धातु या रत्न से तत्तत लिङ्गो की रचना करनी चाहिये । स्फटिक से भिन्न वस्तु में पीठस्थान बनाना चाहिये । इस प्रकार लौहपीठ में रत्ननिर्मित प्रतिमा की स्थापना की जाती है । संकल्प के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु एवं शंकर के लिङ्ग की युक्तिपूर्वक स्थिति भोग एवं मोक्ष प्रादान करने वाली होती है ॥१५६-१५७॥

बाणलिङ्ग (स्वयम्भूलिङ्ग) को पीठिका में जिस प्रकार स्थित हो, उस प्रकार स्थापित करना चाहिये । इसका पूजाभाग पाँच में से तीन भाग, आधा या इसकी ऊँचाई का दो तिहाई होता है । शेष भाग बाणलिङ्ग में पीठबन्ध (पीठ से सम्बद्ध) होता है ॥१५८-१५९॥

(मणिलिङ्ग के लिये) पूर्णतः त्याज्य मणियाँ इस प्रकार है- रेखा, बिन्दु एवं कलङ्क आदि से युक्त, विवर्ण (रङ्ग का साफ न होना), मक्षिका (चिह्न) से युक्त (काक) पद के चिह्न से युक्त, दरार-युक्त एवं शर्करा (बालुका) युक्त मणियाँ ॥१६०॥

लिङ्गस्थापनम्

लिङ्ग की स्थापना - बुद्धिमान व्यक्ति को बडे लिङ्ग की स्थापना अधिष्ठाननिर्मित होने पर, मध्यम लिङ्ग की स्थापनादेवालय के आधा निर्मित होने पर तथा छोटे लिङ्ग की स्थापना देवालय के पूर्ण होने पर करनी चाहिये ॥१६१॥

लिङ्गस्थापनफलम्

लिङ्ग-स्थापना का फल - वर्णित विधि से स्थापित लिङ्ग श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करता है । कही गई विधि से स्थापना न करने पर स्वामी (स्थापक) के लिये विपत्तिकारक तथा नित्य रोग एवं शोक प्रदान करने वाला होता है ॥१६२॥

मयमतम् - अध्याय ३४

पीठ-लक्षण - अब मै (मय) निष्कल (जिसमे देवो के अंग न निर्मित हो) लिङ्गो एवं सकल (देवमूर्तियों) के पीठ (आधार) के सामान्य नियमो के अनुसार लक्षणों का वर्णन कर रहा हूँ ॥१॥

पीठद्रव्याणि

पीठों के द्रव्य - (पीठ एवं लिङ्गादि का) निर्माण एक ही जाति के द्रव्य से करना चाहिये । कई द्रव्यो का मिश्रण प्रशस्त नही होता है । कुछ विद्वान प्रस्तर एवं काष्ठनिर्मित लिङ्गादि मे पकी ईट से निर्मित पीठ के विषय मे कहते है । मणिलिङ्गो एवं धातुनिर्मित लिङ्गो में धातुनिर्मित पिण्ड होना चाहिये । स्त्री-शिला को लेकर लिङ्ग के पीठ का भली-भाँति निर्माण करना चाहिये ॥२-३॥

पीठप्रमाणम्

पीठ का प्रमाण - कनिष्ठ पीठ (लिङ्ग के) पूजाभाग का दुगुना होता है एवं श्रेष्ठ पीठ लिङ्ग की ऊँचाई के बराबर होता है । इन दोनों के मध्य आठ भाग करने पर नौ प्रकार के पीठ-विस्तार प्राप्त होते है । उत्तम, मध्यम एवं हीन के तीन-तीन भेद कहे गये है ॥४॥

अथवा हीन (सबसे छोटा) पीठ लिङ्ग की ऊँचाई का आधा एवं श्रेष्ठ पीठ लिङ्ग की ऊँचाई से चतुर्थांश कम होता है । इन दोनो के मध्य आठ भाग करने पर पीठ का व्यास पूर्ववर्णन के अनुसार होता है ॥५॥

पीठ की चौड़ाइ लिङ्ग की परिधि की तीन गुनी, परिधि के बराबर या गर्भगृह के तीसरे भाग के बराबर या चौथे भाग के बराबर अथवा लिङ्ग की चौड़ई की दुगुनी, ढाई गुनी या तीन गुनी होनी चाहिये ॥६-७॥

पीठ के विस्तार को आठ भाग कम रखना चाहिये । इसके ऊपर सजावट होती है । विस्तार को या तो आठ भाग कम रखना चाहिये या आठ भाग बढ़ाकर रखना चाहिये । सभी पीठों के मूल भाग (नीचे का) विस्तार जन्मभाग तक होता है एवं ऊपरी भाग का विस्तार महापट्टिका तक होता है । यह विष्णुभाग के बराबर, सवा भाग या डेढ भाग अधिक होता है ॥८-९॥

<u>पीठाकारः</u>

पीठ की आकृति - पीठ की आकृति चौकोर, अष्टकोण, षट्कोण, बारहकोण, सोलह कोण, वृत्ताकार या उन्ही में आयताकार हो सकती है । यह त्रिकोण या अर्धचन्द्र भी हो सकती है । इस प्रकार इसकी चौदह आकृतियाँ हो सकती है ॥१०-११॥

सम पीठ लिङ्गो के अनुकूल होते है । आयत पीठ सकल (मूर्तियों) के लिये होते है । त्रिकोण एवं अर्धचन्द्र पीठ क्रमशः निष्कल (लिङ्ग) एवं सकल (मूर्ति) के अनुकूल होते है ॥१२॥

<u>पीठनामानि</u>

पीठो के नाम - नौ पीठों के नाम इस प्रकार कहे गये है - भद्रपीठ, पद्मपीठ, वज्रपीठ, महाम्बुज, श्रीकर, पीठपद्म, महावज्र, सौम्यक एवं श्रीकामाख्य । त्रिकोण एवं अर्धचन्द्र पीठ अपने नाम के अनुरूप होते है ॥१३-१४॥

अब ऊँचाई एवं अनेक भागों के अनुसार पीठों के सजावटों का वर्णन किया जा रहा है ॥१५॥

<u>भद्रपीठम्</u>

भद्रपीठ - पीठ की ऊँचाई के पन्द्रह भाग किये जाते है । इसमें दो भाग से जन्म (प्लिन्थ), चार भाग से वप्र, डेढ़ भाग से पद्मक, आधे भाग से कुम्भ, दो भाग से क्षेपण, ऊर्ध्व भाग में आधे भाग से ग्रीव तथा उसी प्रकार क्षेपण की ऊँचाई होती है । दो भाग से पट्ट एवं आधे भाग स स्नेहवारी होती है । ये भद्रपीठ के सामान्य वैशिष्ट्य है, जो प्रसन्नता प्रदान करते है । ये ब्राहमणो, राजाओं, वैश्यों एवं दूसरो को श्री, सौभाग्य, आरोग्य एवं भोग प्रदान करते है ॥१६-१७॥

<u>पद्मपीठम्</u>

पद्मपीठ - पद्म पीथ की ऊँचाई को सोलह भागों में बाँटना चाहिये । दो भाग से पट्ट, पाँच भाग से पद्म, दो भाग से वृत्त, चार भाग से दल, दो भाग से पट्ट एवं एक भाग से घृतवारि होना चाहिये ॥१८॥

<u>वज्रपद्मपीठम्</u>

वज्रपीठ - पीठ की ऊँचाई के चौदह भाग होते है । जन्म डेढ़ भाग से, निम्न आधा भाग से, पद्म साढे तीन भाग से क्रमशः होते है । पट्ट एवं निम्न आधे-आधे भाभ से तथा वज्र, निम्न एवं कम्पक पहले के समान होते है । तीन भाग से पद्म, आधे भाग से निम्न, उसके ऊपर डेढ़ भाग से

पट्टिका होती है । हवन के लिये आधे भाग से पीठ का निर्माण करना चाहिये । इस पीठ का नाम वज्रपीठ है एवं यह सभी लिङ्गो के लिये प्रशस्त होता है ॥१९-२०॥

महाब्जपीठम्

महाब्ज पीठ - पीठ की ऊँचाई के अट्ठारह भाग करने चाहिये । जन्म ढाई भाग से, अब्ज चार भाग से, पट्ट आधे भाग से, निम्न डेढ भाग से, पङ्कज ढाई भाग से, वृत्त आधे भाग से, अब्ज आधे भाग से, निम्न आधे भाग से, पट्ट तीन भाग से, पंकज आधे भाग से निर्मित होते है । श्रीपट्ट डेढ़ भाग से एवं उसका स्नेह-भार आधे भाग से होता है । इस पीठ की संज्ञा महाब्ज होती है एवं यह मनुष्यों तथा ऋषियों द्वारा निर्मित लिङ्ग के लिये प्रशस्त होता है ॥२१-२२॥

श्रीकरपीठम्

श्रीकर पीठ - पीठ की ऊँचाई के सोलह भाग करने चाहिये । एक भाग से जन्म, तीन भाग से वप्र, चार भाग से पद्म, आधे भाग से ह्रद, दो भाग से वृत्त, आधे भाग से धृग, तीन भाग से पद्म, डेढ़ भाग से पट्टिका, स्नेहवारि आधे भाग से तथा उसकी चौड़ाई भी उतने ही भाग से होती है । नाल का व्यास तीन या चार भाग से एवं इसका निर्गम तीन भाग से होता है । इसका अग्र श्रीप्रदान करने वाला होता है एवं यह पीठ श्रीकर संज्ञक होता है ॥२२-२४॥

पीठपद्मपीठ

पीठपद्म पीठ - पीठपद्म पीठ की ऊँचाई को दस भागों में बाँटा जाता है । खुर डेढ़ भाग, निम्न आधा भाग, अब्ज ढाई भाग, पट्ट आधा भाग, निम्न आधा भा, पट्ट आधा भाग, अब्ज ढाई भाग, निम्न आधा भाग, पट्ट डेढ़ भाग एवं निम्न आधा भाग से निर्मित होता है ॥२५॥

महावज्रसौम्यपीठे

महावज्र एवं सौम्य पीठ - पीठ की ऊँचाई को पन्द्रह भागों में बाँटना चाहिये । जन्म डेड़ह भाग से, निम्न एक भाग से, पट्ट चार भाग से अथवा जन्म डेढ़ भाग से, निम्न एक भाग से, पङ्कज चार भाग से, वज्र ढाई भाग से, वृत्त डेढ भाग से, कञ्ज ढाई भाग से, उसके ऊपर पट्ट डेढ़ भाग से एवं निम्न आधे भाग से होता है । इस सौम्य पीठ को महावज्र कहते है । यह सभी प्रकार की सम्पतियाँ प्रदान करता है । वही जब वृत्त वज्राकार हो तो उस सौम्य पीठ को तुङ्ग कहते है । यह सम्पत्ति एवं आयु प्रदान करता है ॥२६-२७॥

श्रीकाम्यपीठ

श्रीकाम्य पीठ - पीठ की ऊँचाई को बारह भाग में बाँटा जाता है । जन्म एक भाग से, वप्र दो भाग से, निम्न आधे भाग से, पद्म डेढ़ भाग से, धृग्दल डेढ़ भाग से, वृत्त डेढ़ भाग से, अब्ज डेढ़ भाग से, धृक् आधे भाग से, पद्म आधे भाग से, पट्टिका डेढ़ भाग से एवं निम्न आधे भाग से होता है । इसे श्रीकाम्य पीठ कहते है, जिसका वर्णन मैने (मय ने) किया ॥२८-२९॥

पीठसामान्यलक्षण

पीठ के सामान्य लक्षण - भवनों के अधिष्ठान इस प्रकार होने चाहिये, जिससे कि उसके अलंकरण उस (भवन) के अनुसार हो अर्थात भवन एवं अधिष्ठान (अथवा पीठ) में एकलयता हो । सभी पीठों के अंगो के प्रवेश एवं निर्गम इस प्रकार निर्मित होने चाहिये कि जिससे पीठ दृढ, सुन्दर एवं उचित लगे ॥३०-३१॥

पीठ के प्रणाल का मूल-विस्तार एवं लम्बाई क्रमशः पीठ के विस्तार के तीसरे भाग तथा चौथे भाग के बराबर होती है । प्रणाल के अग्रभाग का विस्तार मूल के विस्तार के आधे, दो तिहाई या तीसरे भाग के बराबर होता है । इसकी मोटाई इसकी चौड़ाई के तीन चौथाई के बराबर होती है ॥३२-३३॥
प्रणाल की आकृति हाथी के ओष्ठ के समान या गाय के मुख के समान होनी चाहिये । इसके निम्न खात (गड्ढा) की चौड़ाई प्रणाल की चौड़ाई के तीसरे भाग के बराबर मूल एवं अग्र भाग में होनी चाइये । अभीष्ट दिशा में लिङ्ग होने पर पीठ के मध्य के वाम भाग में प्रणाल होता है । इसे आधारयुक्त बनाना चाहिये ॥३४-३५॥
अग्र पट्ट की चौड़ाई इसकी लम्बाई के बराबर या सवा भाग, आधा या तीन चौथाई इसकी दृढ़ता के अनुसार रखनी चाहिये । मुनियों के अनुसार उस पट्ट का गर्त पट्ट की मोटाई के बराबर गहरा बनाना चाहिये । इस खात के तल को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये, जिससे कि उसका तल क्रमशः बढते हुये लिङ्ग से मिले । शिवतत्त्व का मूल पीठ के ऊपरी तल से थोडा नीचा होना चाहिये । यदि उस उससे ऊँचा होगा तो सभी का अशुभ होता है ॥३६-३८॥
अर्धचन्द्र पीठ का धनुषाकार भाग द्वार के सामने होना चाहिये तथा त्रिकोण पीठ का सीधा भाग द्वार के सम्मुख होना चाहिये । विद्वानों के अनुसार पीठ के कोण को द्वार-सूत्र का वेध नही करना चाहिये ॥३९॥
एक ही पत्थर से विना सन्धि के निर्मित पीठ शुभ होता है । यदि एक ही पत्थर न प्राप्त हो तो पीठ का ऊपरी भाग एक पत्थर का होना चाहिये । छोटे एवं बड़े पीठ में मध्य भागों में सन्धि नही होनी चाहिये ॥४०-४१॥
ऊपरी भाग में पीठ के भागो की सन्धि अन्त में होनी चाहिये । प्रणाल के मध्य में, (पीठ के) आधे भाग के मध्य में एवं कोणों पर सन्धि नही होनी चाहिये ॥४२॥
लम्बे एवं छोटे भागों के दक्षिण एवं वाम भाग को नियमानुसार जोड़ना चाहिये । पीठ के निचले भाग को तीन खण्डो में अथवा आवश्यकतानुसार बनाना चाहिये ॥४३॥

ब्रह्मशिला

ब्रह्मशिला - ब्रह्मशिला की सबसे बडी चौड़ाइ लिङ्ग की ऊँचाई के बराबर होती है । सबसे छोटा माप लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई का दुगुना होता है । इन दोनों के मध्य के अन्तर को आठ भागों में बाँटते है । इस प्रकार विस्तार के नौ प्रकार बनते है । इसकी सबसे अधिक मोटाई विस्तार की आधी होती है एवं सबसे कम मोटाई चौडाई की चतुर्थांश होती है । इन दोनों के मध्य के भेद को पहले के समान बाँटते है ॥४४-४५॥
अथवा ब्रह्मशिलाकी श्रेष्ठ चौड़ाई लिङ्ग की परिधि की दुगुनी होती है । सबसे कम चौड़ाई (लिङ्ग की परिधि) डेढ गुनी होती है । इसकी मोटाई चौड़ाई की तीन चौथाई होती है । सबसे कम माप चौड़ाई की आधी होती है । व्यास एवं मोटाई (या ऊँचाई) के दोनो मापों के मध्य के भेद पहले के समान नौ भेद बनते है ॥४६॥
(लिङ्ग के) ब्रह्म भाग को स्थापित करने के ल्ये (ब्रह्मशिला) के मध्य में ब्रह्मतत्त्व के आकार के अनुसार गड्ढा बनाना चाहिये । गर्त की गहराई उसकी चौड़ाई के आधी होती है अथवा लिङ्ग के निचले भाग की ऊँचाई के आठवे भाग के बराबर होती है । इसमें रत्नों को रखना चाहिये एवं इसमें

लिङ्ग के मूल भाग को भली भाँति- दृढतापूर्वक स्थापित करना चाहिये । ब्रह्मशिला को नपुंसक शिला से निर्मित करनी चाहिये ।॥४७-४९॥

नन्द्यावर्तशिला

नन्द्यावर्त शिलाये - चार शिलाये प्रदक्षिणक्रम से ब्रह्मशिला एवं पीठ के मध्य के अवकाश में नन्द्यावर्त आकृति निर्मित करती है ॥५०॥

प्रतिमापीठ

प्रतिमाओं के पीठ - मूर्तियों की पीठों में कुछ स्थानक (खड़ी) एवं कुछ आसन (बैठी) प्रतिमाओं के अनुकूल होती है । आसन-प्रतिमाओं के (पीठ की चौड़ाई) (उन प्रतिमाओं से) एक, दो, तीन, चार, पाँच या छः अंगुल अधिक होती है । इसकी लम्बाई उसकी चौड़ाई से आठ भाग अधिक होती है । पीठ की चौड़ाई (प्रतिमा की) चौड़ाई के दुगुने से अधिक नही होनी चाहिये ॥५१-५२॥

पीठ की ऊँचाई प्रतिमा की ऊँचाई के तीसरे भाग के बराबर होती है, यदि शयन प्रतिमा हो । आसन-प्रतिमा में चौथे भाग एवं स्थानक प्रतिमा में पाँचवे भाग के बराबर पीठ होता है । शयन प्रतिमा के (पीठ की) लम्बाई एवं चौड़ाई यथोचित (पूर्ववर्णित) रीति से ग्रहण करनी चाहिये ॥५३॥

ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के आसन को सिंहासन कहते है । जब इसे पीठ पर स्थापित किया जाता है, तब इसके पाद सिंह के सदृश होते है । इसके तीन और तरङ्गे निर्मित होती है एवं यह विभिन्न अलंकरणो से सुसज्जित होता है । इस सिंहासन की निर्माणविधि को देखकर इसक अलंकरण करना चाहिये ॥५४-५५॥

पीठमान प्रासादमान

पीठ के प्रमाण के अनुसार प्रासाद का प्रमाण - बाणलिङ्ग आदि के, ऋषियों द्वारा निर्मित लिङ्गो के तथा स्वयम्भू लिङ्गो के पीठो का निर्माण बुद्धिमान व्यक्ति इच्छानुसार प्रासाद की आकृति का कर सकता है । पूर्ववर्णित पुरुषनिर्मित लिङ्गो के पीठ के विस्तार आदिके माप पहले कहे गये नियमो के अनुसार होने चाहिये । पीठों के प्रमाण के अनुसार विमान (देवालयो) के विस्तार का सम्यक प्रकार से वर्णन किया जा रहा है । नालीगेह (गर्भगृह) का विस्तार पीठ का दुगुना, चौगुना या पाँच गुना होना चाहिये या पहले के समान (माप के अनुसार) निर्मित करना चाहिये । इसकी भित्ति की मोटाई इसके तीसरे भाग या आधे के बराबर होती है । यह अन्धार (परिक्रमामार्ग) से युक्त या विना अन्धार के हो सकती है । कूट एवं कोष्ठ आदि पहले के सदृश (निर्मित) होते है । प्रासाद का वर्णन लिङ्ग के प्रमाण के अनुसार किया गया है, जिसकी ऊँचाई पहले के समान होती है ॥५६-६०॥

बेरमानत प्रासादमान

बेर - प्रतिमा के मान के अनुसार देवालय का प्रमाण - देवालय का निर्माण जिस प्रकार भवन के स्तम्भ एवं द्वार के प्रमाण के अनुसार होता है, उसी प्रकार प्रतिमा के प्रमाण के अनुसार भी होता है । इसी प्रकार आकारयुक्त प्रतिमा के अनुसार भी देवालय का निर्माण करना चाहिये । (गर्भ) गृह का विस्तार बेर की लम्बाई के बराबर, उससे डेढ गुना या दुगुना होना चाहिये । (अथवा) बेर के पाँच भाग में तीन भाग के बराबर विस्तार रखना चाहिये । (अथवा) बेर (की लम्बाई) गृह के विस्तार के चार भाग, तीन भाग या आधे के बराबर एवं (गर्भगृह की चौड़ाई) (उसकी ऊँचाई) की आधी होनी चाहिये ॥६१-६३॥

अष्टबन्धसंग्रहण

अष्टबन्ध= गारा का संग्रह - लाक्षा (लाख), गुड, मधु, उच्छिष्ट गुग्गुल की समान मात्रा एवं इसका दुगुना सर्जरस (साल वृक्ष का रस) लेना चाहिये । इसमें गैरिकचूर्ण एवं इसका आधा घनचुर्ण (सम्भवतः ईट का चूर्ण) लेना चाहिये । इन सभी का आधा तेल लेकर लोह (धातु) के पात्र में डालना चाहिये । इन सभी को लोह (धातु) के कलछुल से चलाकर (मिलाकर) धीमी आँच पर पकाना चाहिये । इसे अष्टबन्ध कहते है । यह प्रस्तर के समान दृढ़ता से जोड़ता है ॥६४-६६॥

गर्भगृह में बेर के स्थान - (देवालय) कर्ता की इच्छा के अनुसार एक या अनेक लिङ्गों की स्थापना करनी चाहिये । इसे मध्य में, भित्ति के पार्श्वों में या जहाँ जहाँ चारो ओर चाहे, स्थापित किया जा सकता है । देवालय एक या कई हो सकते है । इनमे शूल एवं लिङ्ग वाला भवन अन्य भवनों से बड़ा होना चाहिये । शेष भवनो को बुद्धिमान स्थपति को उससे हीन बनाना चाहिये ॥६७-६८॥

गर्भ-गृह को उनचास भागों में बाँटना चाहिये । मध्य के आठ भागों में ब्रह्मा का पद होता है । चारो ओर आठ भाग आठो देवताओं के लिये, इसके बाहर सोलह भाग मनुष्यों के लिये एवं बाहर के चौबीस भाग पिशाच के लिये होते है ॥६९॥

शिवलिङ्ग को ब्रह्मा के भाग मे, विष्णु को देवों के भाग में,अन्य देवोम को मनुष्यों के भाग में, पिशाचभाग में मातृदेवों, असुरों, राक्षसों, गन्धर्व आदि देवो, यक्षो एवं अन्य शेष देवों की स्थापना करनी चाहिये । मध्य मे ब्रह्मा का सूत्र होता है । उसके वाम भाग में शिव तथा दोनो के मध्य में विष्णुसूत्र होता है । देवों को क्रमशः विष्णुसूत्र पर स्थापित करना चाहिये । ये सूत्र दिशाओं से खींचे जाते है ॥७०-७१॥

लिङ्ग सकल (अंगो से युक्त), अकल (अंगविहीन) या मिश्रित हो, बुद्धिमान स्थपति को सावधान होकर स्थिरतापूर्वक उसे स्थापित करना चाहिये । (स्थपति को) सुवर्ण यज्ञोपवीत तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर, सभी प्रकार के वैभव से युक्त होकर (लिङ्ग के) स्थापक के साथ (शिवलिङ्ग) की स्थापना करनी चाहिये । सर्वात्म लिङ्ग (सामान्यतया आकृतिहीन होने के कारण) आकाशरूप होते है । इसलिये मनुष्यनिर्मित लिङ्ग ही स्थापना के योग्य होते है । विद्वान अवसर के अनुसार इसे अवकाशयुक्त (पर्याप्त बड़े) देवालय में स्थापित करते है । वे मुर्ध्नेष्टका (शिरोभाग की शिला) को लिङ्गस्थापना के पश्चात स्थापित करते है ॥७२-७३॥

इस प्रकार निष्कल लिङ्गो के पीठ, आसन, मण्डन एवं प्रणाल होते है । मनुष्यनिर्मित लिङ्गो को देवालय में नियमानुसार स्थापित किया जाता है ॥७४॥

मयमतम् - अध्याय ३५

जीर्णोद्धार- विधान -

अब मै (मय) हर्म्यो (मन्दिरो), लिङ्गो, पीठो, प्रतिमाओं एवं अन्य वास्तु-निर्माणों के अन्य लक्षणों से अनुकर्मविधि का संक्षेप में उनके क्रम से भली-भाँति वर्णन करता हूँ ॥१॥

भवनजीर्णोद्धार

भवन का जीर्णोद्धार - भवन (देवालय) टूट सकता है, गिर सकता है, टेढ़ा हो सकता है, पुराना हो सकता है या जीर्ण हो सकता है । अथवा इसकी जाति, छन्द, विकल्प या आभास संस्थान से भिन्न हो सकती है । अथवा इसकी जाति, छन्द, विकल्प या आभास संस्थान से भिन्न हो सकती है । जिन (देवालयों) का लक्षण स्पष्ट न हो, वहाँ स्थापित लिङ्ग के भेद के अनुसार (अनुकर्मविधान होना चाहिये) इसमें अन्य द्रव्य, अच्छे द्रव्य, नवीन घर, विस्तार एवं ऊँचाई आदि से उचित आय आदि का निर्धारण तथा अलंकरण आदि से (अनुकर्म होना चाहिये) ॥२-४॥

जिन देवालयों के प्रधान अंगो एवं उपांगो के लक्षण प्राप्त हो रहे हो, उनका (अनुकर्मविधान) उन्ही के द्रव्यों से करना चाहिये । यदि उनमें किसी तत्त्व की कमी हो या कोई और अभाव हो तो विद्वानों के अनुसार उसे पूर्ण करना चाहिये । इससे वे पूर्णता को प्राप्त करते है एवं सौम्य रीति से द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । यह सब ऊँचाई आदि के अनुसार होना चाहिये एवं उनको सौष्ठिक एवं कोष्ठ आदि अलंकारो से युक्त करना चाहिये । विना उसमें कुछ जोड़े उसके वास्तविक स्वरूप को बनाये रखना चाहिये ॥५-७॥

नागर देवालय में नागर देवालय (का अनुकर्म-विधान) कहा गया है । इसी प्रकार द्राविड देवालय में द्राविड एवं वेसर देवालय में वेसर प्रशस्त कहा गया है । अर्पित भवन में भी अर्पित (भवन का अनुकर्म-विधान) होना चाहिये । अर्पित से भिन्न भवन (देवालय) में अर्पित से भिन्न भवन (का अनुकर्म-विधान) होना चाहिये ॥८॥

विद्वान व्यक्ति को वास्तु (भवन) निर्माण में सभी योजनीय भागों को उचित रीति से प्रयत्नपूर्वक जोड़ना चाहिये । विमान को प्राकार से संयुक्त करना चाहिये । साल भवन के भीतर एवं बाहर प्राकार विकल्प से होता है (अर्थात् हो भी सकता है, नही भी हो सकता है) । देवालय में गतियों (चलने का मार्ग) का निर्माण नियमानुसार होना चाहिये, जिनका वर्णन मै (मय) यहाँ कर रहा हूँ । इनकी ऊँचाई मूल भवन के समान या उससे अधिक होनी चाहिये, अथवा इच्छानुसार स्वीकरणीय होता है । दिशाओं में जिनकी योजना की जाती है, उनकी ऊँचाई मूल भवन के समान होती है । दिक्कोणों में यह अधिक ऊँची होती है, किन्तु विमान के निष्क्रम को आठवे भाग या चौथे भाग से अधिक नही होना चाहिये । इसे आवश्यकतानुसार निर्मित करना चाहिये ॥९-११॥

साल की वृद्धि उत्तर दिशा, पूर्व दिशा या चारो ओर नियमानुसार करनी चाहिये । भवन के जीर्ण होने पर निर्माणकार्य उसी स्थान पर या अन्य स्थान पर करना चाहिये । वास्तुविद दिशाओं एवं दिक्कोणों में या उससे बाहर इसका निर्माण प्रशस्त नही मानते । इससे विपरीत करने पर विपत्ति

आती है; अतः पूर्वोक्त क्रम से ही निर्माण करना चाहिये । नष्ट वास्तु को छोड़कर पुनः गर्भविधान (शिलान्यास) से भवननिर्माण करना चाहिये ॥१२-१४॥

लिङ्गजीर्णोद्धार

लिङ्ग का जीर्णोद्धार - संसार मेम विज्ञजन इन लिङ्गों को सदाशिव (सदा अशिव, अप्रशस्त) कहते है । ये है- गिरा हुआ लिङ्ग, फूटा हुआ, जिसके चारो ओर चलना कठिन हो, टेढा, अधोगत लिङ्ग, लिङ्ग से ऊर्ध्वगत लिङ्ग, किसी की कल्पना से निर्मित लिङ्ग, अज्ञानी द्वारा स्थापित लिङ्ग, टूटा हुआ लिङ्ग, जला हुआ लिङ्ग, जीर्ण लिङ्ग, टूटा-फूटा लिङ्ग, चारो द्वारा छोड हुआ लिङ्ग, दूषित स्थान का लिङ्ग, अशुद्ध व्यक्ति द्वारा छुआ गया लिङ्ग एवं विपरीत नियमो से युक्त लिङ्ग ॥१५-१७॥

यदि लिङ्ग गिर जाय तथा किसी अज्ञानी व्यक्ति द्वारा उसे स्थापित कर दिया जाय तो उसके स्थान पर दूसरा ऐसा लिङ्ग स्थापित करना चाहिये, जिसे सूर्य की किरणें भी न स्पर्श की हो । जो लिङ्ग अपवित्र वस्तुओं के मध्य में रक्खा हो, या जो पीठ के खात के निचले तल का स्पर्श करे, अथवा जो पीठिका के ऊपर न दिखाई पडे, उसे 'तुच्छ' लिङ्ग कहते है । जिस लिङ्ग की दिशा सही न हो, वह भी उसी प्रकार (तुच्छ) होता है । विद्वान् व्यक्ति वक्र एवं वक्रवृत्तं लिङ्ग को माप के अनुसार ठीक कर सकता है ॥१८-२०॥

जो लिङ्ग ज्ञात काल तक भूमि में गड़ा हो, उसे अधोगत लिङ्ग कहते है । इसे बाहर निकाल कर इसका माप करना चाहिये । अज्ञात काल से गड़े लिङ्ग को ऊर्ध्वगत लिङ्ग कहते है । यदि इसमें कोई दोष न हो तो उसे पुनः उसी स्थान पर स्थापित करना चाहिये ॥२१-२२॥

यदि लिङ्ग नदी में गिर जाय तो उसे निकाल कर उसके पुराने स्थान से एक सौ दण्ड दूर दिव्य लिङ्ग की विधि से पवित्र स्थान पर पूर्वमुख विधिपूर्वक स्थापित करना चाहिये ॥२३॥

यदि कोई लिङ्ग सभी लक्षणों से युक्त हो; किन्तु मन्त्र एवं क्रिया से रहित एवं अज्ञानतापूर्वक स्थापित हो तो उसे विधिपूर्वक पुनः स्थापित करना चाहिये । हीन, जले हुये, जीर्ण, फूटे एवं टूटे हुये लिङ्ग को, चाहे उसकी पूजा हो रही हो । तो भी उसका त्याग कर नवीन लिङ्ग की पुनः स्थापना करते समय अज्ञानतावश ऊपर का भाग नीचे स्थापित हो जाय, या इसका मुख अन्य दिशा में हो, या अचानक विपरीत हो जाय तो उस लिङ्ग का तुरन्त परित्याग कर उसके स्थान पर नियमपूर्वक नवीन लिङ्ग की स्थापना करनी चाहिये ॥२४-२६॥

सभी लक्षणों से युक्त होने पर भी तल या अक्ष (अर्थात् उचित आकृति न होने पर) से रहित होने पर अथवा त्याज्य क्षेत्र में होने पर वह लिङ्ग स्थापना के योग्य नही होता है, अतः उसका पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिये । उसके स्थान पर नवीन लिङ्ग की विधिपूर्वक स्थापना करनी चाहिये । यदि किसी लिङ्ग को चोर छोड़ गये हो एवं वह पञ्च-सन्धान के भीतर गिरा हो तथा वह लिङ्ग दोषरहित हो तो उसे वही पर विधिपूर्वक स्थापित करना चाहिये ॥२७-२८॥

चाण्डाल एवं शूद्र आदि द्वारा स्पर्श किया गया लिङ्ग (पूजा के लिये) अयोग्य कहा गया है । यदि नदी के तट पर स्पर्श किया गया हो एवं वह लिङ्ग मन्दिरविहीन हो तो उसे पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में अन्यत्र पवित्र स्थान पर ले जाकर पूर्ववर्णित विधि द्वारा लाये गये लिङ्ग के समान सम्यक् प्रकार से स्थापित करना चाहिये । यदि बेर (प्रतिमा) को भी परिस्थितिवश नये स्थान पर

ले जाया एवं वह दोषहीन हो तो उसे स्थापित करना चाहिये । इस विषय में यदि कुछ न कहा गया हो तो जो कुछ लिङ्ग के लिये कहा गया है, उसी विधि को मानना चाहिये ॥२९-३१॥

कुछ विद्वानों के मतानुसार यदि लिङ्ग बारह वर्षों से अधिक समय तक शून्य (पूजा आदि से रहित, त्यक्त) रहा हो तो ऐसे लिङ्ग को दोषरहित होने पर भी ग्रहण नही करना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को उसे शीघ्र ही नदी में प्रवाहित कर देना चाहिये ॥३२॥

पीठजीर्णोद्धार

पीठ का जीर्णोद्धार - शिला आदि द्वारा निर्मित पीठं यदि दोषरहित हो तभी उसका ग्रहण करना चाहिये । ब्रह्मशिला, अन्य द्रव्य एवं पिण्ड आदि का ग्रहण पहले के समान करना चाहिये ॥३३॥

विना लक्षण के, हीन (अपूर्ण), टूटे-फूटे पीठ का त्याग कर पूर्ववर्णित विधि से पीठ का निर्माण करना चाहिये । पाषाणनिर्मित पीठ के स्थान पर पाषाणनिर्मित तथा काष्ठमय पीठ के स्थान पर काष्ठमय पीठ निर्मित करना चाहिये । यदि पूर्व पीठ गिर जाय तो पहले के समान उचित रीति से निर्माण करना चाहिये । प्रस्तर के प्राप्त न होने पर या इष्टका-निर्मित पीठ होने पर पीठ को इष्टका से ही निर्मित करना चाहिये ॥३४-३६॥

बेरजीर्णोद्धार

बेर का जीर्णोद्धार - यदि प्रस्तरनिर्मित या काष्ठनिर्मित बेर (प्रतिमा) अपूर्ण हो तो उसका तुरन्त त्याग कर नवीन प्रतिमा की पूर्ववर्णित विधि से स्थापना करनी चाहिये । उचित माप से युक्त होने पर भी यदि बेर जीर्ण हो या टूट-फूट जाय तो उसका त्याग कर उसके स्थान पर नवीन बेरे स्थापित करना चाहिये ॥३७-३८॥

धातु-निर्मित या मृत्तिकानिर्मित बेर हाथ, नाक, पैर, आभूषण, कान एवं दाँत आदि से रहित हो तो उसे उसी द्रव्य (धातु में धातु एवं मृत्तिका में मृत्तिका) द्वारा (उन अंगो को) दृढ किया जाता है; किन्तु यदि प्रधान अंग से रहित हो तो उसे त्याग कर दूसरी नवीन प्रतिमा की स्थापना करनी चाहिये ॥३९॥

सामान्यविधि

सामान्य नियम - देवालय, लिङ्ग, पीठ या प्रतिमाओं में (जीर्णोद्धार करते समय) उन्ही द्रव्यों या उत्तम द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । हीन द्रव्यों का प्रयोग कभी नही करना चाहिये । (उपर्युक्त के) जीर्ण हो जाने पर जो विद्वान उसका निर्माण (जीर्णोद्धार) करना चाहता है, उसे उसी द्रव्य से पूर्ववर्णित रीते से विधिपूर्वक सम (ठीक) करना चाहिये । यदि उपर्युक्त हीन (कम या छोटे) हो तो उसे पूर्व-रूप के बराबर करना चाहिये । उससे अधिक करने पर शुभ की कामना करने वाले को सदा सर्वदा अभीष्ट की प्राप्ति होती है ॥४०-४२॥

हीन का निर्माण श्रेष्ठ द्रव्यों से करना चाहिये या पहले प्रयुक्त द्रव्य से करना चाहिये । इसका माप गर्भगृह, स्तम्भ एवं द्वार आदि के प्रमाण के अनुसार होना चाहिये । यदि प्रतिमा मृत्तिका-निर्मित हो तो उसे जल में प्रवाहित करना चाहिये । काष्ठ-निर्मित को अग्नि में प्रज्ज्वलित करना चाहिय । धातुनिर्मित को अग्नि में जलाने पर शुद्ध रूप (धातु) प्राप्त होता है ॥४३-४४॥

ग्रामादि का जीर्णोद्धार - ग्राम आदि का, गृह आदि का तथा शाला आदि का व्यास एवं लम्बाई (जीर्णोद्धार के समय) मूल से कम नही होना चाहिये । यह प्रशस्त नही होता, ऐसा श्रेष्ठ मुनियों का मत है । इसे उसके बराबर बनाये या उससे अधिक बनाना चाहिये । आवश्यकतानुसार इसे चारो

ओर बढाना चाहिये अथवा पूर्ववर्णित दिशा में बढ़ाना चाहिये । दक्षिण या पश्चिम दिशा में बढ़ाने पर वस्तु (गृह) का विनाश होता है ॥४५-४६॥
गृह या मालिका में ऊपर के तल पूर्वसंख्या के अनुसार निर्मित करना चाहिये । उससे कम करना उचित नही होता है । इसक अनिर्माण पूर्ववर्णित क्रम से करना चाहिये ॥४७॥

<u>बालस्थापन</u>

बाल-स्थापन - निर्माण-कार्य के आरम्भ मे अथवा जीर्ण होने या टूटने पर, हीन अंगो (अपूर्ण) के निर्माण में, लिङ्ग अथवा बेर (प्रतिमा) के गिरने, फूटने, प्रधान अंग के हीन होने (टूटने या खोने) पर, पीठबन्ध के समय बाल-स्थापन (सामयिक स्थापना) करनी चाहिये ॥४८॥
प्रधान भवन के उत्तर में नौ स्तम्भो पर (बाल भवन) का स्थापन करना चाहिये । बाल-स्थापन का माप प्रधान भवन के तीसरे, चौथे, पाँचवे या छठे भाग के बराबर होता है । अथवा इसका माप तीन, चार, पाँच, छः या सात हाथ छोटे या बड़े (भवन के) अनुसार होना चाहिये ॥४९॥
(बालभवन की) भिति की मोटई प्रधान भवन के भूतल के स्तम्भ की दुगुनी या तिगनी होती है । शेष गृह नीचे होते है । यह (बालभवन) सभा या मण्डप हो सकता है ॥५०॥
(लिङ्ग की ऊँचाई) गर्भगृह के चतुर्थांश से लेकर आधे तक हो सकती है । इन दोनो मापों के मध्य के अन्तर को आठ से भाग देने पर (लिङ्ग) के नौ ऊँचाई के माप प्राप्त होते है । लिङ्ग की परिधि उसकी ऊँचाई के बराबर होती है । यह अच्छी गोलाई से युक्त होता है एवं इसका शिरोभाग छत्र के समान एवं सूत्रहीन होता है ॥५१॥
तरुण लिङ्ग के नौ प्रमाण प्राप्त होते है । यह स्थापक के अंगुलि-प्रमाण से पन्द्रह अंगुल माप से प्रारम्भ होता है एवं एक-एक अंगुल प्रत्येक में बढ़ाया जाता है । इसे पीठ में इसकी लम्बाई के तीसरे या चौथे भाग के बराबर गहराई में स्थापित किया जाता है ॥५२॥
तरुण लिङ्ग की सबसे अधिक ऊँचाई प्रधान भवन के मूल भाग के बराबर होती है एवं सबसे कम ऊँचाई उसकी आधी होती है । इन दोनों के मध्य के अन्तर को आठ से भाग देने पर ऊँचाइयों के नौ भेद प्राप्त होते है ॥५३॥
तरुण प्रतिमा की ऊँचाई के नौ भेद प्राप्त होते है । इसे सात अंगुल से प्रारम्भ कर प्रत्येक (अगले चरण पर) दो अंगुल बढ़ाते जाना चाहिये । यह विधि सकल (अंगयुक्त) एवं सकल (अंगविहीन) दोनों (प्रकार के प्रतिमाओं, लिङ्गों) के लिये कही गई है ॥५४॥
जब कोई तरुण प्रतिमा पूजन के लिये निर्मित हो तो उसकी सबसे अधिक ऊँचाई मूल चल प्रतिमा की आधी तथा सबसे कम ऊँचाई उसके चतुर्थांश होनी चाहिये । इन दोनों मापो के मध्य के माप को आठ से भाग देने पर ऊँचाई के नौ प्रमाण प्राप्त होते है ॥५५॥
तरुण पीठ की सबसे अधिक ऊँचाई एवं विस्तार मूल अचल पीठ के बराबर होती है एवं सबसे कम माप उसका तीन चौथाई होता है । इन दोनों मापों के मध्य के अन्तर में आठ से भाग देने पर ऊँचाई एवं विस्तार के नौ माप प्राप्त होते है ॥५६॥
तरुण देवालय में प्रतिमा या लिङ्ग प्रस्तर, लोह (धातु) अथवा काष्ठनिर्मित होते है । (बाल अथवा तरुण) लिङ्ग के लिये अनुकूल वृक्ष सरल, कालज, चन्दन, साल, खदिर, मारुत, पीपल एवं तिन्दुक ॥५७॥

तरुणालय में स्थापित होने वाली लिङ्ग या प्रतिमा होनी चाहिये । जब तक प्रधान देवालय का निर्माण नही होता है एवं जब तक वाञ्छित लक्ष्य सिद्ध नही हो जाता, तब तक के लिये ही इसे करना चाहिये । प्राचीन मनीषियों के अनुसार तरुणालय को बारह वर्ष से अधिक नही करना चाहिये । यह सीमा अन्य कार्योम के लिये भी है । यदि अवधि इससे अधिक हो तो सभी प्रकार के दोष उत्पन्न होते है ॥५८॥
इस प्रकार मन्दिरों, लिङ्गो, पीठों, मूर्तियों, ग्राम आदि आवासयोग्य स्थानोंमे यदि दोष आ जायँ तो उनके अवश्य करने योग्य अनुकर्म-विधि का वर्णन किया गया । इनसे भिन्न विधि सभी प्रकार के दोषों का कारण बनती है ॥५९॥

मयमतम् - अध्याय ३६

प्रतिमालक्षण

प्रतिमा के लक्षण - अब ब्रह्मा आदि देवों एवं देवियों के विन्यास, रंग, आयुध, वाहन, अलंकार, चिह्न एवं विमान का क्रमशः वर्णन किया जा रहा है ॥१॥

ब्रह्म

ब्रह्मा - ब्रह्मा के चार मुख, चार भुजायें, तपाये गये सोने के समान वर्ण तथा विद्युत के प्रकाश की किरणों के समान पीली जटाये होती है, जिन पर मुकुट बँधा होता है । ये कुण्डल, बाजूबन्द, हार, मृगचर्म एवं उत्तरीय से सुशोभित होते है । उत्तरीय (ऊपरी भाग में ओढ़ा जाने वाला वस्त्र, चादर) को जनेऊ के समान गलान्त तक रखना चाहिये ॥२-३॥
उनके बभ्रु वर्ण (भूरी, पीली) के ऊरु भाग मे मौञ्जिक (मूँज की) मेखला रहती है । वह श्वेत तथा पवित्र माला एवं वस्त्र धारण किये रहते है । दाहिने दोनो हाथो में अक्षमाला एवं कूर्च (कूँची) होती है । वाम भाग के (दोनो हाथों में) कमण्डलु एवं कुश होता है । अथवा दक्षिण हाथों में स्त्रुक् (काष्ठनिर्मित चम्मच, जिससे हवन किया जाता है) एवं स्त्रुव (काष्ठनिर्मित यज्ञीय पात्र) होता है तथा वाम हस्तों में घी का पात्र एवं कुश होता है । या निचले हाथ वरद (वर देने वाली) मुद्रा एवं अभय मुद्रा में होते है । ये जटा एवं मुकुट से सुशोभित होते है ॥४-५॥
इनके वाम भाग में सावित्री एवं दक्षिण भाग में भारती, ऋषि-गण एवं परिवार निर्मित होते है । ब्रह्मा हंस पर आरूढ़ एवं कुश के ध्वज से युक्त होते है । (अथवा) ब्रह्मा को पद्मासन पर बैठे या खड़े निर्मित करना चाहिये ॥६-७॥

विष्णु

विष्णु - विष्णु किरीट, मुकुट, केयूर एवं कटक आदि आभूषणों से युक्त, करधनी से अलंकृत, पीत वस्त्र धारण किये एवं चतुर्भुज होते है । (उनके हाथ) वरद मुद्रा, अभय मुद्रा, शंख एवं चक्र से युक्त होते है । वे पवित्र है । वे बैठे अथवा खड़े रहते है । उनके वाम भाग में अवनि (पृथ्वी) एवं

दक्षिण भाग में रमा (लक्ष्मी) होती है । अच्युत प्रभु का वर्ण श्याम होता है एवं वह पीठ पर अथवा कमल पर स्थित होते है ॥८-९॥

(विष्णु की प्रतिमा) ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में तथा आठो दिशाओं में प्रशस्त होती है । श्री, लक्ष्मी एवं भूमि को प्रकाश से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों वाली होनी चाहिये । विद्वानों के अनुसार मोक्षकामियों को एक (यही) प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये । इनका ध्वज एवं वाहन गरुड़ कहा गया है ॥१०-११॥

वराह

वराह - वराह के दो हाथ वरदं एवं अभयमुद्रा में होने चाहिये एवं वे भुजाओं से पृथ्वी को उठाये हो । वे पैर से सर्पराज को आक्रान्त किये हो एवं उनका वर्ण तपे हुये सोने के समान होना चाहिये । वे पीले रंग के जनेऊ एवं सभी अलंकारों से सुसज्जित हो । वराह की प्रतिमा का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है ॥१२-१३॥

त्रिविक्रम

त्रिविक्रम - प्रलयकालीन बादल के समान, गर्भगृह के भित्ति के सहारे खडे, पञ्चायुध शरीर वाले त्रिविक्रम होते है । वामन की प्रतिमा भी इसी प्रकार होती है ॥१४॥

नारसिंह

नारसिंह - नारसिंह (की प्रतिमा) वैष्णव है । इनका मुख सिंह का, अत्यन्त रूक्ष (भयानक), उग्र दाँत एवं वे अत्यन्त बली होते है । उनकी माँसल जाँघें मुड़ी होती है एवं वे रोम तथा माला से युक्त होते है । वे कुण्डल से युक्त, स्थूल जिह्वा वाले, करण्ड एवं मुकुट से अलंकृत होते है । उनका वर्ण श्वेत होता है । (नारसिंह) विशाल शरीर मंगलमय एवं प्रचण्ड वेग से युक्त होते है । उनके दस या आठ हाथ होते है एवं वे तीक्ष्ण दाँत एवं नख से युक्त होते है । वे पीले जनेऊ, पुष्पमालाओं से अलंकृत होते है तथा हार, केयूर, कटक एवं कटिसूत्र आदि से सुशोभित होते है । नारसिंह देव रक्त वस्त्र धारण किये हुये रहते है एवं युद्ध में उनके दोनो हाथो में अस्त्र नही होते । उनके दोनो हाथ हिरण्यकशिपु के वक्षःस्थल को विदीर्ण करते है । पूर्वोक्त रीति से (नारसिंह) आसीन मुद्रा में होते है एवं सभी देवता उनका अभिवन्दन करते है ॥१५-१९॥

विद्वानों के अनुसार शत्रुओं के विनाश के लिये नारसिंह की प्रतिमा को पर्वतशिखर पर, गुफा में अथवा शत्रुओं के क्षेत्र में वन में स्थापित करना चाहिये ॥२०॥

ग्राम आदि में चतुर्भुज, शंख एवं चक्र धारण किये, सभी आभरणों से सुसज्जित, पीत वस्त्र धारण किये, पवित्र नारसिंह देव को वायव्य कोण में खड़ी या बैठी मुद्रा में स्थापित करना चाहिये । (आसीन मुद्रा में) इनके दो हाथ शक्तिशाली जानुओं पर स्थित होते है एवं उनकी जङ्घायें पट्टिका के ऊपर उठी होती है । उनकी मुद्रा दण्ड होती है (अथवा उनके हाथ में दण्ड हो) अथवा अभय मुद्रा होती है । अथवा अन्य मुद्रा होती है । उन्हे योगपट्ट से लपेटना चाहिये । इनकी स्थानक (खडी मुद्रा) प्रतिमा पद्माकार पीठ पर वरद एवं अभय मुद्रा वाले हाथों से युक्त होनी चाहिये । (नारसिंह की यह प्रतिमा) शान्ति, पुष्टि, जय, आरोग्य, भोग, ऐश्वर्य एवं धन प्रदान करती है ॥२१-२४॥

अनन्तशायी

अनन्तशायी - (अनन्तशायी विष्णु का) शयन करता हुआ रूप अनन्त रूप वाली शय्या पर निर्मित करना चाहिये । यह (सर्परूप) शय्या तीन मेखला (तीन कुण्डली मारी हुई) एवं पाँच या सात फणों से युक्त होनी चाहिये । देवता का शिर पूर्व या दक्षिण दिशा में होना चाहिये । इनकी दो भुजायें होनी चाहिये एवं देवता को प्रभु (भास्वर, प्रकाशमान) होना चाहिये । दक्षिण हस्त में दण्ड होना चाहिये अथवा उनका हाथ शिर को धारण किये हो (सहारा दिये हो) । उनके बाँये हाथ में पुष्प होना चाहिये । इस प्रकार (अनन्तशायी) योगनिद्रा मे होते है । कृत (सतयुग) आदि युगों में इनका वर्ण क्रमशः श्वेत, पीत, अञ्जन के समान कृष्ण एवं श्याम होता है ।इनके आभूषण पहले के वर्णन के अनुसार होने चाहिये ॥२५-२७॥

(अनन्तशायी की) नाभि से उत्पन्न कमल पर ध्यानस्थ धाता आसीन रहते है । श्री एवं भूमि को हाथ में पुष्प लेकर शिर की ओर एवं पैर की ओर स्थापित करना चाहिये । देवता के पार्श्व में पुष्प से युक्त (उनका) हाथ हो, दूसरा घूटने पर फैला हो । देव का वाम पैर श्री की ओर एवं दक्षिण पैर भूमि की ओर होना चाहिये । शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग धनुष एवं खड्ग का अंकन अपने रूप में होना चाहिये ॥२८-३०॥

शंख का स्वामी वामन पुरुष होता है, जिसका वर्ण श्वेत होता है । चक्र रक्त वर्ण का पुरुष है । गदा सोने के वर्ण की स्त्री होती है । शार्ङ्ग कृष्ण वर्ण का पुरुष होता है । खड्ग श्यामल वर्ण की, सभी आभरणों से आभूषित स्त्री होती है । ये सभी वाम भाग मे स्थित होते है । वाम हस्त में सूचियाँ (चिह्न) होती है एवं दक्षिण हाथ उठा होता है । सभी अनेक वर्णों के वस्त्र धारण किये होते है एवं उनके सिर पर अस्त्र रक्खे होते है । (देवता के) पार्श्व भाग में क्रोधित मधु एवं कैटभ (असुरों) को स्थापित करना चाहिये । सुरेन्द्र को अन्य देवों एवं महर्षियों के साथ पूर्वमुख होना चाहिये । ॥३१-३२-३३॥

हित की कामना करने वालों को नियमानुसार हरि को ग्राम आदि वास्तु के मध्य में अथवा बाहर दिशाओं एवं दिक्कोणों में स्थापित करना चाहिये ॥३४॥

<u>महेश्वर</u>

महेश्वर- (महेश्वर के) उर्ध्व भाग में पिशंग वर्ण (भूरा लाल) की जटायें सुवर्ण एवं अग्नि के समान भास्वर होती है । उनके ऊरू सघन होते है । वे किरणसमूह से युक्त चन्द्रमा को अपनी जटाओं में धारण करते है । वे चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों वाले, सौम्य एवं पूर्ण युवावस्था से युक्त होते है । (महेश्वर) विस्तृत वक्ष वाले, वृष पर सवार, श्रृंखला, अंकुश एवं पाश धारण किये रहते है । इनकी भुजायें विस्तृत एवं ऊँची होती है तथा गज के सूँड के समान होते है । वे हार एवं नूपुर, कटक, कटिसूत्र, नागनिर्मित कुण्डल, उदर-भाग को बाँधने वाली मेखला से युक्त एवं मृगचर्म से युक्त होते है ॥३५-३८॥

(महेश्वर की) दस या आठ भुजायें सभी प्रकार के अलंकरणों से युक्त होती है । दाहिने हाथ में शक्ति, शूल, असि, गदा एवं अग्नि होती है । वाम हस्त में नाग, खट्वाङ्ग, खेटक, कपाल एवं नागपाश होते है । व्याघ्रचर्म के वस्त्र को धारण किये शिव प्रसन्न (भाव से युक्त) होते है । अष्टभुजाओं वाले महेश्वर उपर्युक्त अस्त्रों में गदा एवं असि से रहित होते है । ये बैठे हुये, खड़े अथवा वृष पर आरूढ होते है एवं वृषध्वज से युक्त होते है ॥३९-४१॥

(महेश्वर) भृंगी वाद्य एवं नृत्य तथा (अन्य) वाद्यों से प्रसन्न होकर नाचते हुये, नन्दि आदि गणों से युक्त, देवादिकों से सेवित रहते है । हित की कामना करने वालों के द्वारा (महेश्वर की) स्थापना ग्राम या नगर में करनी चाहिये ॥४२॥

षोडशमुर्तय

सोलह मूर्तियाँ - अब मै (मय) महेश्वर की सोलह प्रकार की मूर्तियों का वर्णन क्रमशः नियमानुसार करता हूँ । सुखासन, विवाह, उमास्कन्द, वृषारूढ, पुरारि, नृत्त, चन्द्रशेखर, अर्धनारी, विष्ण्वर्ध, चण्डेशानुग्रह, कामारि, कालनाश, दक्षिणामूर्ति, भिक्षाटन, मुखलिङ्ग एवं लिङ्गसम्भूत ॥४३-४५॥

सोलह मूर्तियों के सामान्य लक्षण इस प्रकार वर्णित है । (महेश्वर) तीन नेत्रों, चार भुजाओं, शिर पर बालचन्द्र, व्याघ्रचर्म का वस्त्र धारण किये, हार एवं केयूर से अलंकृत, जनेऊ से युक्त तथा दो कुण्डलों से विभूषित होते है । अब क्रमशः प्रत्येक के रूप का पृथक-पृथक वर्णन किया जा रहा है ॥४६-४८॥

सुखासनमूर्त्तिः

सूखासन मूर्ति आसन पर सुखपूर्वक बैठे हुये वरद एवं अभय मुद्राओं में हाथ वाले महेश्वर के दाहिने हाथ में टङ्क (परशु) एवं वाम हाथ में कृष्ण (हिरण) निर्मित करना चाहिये । वाम पैर आसन पर शयित । (लेटा हुआ, मोड़ कर रक्खा हुआ) एवं दाहिना पैर पीठ पर टिका होना चाहिये । जिनका वर्णन यहाँ न किया गया हो, वह सब पूर्ववर्णन के अनुसार सुखासन मूर्ति में होना चाहिये । इस प्रकार की मूर्ति की पूजा निश्चित रूप से मोक्ष प्रदान करती है ॥४९-५०॥

वैवाहमूर्त्ति

(महेश्वर की मूर्ति को) थोड़ा त्रिभङ्गी (तीन स्थान पर मुडी हुई) निर्मित करना चाहिये । वाम पैर मुड़ा होना चाहिये । देवता का दाहिना हाथ देवी के हाथ से जुड़ा होना चाहिये । देवता का बाँया हाथ वरदमुद्रा में होना चाहिये । (शेष दो हाथ) कृष्ण (मृग) एवं परशु से युक्त होना चाहिये । हर (शिव) सभी आभरणों से युक्त एवं क्षौम वस्त्र (रेशमी वस्त्र) धारण किये होने चाहिये ॥५१-५२॥

देवी को देवता के बाहु के माप (बाहु के बराबर ऊँचाई) का निर्मित करना चाहिये । देवी को दो बाहु से युक्त, दो नेत्रो वाली, सुन्दर मुख वाली, श्याम वर्ण की, कोमल तथा थोड़ी टेढी निर्मित करना चाहिये । गौरी को केयूर, कटक, अंगूठी से युक्त, सिर पर करण्डिका एवं सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत होना चाहिये । गौरी दुकूल-वस्त्र धारण किये एवं हाथों में कमल लिये होती है । इनके चरण-कमल नूपुर आदि अलंकरणों से शोभायमान होते है । (इस प्रकार की) गौरी को (हर देव के) दाहिने भाग में स्थापित करना चाहिये ॥५३-५५॥

लक्ष्मी को सुवर्ण वर्ण की दो भुजाओं एवं दो नेत्रों से युक्त तथा सभी आभूषणों से युक्त उमा के पार्श्व में निर्मित करना चाहिये । शिला अथवा विष्णुमूर्ति पर जलधारा डालनी चाहिये । सोलह पटल वाले कमल पर आसीन ब्रहमा विवाह-हवन के सम्मुख हो । इस प्रकार सभी देवगणों से युक्त, देवों द्वारा पूजित देवता का कल्याण (विवाह) निर्मित करना चाहिये । यह (मूर्ति) सभी प्रकार का कल्याण करने वाली एवं सिद्धि प्रदान करने वाली होती है ॥५६-५८॥

सोमास्कन्दमूर्त्ति

सोमाकन्द मूर्ति - (महेश्वर देव को अर्धचन्द्र के आकार के आसन पर आसीन निर्मित करना चाहिये । उनके वाम भाग में गौरी हो । उनका हाथ उमा के साथ हो (महेश्वर का एक हाथ उमा को पकड़े) । देवी का हाथ छिपा हो । उमा एवं महेश्वर के अपने-अपने रूप का जैसा वर्णन पहले किया गया है, वैसा ही निर्माण होना चाहिये । विद्वान को देवी को देवता के वाम भाग में निर्मित करना चाहिये ॥५९-६०॥

उमा एवं शंकर के बीच में बालरूप में स्कन्द होते है । उमा एवं स्कन्द के साथ शंकर को सुखासन में निर्मित करना चाहिये । उमा एवं स्कन्द से युक्त देवता (शंकर) सभी कामनाओं की पूर्ति करते है । अर्थ एवं सिद्धि प्रदान करते है ॥६१॥

वृषारूढमूत्ति

वृष पर आरूढ मूर्ति - उमा एवं ईश्वर (शिव) पीठ पर स्थित होते है एवं वृषभ पीछे स्थित होता है । शिव की बाँई कोहनी वृष के मस्तक पर रक्खी होती है । दाहिना हाथ लटका रहता है । बायें हाथ में शूल होता है । (शेष दो हाथों में) कृष्ण (मृग) एवं परशु होता है । इसे वृषारूढ (शिवमूर्ति) कहते है । इस मूर्ति की पूजा दारिद्र्य के विनाश के लिये होती है एव यह सभी प्राणियों का कल्याण करती है ॥६२-६४॥

त्रिपुरान्तकमूर्ति

त्रिपुरान्तक - (भगवान शिव) दक्षिण पैर पर भली-भाँति स्थित होते है एवं बायाँ पैर मुड़ा होता है । ये धनुष एवं बाण से युक्त तथा कृष्ण (मृग) एवं परशुसे युक्त होते है । ये वृषभ द्वारा खींचे जा रहे पर स्थित होते है एवं सभी देवगणों से युक्त होते है । त्रिपुर का वध करने वाले देव (शिव) को उमा के सहित निर्मित करना चाहिये । शत्रुओं के विनाश के लिये त्रिपुरसुन्दर का पूजन करना चाहिये ॥६५-६६॥

नृत्तमूर्त्तय

नृत्य करती मूर्तियाँ - भुजंगललित नृत्य को यहाँ सन्ध्या नृत्य कहा गया है । इनके दाहिने हाथ में डमरू एवं बाँये हाथ में अग्नि रहती है । (अन्य) दाहिने हाथों में त्रिशूल, परशु, खड्ग एवं बाण होते है । बाँये हाथों में खेटक, पिनाक, दण्ड एवं पाश होते है ॥६७-६८॥

इनके पैर नृत्य की सुन्दर गति से प्रकाशमान होते है । दाहिना पैर मुड़ा होता है एवं वाम जानु तक उठा होता है । बाँयी एड़ी तथा दाहिने घुटने के मध्य में मुख की ऊँचाई का तीन गुना अन्तर होता है । अपने स्थान से उठे हुये दाहिने पैर के मध्य नौ में से आठ भाग के बराबर अन्तर पूर्ववर्णन के अनुसार होना चाहिये । बाँये पैर का निर्गम आवश्यकतानुसार रखना चाहिये ॥६९-७१॥

मुख सीधा होना चाहिये; किन्तु शरीर तीन स्थानों से थोडा झुका होना चाहिये । दाहिना हाथ अभय मुद्रा में हो, जिसका अंगूठे का अन्तिम भाग स्तन तक होना चाहिये । डमरू उठाया हाथ कान की चूली तक उठा होना चाहिये । गज के सूँड के समान बाँयाँ हाथ बाँये पैर के समीप तक होना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को (दूसरे) बाँये हाथ को अग्नि से युक्त निर्मित करना चाहिये एवं बाहु के बराबर ऊँचा रखना चाहिये ॥७२-७३॥

(शिव के) बाहु एवं कक्ष के मध्य का अन्तर उतना ही होना चाहिये । (शिव) व्याघ्र का चर्म धारण करते है । बाँये एवं दहिने हाथ से सर्प की आकृति बनानी चाहिये या वाम हस्त अभय मुद्रा में होना चाहिये । (देवता की) बँधी जटायें तक (बगुले) के पंखो से सजी होती है । उनकी बँधी जटा

में कपालों की माला लिपटी होती है एवं उसमें चन्द्रमा होता है । उनके जटाओं की संख्या पाँच, सात या नौ होती है ॥७४-७६॥

उनके वाम भाग में(देवता के) तीन भाग के बराबर गौरी होनी चाहिये एवं दाहिने भाग में नन्दिकेश्वर होना चाहिये । दोनों नृत्य एवं संगीत से प्रसन्न होते है एवं भृङ्गी पूर्ववर्णन के अनुसार नृत्य करते है । (शिव) देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध एवं विद्याधरों से युक्त होते है । उनके दोनों पार्श्वों में मुनिगण होते है एवं वे देवगणों से सेवित होते है । देवता को पीठ पर स्थित या कमल पर स्थित स्थापित करना चाहिये । उनके पैर का आधार अपस्मार होता है एवं यहाँ सर्प भी वर्णित है । नृत्यमूर्ति की पूजा का परिणाम तुरन्त शत्रु का नाश करने वाला होता है ॥७७-७९॥

चन्द्रशेखरमूर्त्ति

चन्द्रशेखर मूर्ति - चन्द्रशेखर की मूर्त्ति को सीधी खड़ी, वरद एवं अभय मुद्रा में हाथों से युक्त एवं कृष्ण (मृग) तथा परशु से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥८०॥

अर्धनारीश्वरमूर्त्ति

अर्धनारीश्वर मूर्त्ति - वाम भाग में उमा एवं दाहिने भाग में ईश होना चाहिये । (दाहिना भाग) अत्यन्त पीत वर्ण की जटा, मुकुट एवं अनेक प्रकार (के अलंकरणों) से अलंकृत होना चाहिये । आधा वाम भाग धम्मिल सीमन्त (माँग) से युक्त होना चाहिये एवं मस्तक पर तिलक होना चाहिये । दाहिने कान में वासुकि सर्प का कुण्डल होना चाहिये । बाँये कान में ताडिक एवं पालिका (आभूषणविशेष) होना चाहिये । ॥८१-८२॥

(दोनों) दाहिने हाथों के कपाल, शूल या टंक, (परशु) होना चाहिये । बाँये हाथ में कमल होना चाहिये तथा वह केयूर एवं कटक (बाजूबन्द एवं कंगन) से सुसज्जित होना चाहिये । दाहिने बाग में पवित्र (यज्ञोपवीत) हो एवं वाम में अक्षमाला होनी चाहिये । गले का वाम भाग हार से युक्त तथा दक्षिण भाग अग्नि से युक्त होना चाहिये । ॥८३-८४॥

उमा के आधे भाग में स्तन एवं दाहिने (शिव के) भाग में पीन वक्ष होना चाहिये । दाहिने आधे शिव के भाग में कमर पर व्याघ्रचर्म से निर्मित वस्त्र होना चाहिये । उमा वाला आधा भाग कटिसूत्र (करधनी) तथा रंग-बिरंगे वस्त्रों से आच्छादित होना चाहिये ॥८५-८६॥

देवता एवं देवी के दोनो पैर एक ही पद्मपुष्प पर स्थित रहते है; किन्तु वाम पाद नूपुर से सुसज्जित एवं थोड़ा झुका होता है । देवी का वाम पाद अंगुलीय (बिछिया) से अलंकृत होता है ॥८७॥

अथवा, देवता को चतुर्भुज निर्मित करना चाहिये । उमा के (दूसरे हाथ में) शुक होना चाहिये । ईश (शिव) का आधा भाग रक्त वर्ण का एवं उमा का आधा भाग श्याम वर्ण का होना चाहिये । विद्वान व्यक्ति को इन लक्षणों से युक्त अर्धनारीश्वर के रूप का निर्माण करना चाहिये ॥८८-८९॥

हरिहरमूर्त्ति

हरिहर मूर्त्ति - (इस मूर्ति का) आधा भाग विष्णु का एवं आधा भाग ईश्वर (शिव) का होता है । इसे पूर्ववत् निर्मित करना चाहिये । कृष्ण के आधे भाग में शंख एवं दण्ड तथा शिव के आधे भाग में शूल एवं टंक (परशु) होना चाहिये । एकही पद्म पर स्थित (हरि-हर को) उनके अपने-अपने सम्पूर्ण आभरणों से अलंकृत करना चाहिये । वाम भाग विष्णु का एवं दक्षिण भाग शंकर का होता है ॥९०-९१॥

चण्डेशानुग्रहमूर्त्ति

चण्डेशानुग्रह मूर्त्ति - प्रत्यालीढ (धनुष खीचे हुये) देवता के पार्श्व में चण्डेश को स्थापित करना चाहिये । हृदय पर हाथ बाँधे हुये चण्डेश प्रकोष्ठ (दोनों बँधे हाथों के मध्य) में परशु लिये हो । वह पुष्पमाला से युक्त, अत्यन्त ऊर्जावान् तथा तेज से युक्त हो । यह चण्डेश्वर प्रसाद रूप है ॥९२॥

कामारिमूर्त्ति

कामारि मूर्त्ति - अब कामारि शिव का रूप-वर्णन किया जा रहा है । देवता के पार्श्व में काम निर्मित होना चाहिए । उसक अरूप कहा जा रहा है । कामदेव पर्यंक के बन्ध (किनारे) बैठे हो एवं अपना हाथ ऊपर उठाये हो । कामारि शिव का रूप उग्र हो एवं उन्हे लक्षणों के अनुसार निर्मित करना चाहिये ॥९३-९४॥

कालनाशमूर्त्ति

कालनाश मूर्त्ति - (शिव का) दाहिना पैर ऊपर उठा हो एवं बाँयाँ पैर मुड़ा होना चाहिये । दाहिने हाथ में शूल एवं बाँये हाथ में परशु होना चाहिये । (दूसरे) दाहिने हाथ में नाग-पाश तथा (दूसरा) वाम हस्त सूचित करता हो । उनका पैर काल के हृदय पर हो एवं शूल का मुख नीचे की ओर होना चाहिये । अब कालनाश के विग्रह के बारे में कहा जा रहा है । उनका रूप उग्र एवं दृष्टि भयानक होनी चाहिये ॥९५-९७॥

दक्षिणामूर्ति

दक्षिणामूर्त्ति - शिव का दाहिना हस्त शिक्षा देने की मुद्रा में हो एवं दूसरे हाथ में अक्षमाला होनी चाहिये । बाँये हाथ में पुस्तक एवं अग्नि होनी चाहिये । देवता को श्वेत वर्ण का एवं त्रिनेत्रयुक्त निर्मित करना चाहिये ॥९८॥

उनके केश पिङ्गल वर्णे से आवृत होते है एवं चन्द्रमा से युक्त होते है । (उनके केश) कपाल मन्दार एवं धतूर के पुष्प से अलंकृत होते है । वह आसीन होते है तथा उनके दाहिने ऊरू पर वाम चरण शयित (फैला, टिका) होता है । पीठ पर वे आसीन होते है एवं पैर के आधार (पैर के नीचे) पर अपस्मार का निर्माण करना चाहिये । उनके दोनो पार्श्वों में ऋषिगण होते है । दक्षिणामूर्त्ति देव पर्वत के शिखर पर स्थित होते है एवं वे पशु-पक्षी एवंमुनियों के स्वामी है ॥९९-१०१॥

भिक्षाटनमूर्त्ति

भिक्षाटन मूर्त्ति - भिक्षाटन मूर्ति को नग्न रूप, त्रिलोचन एवं चार भूजाओं से युक्त होना चाहिये । बाँये हाथ में मयूरपूँछ एवं कपाल होता है । दाहिना हाथ हिरण के मुख तक गया होता है एवं दूसरा हाथ डमर लिये ऊँचा उठा होता है । पैर पादुक (जूता, चप्पल) से युक्त होते है । देवता चलने के लिये तत्पर होते है ॥१०२-१०३॥

कङ्कालमूर्त्ति

कंकाल मूर्त्ति - अथवा महेश्वर आठ भुजाओं, चार भुजाओं या चार भुजाओं या छः भुजाओं से युक्त होते है । ये मणियों, मोतियों एवं नागों से सुसज्जित होते है । सर्प का कुण्डल (दाहिने कान में) होता है तथा बाँये में पालिक या पत्र होता है । उनकी कटि क्षुरिका से आभूषित होती है । देवता व्याघ्रचर्म का वस्त्र धारण किये, श्वेत वर्ण के एवं तीन नेत्रों से युक्त होते है ॥१०४-१०५॥

देवता के पैर पादुक से सुसज्जित होते है एवं हाथ में तुटिकार्ध (कच्छप के आधे खोल से निर्मित पात्र) होता है । ये सभी आभूषणों से आभुषित एवं सभी भूतों से युक्त होते है । आवेशयुक्त स्त्रियों से घिरे हुये एवं सुन्दर वेष से युक्त कंकालमूर्त्ति शिव होते है ॥१०६॥

मुखलिङ्ग

मुखलिंग - अब मै (मय) सभी इच्छाओं की सिद्धि के लिये मुखलिङ्ग का वर्णन कर रहा हूँ । शिवभाग की चौड़ाई लिङ्ग की ऊँचाई के दस भाग में तीन भाग के बराबर होती है । कन्धों के लिये दस में दो भाग, गले के लिये एक भाग, मुख के लिये तीन भाग, शिरोभाग के लिये एक भाग, मुकुट के लिये दो भाग, एक भाग मुखविष्कम्भ के लिये होना चाहिये । लिङ्ग के ऊपरी भाग की चौड़ाई भी उसी प्रकार होनी चाहिये । विष्णु एवं पितामह के भाग ऋषि-लिङ्ग के अनुसार होने चाहिये ॥१०७-१०९॥

ललाट, बाल-चन्द्र, मुख, ओष्ठ, नासिका, नेत्र, कर्ण, गण्ड (कपोल) सभी के विषय में जैसा कहा गया है, वैसा ही होना चाहिये । शास्त्रज्ञ को इसे मान एवं उन्मान (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई) के प्रमाण से निर्मित करना चाहिये ॥११०-१११॥

चारो मुखों का अलंकरन अब वर्णित किया जा रहा है । पूर्व दिशा का मुख तत्पुरुष संज्ञक, तीन नेत्रों से युक्त एवं स्मित (मुस्कुराहट) युक्त होता है । जटाजूट चन्द्र से युक्त एवं कुङ्कुम के समान (रक्त वर्ण का) होता है । ये नक्रकुण्डल (मकराकृति कुण्डल) से सुशोभित होते है एवं इनके नेत्र कमल-पत्र के सदृश होते है ।

इनका दक्षिण मुख अघोर संज्ञक होता है । आँखे एवं मुख सिंह के समान होते है । इनका वर्ण राजावर्त (लाजावर्त) के समान होता है एवं सर्प से आवृत एवं जटायें चन्द्रमा से युक्त होती है । यह मुख दाढ़ से युक्त, मोटी जिह्वा से युक्त, भूरी दाढी-मूँछों से युक्त एवं तीन नेत्रों से युक्त होता है ॥११४-११५॥

देवता का पश्चिम मुख प्रसन्न रहता है । ये रत्नों एवं कुण्डल से मण्डित होते है । बँधी जटा सर्प एवं अर्धचन्द्र से युक्त होती है । मुख पूर्ण चन्द्र के समान होता है । इसे सद्योजात कहते है । उत्तर मुख बन्धूकपुष्प के समान होता है । जटाजूट चन्द्रमा से युक्त होता है एवं मस्तक पर तिलक होता है । युवतियों के आभरणों से युक्त देवता का मुख धम्मिल (केशसज्जाविशेष) से प्रकाशमान रहता है । मुखलिङ्ग एक, दो, तीन या चार मुखों से युक्त होता है ॥११६-११८॥

षण्मुख

षण्मुख - सभी आभूषणोंसे आभूषित षण्मुख का सौन्दर्य कुंकुम के रंग का होता है । उनके दाहिने एवं बाँये पीले एवं श्याम वर्ण की गजा एवं वल्ली संज्ञक देवियाँ सभी आभूषणों से आभूषित निर्मित होती है ॥११९॥

ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में एवं चारो दिशाओं में षण्मुख की मूर्ति प्रशस्त होती है । वीथियों के अग्र भाग या मध्य भाग में तथा ईशान कोण में षण्मुख वृद्धि प्रदान करते है । भोग के लिये इनकी स्थापना पश्चिम में एवं मोक्ष के लिये मध्य में करनी चाहिये ॥१२०-१२१॥

गणाधिप

गणाधिप - गणाधिप गजमुख, एकदन्त, समस्थित, तीन नेत्रों से युक्त, लाल वर्ण के, चार भुजाओं वाले, भूत रूप, बड़े उदर वाले, सर्प के यज्ञोपवीत वाले होते है । इनके उरू एवं जानु सघन होते है ।

ये पद्मासन पर स्थित होते है । इनका वाम पाद शयित मुद्रा में एवं दक्षिण पैर मुडा होता है । इनकी सूँड बाँयी ओर मुड़ी होती है ॥१२२-१२३॥

दाहिने दोनों हाथों से दाँत एवं अंकुश पकड़े होते है । दोनों वाम हस्तों में अक्षमाला एवं लड्डू देना चाहिये । (गणाधिप) का शिरोभाग करण्डिका (शिरोभूषण) से सुसज्जित होता है एवं वे हार आदि आभूषणों से आभूषित होते है ॥१२४-१२५॥

इस प्रकार गणाधिप को खड़ा या पद्मपीठ पर आसीन निर्मित करना चाहिये । नृत्य करते हुये इनकी छः या चार भुजायें होती है । मूषक इनका वाहन एवं केतु (ध्वज, पहचान) होता है ॥१२६॥

सूर्य

सूर्य - सूर्य का बडा रथ एक चक्र, सात अश्वों एवं आगे अरुण (सूर्य का सारथि) से युक्त रहता है । दो हाथो वाले, हाथ में कमल-पुष्प से युक्त (सूर्य देव का) वक्ष कञ्चुक से आच्छादित रहता है । इनके सुन्दर केश अकुञ्चित (सीधे) होते है तथा प्रभामण्डल से युक्त होते है अथवा ये कोशवेष्टन (लम्बे वस्त्र) से युक्त होते है एवं स्वर्ण तथा रत्नों से सुसज्जित रहते है । उन्हे मुकुट से एवं अन्य सभी अलंकरणों से युक्त करना चाहिये ॥१२७-१२८॥

सूर्य को एक मुख एवं स्कन्धयुक्त दो बाहु होते है । इन्हे हाथ में कमल एवं पुरुष की आकृति से युक्त निर्मित करना चाहिये । इन्हे अश्व पर आरूढ़ या पद्म पर स्थित निर्मित करना चाहिये, जो पूजा के अनुकूल हो । सिन्दूर वर्ण के सूर्यमण्डल में श्याम वर्ण की देवी उषा एवं सुवर्ण वर्ण की प्रत्यूषा की स्थापना करनी चाहिये ।॥१२९-१३१॥

(सूर्य की प्रतिमा) चार भुजाओं से युक्त होने पर दो हाथों में रक्त कमल होता है । अन्य दो हाथ अभय एवं वरद मुद्रा में होते है । उनका सारथि अरुण दो हाथो से युक्त होता है एवं वह रथ पर स्थित होता है ॥१३२॥

सम्पूर्ण लोक के एकमात्र जीवात्मा सूर्यदेव सदा ही हीन शरीर (सम्पूर्ण शरीर) वाले होते है । दिन के स्वामी सूर्य की स्थापना करनी चाहिये; क्योंकि यही ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव आदि देव है । इनके बाँये एवं दाहिने पार्श्व में देवी प्रभा एवं सन्ध्या होती है । उनके चारो ओर पन्द्रह आवरणों (पंक्तियों) में ग्रहों एवं अन्य परिवार को स्थापित करना चाहिये । आगम ग्रन्थों में इनके नित्य पूजन एवं उत्सवपूजन की विधि वर्णित है । इनका ध्वज एवं वाहन सिंह ही कहा गया है ॥१३३-१३५॥

दिक्पालका

इन्द्र

इन्द्र - देवों के राजा शचीपति इन्द्र हाथ में वज्र धारण किये हुये; सिंह के समान स्कन्ध वाले; विशाल नेत्रो वाले; किरीट, कुण्डल, हार एवं केयूर धारण किये हुये; गज वाहन वाले; दो भुजाओं वाले; श्याम वर्ण वाले; रक्त वर्ण के वस्त्र धारण किये हुये; सुखी; ललाट, वक्षःस्थल एवं पैरों में सभी आभूषण धारण किये हुये; विशाल नेत्रों वाले तथा चौड़ी ग्रीवा वाले होते है ॥१३६-१३८॥

अग्नि

अग्नि- अग्निदेव का स्वरूप वृद्ध व्यक्ति के समान होता है । ये अर्धचन्द्राकार आसन पर स्थित रहते है । इनकी ज्योति प्रकाशमान सुवर्ण के सदृश होती है । इनकी आँखे एवं भौंहें पिङ्ग (भूरे) रंग की होती है । इनकी दाढ़ी सोने की कूँची के समान होती है एवं इसी प्रकार इनके केश होते है

। इनका वस्त्र उदित होते हुये सूर्य के सदृश होता है एवं यज्ञोपवीत भी उसी प्रकार होता है ॥१३९-१४०॥

(अग्निदेव) दाहिने हाथ में अक्षमाला एवं बाँये हाथ में करक (मिट्टी का पात्र) धारण किये रहते है । ये सात अस्त्र-शस्त्रों से युक्त होते है । इनकी जटा एवं दाढ़ी से सात प्रकार की किरणे प्रकाशित होती रहती है । इनकी माला से प्रज्ज्वलित ज्वाला निकलती रहती है । इनके पार्श्व में अंशु-मन्डल निर्मित रहता है ॥१४१॥

(अग्निदेव) मेष पर सवार एवं कुण्ड में स्थित रहते है । ये योग-पट्ट से लिपटे होते है । इनक एदाहिने रत्नकुण्डल से विभूषित स्वाहा निर्मित होती है । पिङ्ग वर्ण के आभरणों से सुसज्जित पुण्य अग्नि सभी याजों के अनुकूल होते है ॥१४२-१४३॥

यम

यम - (यमराज) हाथ में दण्ड धारण किये हुये, (दूसरे हाथ में) पाश धारण किये हुये एवं जलती हुई अग्नि के समान नेत्रों वाले होते है । ये बड़े भैंसे पर सवार होते है एवं इनका शरीर नीले अञ्जन के समान प्रकाशमान रहता है ॥१४४॥

यम के दोनों पार्श्वों में उनके ही समान सहायक पुरुष होते है । उनका वक्षःस्थल दिव्य तथा विस्तृत होता है एवं वे शक्तिशाली संहारो (अस्त्रों) से युक्त होते है । वे द्वार पर खड़े होते है, क्रोधयुक्त होते है एवं सम्पूर्ण लोकों को भयभीत करते है । (यम के) दाहिने एवं बाँये पार्श्व में चित्रगुप्त एवं कलि होते है । ये दोनो कृष्ण एवं श्याम (गहरे रंग) के होते है, लाल वस्त्र धारण किये होते है तथा सावधान मुद्रा में होते है ॥१४५-१४६॥

महिष ध्वज एवं वाहन वाले, आसीन यम के पीठ के पार्श्व में उग्र तेज वाले मृत्यु एवं सहिता स्थित होते है । उनके दोनों पार्श्वों में नील वर्ण एवं रक्त वर्ण की दो चामरधारिणी स्त्रियाँ होती है । बाँये एवं दक्षिण पार्श्व में धर्म एवं अधर्म होते है । इस प्रकार यम का वर्णन मेरे (मय के) द्वारा किया गया ॥१४७-१४८॥

निऋति

निऋति - निऋति विशाल नेत्र वाले, हाथ में खड्ग लिये हुये, बड़ी भुजाओं वाले, पीले वस्त्रों वाले, शव पर आरूढ, नीले रंग के, अत्यन्त बलशाली, सभी अलंकारों से युक्त, सहायकरहितः किन्तु संसार के स्वामी है ॥१४९-१५०॥

वरुण

वरुण - वरुणदेव शङ्ख एवं कुन्द के पुष्प के समान उज्ज्वल, हाथ में पाश लिये, अत्यन्त शक्तिशाली है । हार, केयूर एवं सुन्दर कुण्डलों से सुसज्जित, पीला वस्त्र धारण, अतुलनीय, सोने के वर्ण वाले एवं सभी को प्रसन्नता देने वाले है । ये आसीन मुद्रा में या मकर पर खड़े रहते है ॥१५१-१५२॥

वायु

वायु - वायुदेव हाथ में ध्वज लिये, अत्यन्त बलशाली, ताँबे के समान नेत्र वाले, धूम के समान वर्ण वाले, मुड़ी भौहों वाले, विचित्र वर्णो के वस्त्र वाले एवं आभूषणों से सुसज्जित होते है । इन्हे मृग पर आरूढ़ निर्मित करना चाहिये ॥१५३॥

कुबेर

कुबेर - बुद्धिमान व्यक्ति को कुबेर की प्रतिमा को इस प्रकार निर्मित करना चाहिये । वे सभी यक्षों के स्वामी , मुकुट आदि से सुशोभित, तप्त सुवर्ण के समान वर्ण वाले, वर प्रदान करने वाले तथा अभय प्रदान करने वाले हाथों से युक्त होते है । ये मेष पर आरूढ़, हाथ में गदा लिये दो पैर एवं दो हाथों से युक्त होते है । नर पर आरूढ़ कुबेर शङ्ख एवं पद्मनिधियों को धारण करते है । इन्हे सभी आभूषणों से युक्त एवं देवी के साथ निर्मित करना चाहिये ॥१५४-१५६॥

चन्द्र

चन्द्र - चन्द्रमा सिंहासन पर आसीन होते है । ये कुन्द एवं शङ्ग के समान श्वेत वर्ण के होते । (चन्द्रमा) प्रभामण्डल से युक्त होते है तथा दो भुजाओं एवं श्वेत वस्त्र धारण किये होते है । ये आसीन या खड़े हो सकते है । उनके प्रकाशमान हाथ में कुमुदपुष्प होता है । (चन्द्रमा का) यज्ञोपवीत सुवर्णनिर्मित होता है । सोम सौम्य एवं घटते-बढ़ते रहते है । ये श्वेत माला एवं वस्त्र से युक्त, सोने के समान एवं लाल नेत्रों वाले होते है ॥१५७-१५८॥

रेवती एवं रोहिणी धान्य के अंकुर से युक्त होती है । इनके नेत्र कमलपुष्प के समान प्रकाशमान होते है । ये दोनो पवित्र तथा कृष्ण वस्त्र धारण करती है । पश्चिम दिशा में हाथ में चामर-व्यजन धारण किये निशा एवं ज्योत्सना होती है । निशा चन्द्रमा की गौरी (पत्नी) है एवं ज्योत्सना मानवों की प्रकाश होती है ॥१५९-१६०॥

ईशान

ईशान - ईशान वृष पर सवार, अत्यन्त तेजस्वी, श्वेत वर्ण के एवं श्वेत नेत्रों वाले होते है । ये हाथ में त्रिशूल लिये, संसार के स्वामी, तीन नेत्रों वाले एवं लोक का कल्याण करने वाले होते है ॥१६१॥

काम

कामदेव - कामदेव सोने के समान, अच्छी प्रकार से सभी आभरणों से सुसज्जित, दो बाहुओं वाले, सुन्दर आकृति वाले, सौम्य एवं नवयुवा होते है । ये पीठ पर आसीन या रथ पर आसीन होते है एवं सम्पूर्ण लोकों द्वारा पूजित होते है ॥१६२-१६३॥

हैम, मद, राग एवं वसन्त उनके साथी है । तापनी, दाहिनी, सर्वमोहिनी, विश्वमर्दिनी एवं मारणी कामिनी के दाँत - ये उनके पाँच शर है । ईख से निर्मित धनुष एवं पञ्चशर पश्चिम में वर्णित है । उनके दाहिने भाग में रति होती है । इनकी शोभा श्याम वर्ण की होती है । ये सभी आभूषणों से आभूषित तथा सुन्दर बड़े केशों से प्रकाशमान होती है । इस प्रकार काम का वर्णन किया गया है । इनका ध्वज मकर होता है ॥१६४-१६६॥

अश्विनी

दोनों अश्विनीकुमार - (दोनों अश्विनीकुमार) अश्व-रूप वाले, सिंहासन पर बैठे हुये, दाडिमी पुष्प के समान वर्ण वाले, अपने कन्धों पर यज्ञोपवीत धारण किये रहते है । ये दोनों चिकित्सक होते है एवं दो स्त्रियाँ चमर धारण किये होती है । (उन स्त्रियों में एक) मृत सञ्जीवनी पीत वर्ण की होती है (तथा दूसरी) विशल्यकरणी पीछे लाल रंग की होती है । दो स्त्रियाँ पीत एवं पिङ्गल (लालिमायुक्त) वर्ण की होती है । बाँयी ओर धन्वन्तरि एवं आत्रेय रहते है । ये दोनों पीत एवं रक्त वर्ण के एवं कृष्ण वस्त्र धारण किये रहते है ॥१६८-१७०॥

वसव

वसुदेवगण - (वसु देवगण) हाथ में खड्ग एवं खेटक धारण किये, सभी आभूषणों से सुसज्जित, दो भुजाओं वाले, रक्त वर्ण के, पीत वस्त्रों से युक्त एवं पवित्र होते है । बैठे हुये खड़ी मुद्रा में ये आठों वसु भयानक होते है । धर, ध्रुव, सोम, आप, अनल, अनिल, प्रत्यूष एवं प्रभाव- ये आठ वसु कहे गये है ॥१७१-१७२॥

मरुद्गणा

मरुद्गण - (मरुतों के) केश जूट में आबद्ध होते है, जिन्हे सुन्दर स्त्रियाँ अपने स्तनों पर लटकाती है । सभी दिव्य पुरुष धारण करते है तथा सभी उत्तम दुकूल वस्त्र धारण करते है । आठों मरुद्गण सभी यज्ञो के योग्य होते है ॥१७३-१७४॥

रुद्र विद्येश्वर

रुद्र एवं विद्येश्वर - रुद्र देवगण रुद्राग्नि (भयानक अग्नि) के समान होते है । (विद्येश्वर) नील लोहित, जीमूत (बादल) के वर्ण के, कुंकुम (लाल) वर्ण के तथा कृष्ण वर्ण के होते है । ये चतुर्भुज, तीन नेत्रों वाले, टङ्क शूल एवं जटाधारी होते है । ये वरद एवं अभय मुद्रा में हाथ वाले, क्षौम वस्त्र धारण किये हुये तथा पवित्र होते है ॥१७५-१७६॥

सभी यज्ञो से युक्त आठ विद्येश्वर अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्कृष्ट, एकनेत्रक, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीखण्ड तथा शिकण्डिक कहे गये है ॥१७७॥

क्षेत्रपाल

क्षेत्रपाल - (क्षेत्रपाल) तामस रूप वाले तथा प्रलयकालीन मेघ के समान कृष्ण वर्ण वाले होते है । सात्त्विक (रूप में) दो या चार भुजाओं से युक्त एवं राजस (रूप में) छः भुजाओं एवं तामस (रूप में) आठ भुजाओं से युक्त होते है । गोचर भूमि में उनके लिये उचित स्थान होता है । दो भुजाओं में कपाल तथा शूल एवं चार भुजाओं में खट्वांग एवं परशु होता है । दो भुजायें वरद एवं अभय मुद्रा में होती है ॥१७८-१७९॥

(छः हाथों में) दाहिने हाथो में शूल, असि एवं घण्टा होता है तथा वाम हस्तों में खेटक, कपाल एवं नागपाश कहे गये है ॥१८०॥

आठ हाथ होने पर पूर्वोक्त शस्त्रों के साथ धनुष एवं बाण होते है । रक्त वर्ण के गुणों से युक्त (राजस रूप में) इनके केश ऊपर उठे हुये एवं लहराते रहते है । भौहें मुड़ी होती है, तीन नेत्र तथा दो भयानक दाँतों से युक्त (क्षेत्रपाल) होते है । ॥१८१-१८२॥

(क्षेत्रपाल) मार्ग के अन्त में गणों के संरक्षक, बालरूप तथा कुत्ते पर सवार होते है । इनकी स्थापना ग्राम आदि वास्तुक्षेत्रों के बाहर, द्वार पर, वन में, पर्वत पर होनी चाहिये । इनकी दिशा ईशान के पूर्व भाग में पर्जन्य पर एवं दिति के पद पर क्रमशः होनी चाहिये । पद्मासन पर आसीन (क्षेत्रपाल) सभी इच्छाओं को पूर्ण करते है । छः या चार भुजाओं से युक्त ये कुत्तों, कुक्कुटों एवं अन्य जीवों द्वारा सेवित होते है तथा सिद्ध एवं योगियों द्वारा घिरे होते है ॥१८३-१८५॥

चण्डेश्वर

चण्डेश्वर - चण्डेश्वर श्वेत वर्ण मिश्रित सुन्दर लाल रंग की शोभा से युक्त होते है । इनकी दो भुजायें होती है । इनके केश पत्रों से आच्छादित होते है तथा ये शंख एवं पत्र से युक्त होते है । (चण्डेश्वर) यज्ञोपवीत धारण किये हुये, श्वेत वर्ण की माला एवं वस्त्र पहने हुये पवित्र होते है । इनके हाथ हृदय के पास जुड़े होते है । इनकी भुजाओं में टङ्क (परशु) होता है । ये पुष्पमालाओं

से सुसज्जित, अर्धचन्द्राकार आसन पर आसीन होते है । सभी आभूषणों से सुसज्जित, जटाधारी या केशबन्ध से युक्त (चण्डेश्वर) होते है ॥१८६-१८८॥

आदित्या

आदित्यगण - सभी बारह भास्कर दो भुजाओं वाले, हाथों में कमलपुष्प लिये, लाल पद्मासन पर स्थित, रत्नकुण्डल से युक्त, सभी आभूषणों से आभूषित एवं लाल वस्त्र धारण किये रहते है । (बारह आदित्य इस प्रकार है-) अर्यमा, मित्र, वरुणांश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा, विष्णु, अजघन्य तथा जघन्यज ॥१८९-१९१॥

सप्तर्षय

सप्तर्षिगण - सप्तर्षिगण उपदेश देने की मुद्रा में मुख एवं हाथो वाले, जटाजूट से युक्त, पीत वर्ण के तथा अनेक वर्णों के वस्त्र धारण किये हुये होते है । (अथवा) ये दो भुजाओं वाले, पिङ्गनेत्रों (ललाईयुक्त नेत्रों) वाले, पीत वर्ण के, अत्यन्त वृद्ध, रक्त वर्ण के वस्त्र पहने हुये, केशभार (जटा-जूट) को धारण किये एवं विभिन्न प्रकार के आभूषणों से आभूषित होते है ॥१९२-१९३॥

सप्तरोहिण्य

सात रोहिणी - सप्त रोहिणीगण सुन्दर रूप वाली, सोने के समान वर्ण वाली, नागों से आभूषित, श्वेत वस्त्र धारण की हुई आसीन या खड़ी मुद्रा में होती है ॥१९४॥

गरुड

गरुड - ताक्ष्र्य (गरुड) गोल रक्त वर्ण के नेत्रों से युक्त, पीत वर्ण के, अत्यन्त बलशाली, दो भुजाओं वाले, अञ्जलिबद्ध अथवा थोडी उठी जंघाओं पर हाथ टिकाये हुये, पाँच वर्ण वाले कञ्चुक धारण किये हुये, सीसनिर्मित पक्षों से युक्त, दाँतो से युक्त, श्याम वर्ण की नासिका वाले, करण्ड एवं मुकुट से प्रकाशमान,नागों के आभूषणों से युक्त, कानों में पीत वर्ण के पत्रों को धारण किये हुये, लाल वस्त्र पहने हुये, सर्पों के शत्रु एवं विष्णुवाहन होते है ॥१९५-१९७॥

शास्ता - मोहिनी के पुत्र शास्ता दो भुजाओं वाले, श्याम वर्ण के, पीठ पर स्थित, (बाँये) पैर को मोड कर दाहिना पैर लटकाये रहते है । इनकी वाम भुजा गज के सूँड के समान होती है तथा घुटने एवं ऊरु के बाहर (पीठासन पर टिकी) रहती है । वे गोलाई वाले अथवा टेड़े दण्ड को (हाथों में) धारण किये रहते है । इनके कोमल काले घुँघराले केश फैले रहते है ॥१९८-२००॥

ये वाहन एवं ध्वज (दोनों में) गज से युक्त, हार आदि से अलंकृत होते है । अथवा जब ये चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों वाले होते है, तब उनका ध्वज सर्वत्र कुक्कुट (मुर्गा) होता है ॥२०१॥

(शास्ता) ज्ञानी, योगासन मुद्रा में आसीन, सदा अध्ययन करने वाले, पवित्र दोनों कन्धों पर यज्ञोपवीत धारण किये हुये, युवा, वीरासन से युक्त, उल्लासयुक्त, गीत-भाव वाले, देव-भाव वाले तथा सुखासन में स्थित होते है । ये वाम ऊरु के ऊपर दाहिना पैर टिकाये स्थित होते है ॥२०२-२०३॥

(शास्ता) नौ शक्तियों से तथा चौसठ योगिनियों से युक्त होते है । पूर्णा एवं पुष्कला देवियाँ उनके वाम एवं दक्षिण भाग में होती है । इनका वर्ण कृष्ण एवं सुवर्ण के समान होता है । दोनों सौगन्ध्य पुष्प लिये, सभी अलंकारों से सुसज्जित एवं पीत तथा श्वेत वस्त्र धारण किये रहती है ॥२०४-२०५॥

इनके वाम हस्त में मधु होता है । ये मधु के समान शोभा वाले, दो भुजाओं वाले, मांसल शरीर वाले, खिले मुख वाले एवं लम्बे उदर वाले होते है । इनके वाम हस्त में शीधु-पात्र (मधु-पात्र) एवं

दाहिने हाथ में दण्ड निर्मित करना चाहिये । इनके द्वारपाल शक्ति धारण करने वाले, दण्ड एवं लांगल से युक्त होते है ॥२०६-२०७॥
देवों के प्रिय शास्ता को वर्णान्तर (छोटी जाति के) आश्रमस्थान में, वेश्या के आवास में, दुर्गम में, निगम में, खर्वट में एवं खेट में स्थापित करना चाहिये । ग्राम आदि वास्तुओं के मध्य में, बाहर, दक्षिण द्वार पर कल्याणेच्छुओं को देवभावी एवं ज्ञानभावी (शास्ता) का निर्माण करना चाहिये । नगर एवं पत्तन में गीतभावी की स्थापना करनी चाहिये ॥२०८-२१०॥

मातृका

मातृकायें - अब मै (मय) मातृकाओं के लक्षण, स्थापन एवं स्थान के विषय में कहता हूँ । ये ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी तथा काली है । इनके दक्षिण एवं वाम भाग में वीरभद्र एवं विनायक रहते है ॥२११-२१२॥

वीरभद्र

वीरभद्र - वीरभद्र वृष पर आरूढ, हाथ में शूल लिये, गदा धारण किये, हाथ में वीणा लिये अथवा (नीचे के हाथ) वरद एवं अभय मुद्रा में होते है । ये चार भुजाओं एवं तीन नेत्रों से युक्त होते है । ये जटा धारण किये हुये एवं जटा में चन्द्रमा धारण किये होते है । सभी आभूषणों से युक्त, श्वेत वर्ण के एवं वृषध्वज वाले (वीरभद्र) पद्मासन से युक्त देवता वटवृक्ष का आश्रय लिये होते है । लोकों के स्वामी, कल्याण करने वाले (लोकेश, शंकर) शम्भु मातृकाओं के आगे स्थित होते है ॥२१३-२१५॥

ब्रहमाणी

ब्रहमाणी - ब्रहमाणी को ब्रहमा के समान निर्मित करना चाहिये । ये चार मुखों वाली; विशाल नेत्रो वाली; तप्त सुवर्ण के समान वर्ण वाली; वरद मुद्रा, अभयमुद्रा, शूल तथा अक्षमाला से युक्त चार भुजाओं वाली; रक्तकमल के आसन पर आसीन; वाहन एवं ध्वज में हंस से युक्त तथा व्याघ्रचर्म से युक्त होती है ॥२१६-२१७॥

माहेश्वरी

माहेश्वरी - माहेश्वरी को तीन नेत्रोंवाली, लाल वर्ण की, हाथ में शूल लिये, वृषध्वज से युक्त, वरद तथा अभय मुद्रा से युक्त हाथों वाली, अक्षमाला से युक्त, जटा एवं मुकुट से युक्त, शम्भु (के अनुसार, उन्ही के समान) आभूषित, चन्दन के वृक्ष से युक्त तथा वृष पर आरूढ़ होती है ॥२१८-२१९॥

कौमारी

कौमारी - वस्त्र से मुकुट बाँधे हुये, शक्ति एवं कुक्कुट धारण करने वाली, रक्त वर्ण की, अत्यन्त शक्तियुक्त, हार एवं केयूर से आभूषित, वरद एवं अभय मुद्रा में हस्ते से युक्त, कुंकुम के समान प्रभा वाली, सभी आभूषणों से आभूषित, मयूरध्वज से युक्त एवं मयूर पर आरूढ, उदुम्बर वृक्ष का आश्रय ली हुई कौमारी देवी का प्रकल्पन बुद्धिमान मनुष्य को करना चाहिये ॥२२०-२२१॥

वैष्णवी

वैष्णवी - विद्वान व्यक्ति को वैष्णवी का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये- वह देवी शंख एवं चक्र धारण किये हो एवं (शेष दो) हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में हो । उन्हें अच्छी प्रकार खड़ी, श्याम वर्ण की, पीत वस्त्र धारण की हुई एवं सुन्दर नेत्रों से युक्त निर्मित करना चाहिये ।

गरुड़ध्वज एवं वाहन वाली (वैष्णवी) पीपल के वृक्ष से संयुक्त होती है । ये विष्णु के आभूषणों से अलंकृत होती है ॥२२२-२२३॥

वाराही

वाराही - वरद एवं अभय हस्त वाली वाराही कृष्ण के समान होती है । हल एवं मुसल को धारण कर चर्मवस्त्र से युक्त होती है । शंख वर्ण की (वाराही) वरद, अभय एवं दण्ड को हाथ में धारण करती है । (बड़े) दाँतो वाली, विशाल शरीर वाली, प्रकाशमान मुकुट एवं किरीट से युक्त, कृष्ण वस्त्र धारण करने वाली देवी सभी आभूषणों से आभूषित होती है । (वाराही) करञ्ज के वृक्ष के युक्त तथा महिष ध्वज एवं वाहन से युक्त होती है ॥२२४-२२६॥

इन्द्राणी

इन्द्राणी - (इन्द्राणी) किरीट एवं मुकुट से युक्त एवं सभी आभूषणों से सुसज्जित होती है । हाथ में वरद एवं अभय मुद्रा तथा पाश एवं कमल धारण किये होती है । ये चन्द्रमा के समान होती है । बुद्धिमान व्यक्ति को इन्द्राणी को कल्पद्रुम से युक्त निर्मित करना चाहिये ॥२२७-२२८॥

चामुण्डी

चामुण्डी - चामुण्डी देवी कपाल लिये, शूल धारण की हुई, वरद एवं अभय मुद्रा में हाथ वाली होती है । (अथवा) उनकी आठ भुजायें होती है । शूल एवं कपाल (के अतिरिक्त), वाम हस्त में दण्ड, धनुष, खड्ग, खेटक, पाश एवं बाण धारण किये रहती है । इनकी आठ भुजायें कही गई है । इनके दस हाथ (भी) कहे गये है । सभी का पूर्व में वर्णन किया गया है । (इनके अतिरिक्त हाथों में) डमरु एवं शूल कहा गया है । ये रक्तवर्ण के नेत्रों वाली, कुटिका पर आसीन एवं स्तनोंपर सर्पबन्ध धारण किये रहती है ॥२२९-२३१॥

वह शिरों (मुण्डो) की माला धारण किये रहती है । वह पतले उदर वाली शव पर आरूढ होती है । ये मांसरहित खुले मुख वाली, लम्बी जिह्वा वाली, तीन नेत्रों वाली, व्याघ्रचर्म धारण की हुई होती है । इसके केश ज्वाला के सदृश एवं सर्पो से युक्त होते है । ये अभीष्ट प्रदान करती है । काली, पतले अंगो वाली, कृष्णा, वट वृक्ष का आश्रय ली हुई है, बड़े दाँतो एवं भयानक मुख वाली चामुण्डा गृध्रध्वज से युक्त होती है ॥२३२-२३३॥

विनायक

विनायक - बुद्धिमान व्यक्ति को विनायक का स्वरूप पूर्व-वर्णन (१२२-१२५ श्लोक) के अनुसार निर्मित करना चाहिये ॥२३२॥

मातृका स्थापन

मातृकाओं की स्थापना - मातृकाओं की स्थापना ग्राम से दूर, ग्राम के उत्तर या ईशान कोण में की जानी चहिये । इन्हे त्रिशूल के आकार के शूल एवं वस्त्रों से व्याहृत (जागृत, मन्त्रयुक्त) करना चाहिये । (अथवा) दिशाओं के द्वार के पास इन्हे पूर्वमुख या उत्तरमुख स्थापित करना चाहिये ॥२३५॥

(इसके पश्चात) इन्हे ब्रह्मस्थान पर दक्षिणक्रम से क्रमशः स्थापित करना चाहिये । इससे शान्ति, पुष्टि, जय, आरोग्य, भोग, ऐश्वर्य एवं आयु की वृद्धि होती है । इससे विपरीत होने पर निस्सन्देह शत्रुता होती है ॥२३६-२३७॥

पूर्ववर्णित विधान के अनुसार यदि मध्य में ब्रहमाणी स्थापित होती है तो यह प्रतिष्ठा सभी को मोहित करती है एवं सभी कामनाये परिपूर्ण होती है । यदि मध्य में चामुण्डी की स्थापना की जाय तो प्रतिष्ठित होने पर प्रजा (सन्तति) की प्राप्ति होती है । (मातृकाओं की स्थापना) कामासन में होने पर योग, वीरासन में होने पर शान्ति प्राप्त होती है । सुखासन में (प्रतिष्ठा) होने पर सभी कामनाओं की प्राप्ति होती है ॥२३८-२३९॥

पुनः चामुण्डी

विद्वान व्यक्ति को काश्ठ, मृत्तिका या सुधा (चूना-गारा) से आठ, दस, बारह या सोलह भुजाओम से युक्त चामुण्डी का निर्माण करना चाहिये । अथवा आठ भुजाओं से युक्त नृत्यमुद्रा में चामुण्डी का निर्माण आवश्यकतानुसार करना चाहिये । इसे सन्ध्यानृत्य (शिव) के समीप अथवा जिस प्रकार सन्ध्यानृत्य

होता है, उस प्रकार निर्मित करना चाहिये या लोक की शान्ति के लिये (चामुण्डी के) चार या छः भुजायें निर्मित करनी चाहिये ॥२४०-२४२॥

परिवार

परिवार - द्वार के बाहर स्थित दो दौवार्यों (द्वारपालों) की स्थापना करनी चाहिये । ये शूल आदि धारण करने वाले भूत होते है । ये भयानक भूतों के समूह से युक्त एवं पिशाचों से घिरे होते है ॥२४३॥

मण्डप के भीतर दो सुन्दर, युवा, रक्त तथा श्याम वर्ण की स्त्रियाँ योगिनी कही गई है । ये हाथमें कपाल की अस्थि लिये होती है एवं व्याल से युक्त होती है । इनके केश माँग से युक्त, धम्मिल शैली में (सजे) होते है तथा मुकुट से प्रकाशमान होते है । ये (दोनो योगोनियाँ) सभी प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित, सुन्दर मुख तथा तीन नेत्रों से युक्त होती है ॥२४४-२४५॥

उसी स्थान पर भूत, वेताल एवं डाकिनी आदि को स्थापित करना चाहिये । मन्त्रशास्त्र द्वारा वर्णित यामल विधि से नित्योत्सव करना चाहिये ॥२४६॥

लक्ष्मी

लक्ष्मी - पद्मासन पर आसीन लक्ष्मि दो भुजाओं से युक्त एवं सुवर्ण आभा वाली होती है । उनके (दोनो कुण्डलों में से एक) नक्र-कुण्डल (तथा दूसरा) शंखकुण्डल होता है एवं वह कुण्डल सुवर्ण एवं रत्नों से प्रकाशमान होता है । वे यौवनसम्पन्न, सुन्दर अंगो वाली, मुडे हुये भौंहो से लीला करती हुई, गोल मुख वाली, कर्णपूर (कान में आभूषण) से युक्त एवं कमल के समान नेत्रों से युक्त होती है । इनके ओष्ठ लाल वर्ण के, कपोल भरे हुये तथा स्तन कञ्चुक से ढँके होते है । शिर का श्रृंगार शंख, चक्र, माँग एवं कमल से होता है । दाहिने हाथ में पद्म होता है एवं बाँये हाथ में श्रीफल होता है । इनका मध्य भाग सुन्दर तथा ब्रडे नितम्ब सुन्दर वस्त्रों से लिपटे रहते है । ये मेखला, कटिसूत्र एवं सभी आभूषणों से अलंकृत होती है । इनका शिरोभाग करण्डक से सुशोभित होता है एवं ये कमलासन पर आसीन होती है ॥२४७-२५१॥

उनके पार्श्व में दो स्त्रियाँ हाथ में चामर धारण किये रहती है । दो हाथियों को सूँड में कुम्भ लेकर उन्हे (लक्ष्मी देवी को) स्नान कराते हुये दिखाना चाहिये ॥२५२॥

गृह में पूजा-योग्य लक्ष्मी चार भुजाओं से युक्त होती है । इनके हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में होते है । वे रक्त वर्ण के पद्म की आभा के समान अरुण वर्ण की होती है । वे सभी आभूषणों से

सुसज्जित, तपे हुये सोने के समान आभा वाली होती है । (लक्ष्मी) पर्यङ्कबन्ध मुद्रा में श्वेत कमल पर आसीन होती है । इस प्रकार अभीष्ट पल प्रदान करने वाली लक्ष्मी देवी को निर्मित करना चाहिये ॥२५३-२५५॥

यक्षिणी

यक्षिणी - हेममाला यक्षिणी लक्ष्मी के लक्षणों से युक्त, किन्तु गज से रहित परिलक्षित होनी चाहिये । यह सिद्ध एवं अप्सराओं से सेवित होती है । किन्नर के साथ गान करती हुई यक्षों एवं गन्धर्वो से सेवित होती है । ग्राम आदि वास्तुओं में भीतर एवं बाहर इनकी स्थापना होनी चाहिये ॥२५६-२५७॥

कात्यायनी

कात्यायनी - कात्यायनी देवी किरीट एवं मुकुट से युक्त, सभी अलंकरणों से सुसज्जित, दस भुजाओं से युक्त तथा महिष का सिर काटने के लिये उद्यत होती है । इनके (दाहिने हाथ में) शक्ति, बाण, मुसल, शूल तथा खड्ग एवं बाँयें हाथ में क्रमशः चर्म, वराखेट, पूर्ण चाप, अङ्कुश तथा नागपाश होते है । इनके सभी करकमलों में सभी अस्त्र होते है ॥२५८-२५९॥

ये सुन्दर वस्त्रों से युक्त, नीले केशों वाली, नील कमल के पत्र के समान नेत्रों वाली, तीन नेत्रों वाली, सुन्दर अंगो वाली, उन्नत एवं पीन वक्षो वाली, सुन्दर मध्य भाग वाली, श्याम वर्ण की तथा स्तनों पर सर्पबन्ध धारण किये होती है । ये सिंह पर आरूढ, सिंह-ध्वज से युक्त एवं सिंहचर्म का वस्त्र धारण किये होती है । दस भुजाओं वाली कात्यायनी महिष के सिर पर खड़ी रहती है ॥२६०-२६२॥

दुर्गा

दुर्गा - दुर्गा देवी चार भुजाओं से युक्त पंकज के आसन पर स्थित होती है । इनके हाथ वरद एवं अभय मुद्रा में होते है तथा (शेष दो हाथों में) शंख एवं चक्र धारण किये रहती है । अष्ट भुजाओं से युक्त होने पर (पूर्वार्णित पदार्थों में से) खेटक एवं शक्ति से रहित होती है एवं शुक धारण करती है । वह दुर्गा है तथा दुर्ग एवं ग्रामादि वास्तुओं में विशेष रूप से (स्थापित) होती है ॥२६३-२६४॥

सरस्वती

सरस्वती - सरस्वती देवी श्वेत वर्ण की, सिर पर जटा धारण किये, चार भुजाओं वाली, श्वेत कमल के आसन पर आसीन, रत्नकुण्डल से सुसज्जित, यज्ञोपवीत से युक्त, सुन्दर मोतियों का हार धारण की हुई, सुन्दर नेत्रों वाली, दाहिने हाथ में व्याख्यान-मुद्रा एवं अक्षसूत्र धारण किये तथा (वाम हस्तों में) पुस्तक एवं कुण्डिका धारण किये रहती है । ये तीन नेत्रों वाली, सुन्दर रूप वाली, ऊपर उठे सीधे मुख वाली तथा सभी मुनियों से सेवित होती है । कल्याण की कामना करने वाली द्वारा वास्तु के मध्य में चारो दिशाओं में इनकी स्थापना होनी चाहिये ॥२६५-२६७॥

ज्येष्ठा

ज्येष्ठा - ज्येष्ठा देवी लम्बे ओठों वाली, ऊँची नासिका वाली, लम्बे स्तनों एवं उदर वाली, हाथ में कमल लिये ज्येष्ठा महालक्ष्मी की बड़ी (बहन) है । पीठ पर आसीन, कलि की देवी, पीठ पर पैर लटकाये रहती है । ये लाल वर्ण का वस्त्र धारण करती है । इनका वर्ण श्याम है तथा ये अमृत से उत्पन्न है । सभी आभूषणों से युक्त एवं शिर पर वस्त्र का बन्ध धारण करती है । ये काकध्वज से युक्त तथा साराल के तिलक से युक्त होती है ॥२६८-२७०॥

उनका पुत्र वृष के समान मुख वाला, सुखासन में आसीन, हाथ में दण्ड धारण किये, बड़ी भुजाओं वाला होता है । वह ज्येष्ठा के दक्षिण में होता है । उनकी पुत्री ज्येष्ठा के वाम भाग में होती है । वह सुन्दर स्तनों वाली, युवावस्था से युक्त अंगो वाल, सुन्दर वस्त्रों वाली, सुन्दर नेत्रों वाली, कृष्ण वर्ण की एवं सभी आभूषणों से आभूषित होती है । अथवा प्रत्येक द्वार पर, प्रत्येक स्थान पर भित्तियों के ऊपर युवा स्त्री होना चाहिये ॥२७१-२७३॥

भूमि

भूमि - धान्य के अंकुर के समान भूमि कमलपुष्प के समान बड़े नेत्रो वाली होती है । ये तिलक एवं केशों से युक्त एवं सभी आभरणों से अलंकृत होती है । भूमि हाथ में पुष्प धारण किये सुन्दर रूप वाली, करण्ड एवं मुकुट से प्रकाशमान, पीले वस्त्र धारण किये, सभी प्राणियों को धारण करने वाली एवं पीठ पर आसीन होती है ।॥२७४-२७५॥

पार्वती

पार्वती - पार्वती देवी प्रसन्नमुख, सौम्य दृष्टी वाली, सुन्दर रूप वाली, सभी आभूषणों से युक्त, श्यामवर्ण की, दो भुजाओं वाली, दुकूल वस्त्र धारण की हुई, हाथ में पुष्प लिये, अत्यन्त सुन्दर होती है । चारो दिशाओं में, मध्य में या भल्लाट के पद पर सुसम्पन्न एवं परिवार (सहायकों) से युक्त पार्वती की स्थापना करनी चाहिये । सिद्ध एवं विद्याधर स्त्रियों से सेवित (पार्वती) सभी अभिलषित कामनाओं की पूर्ण करती है ॥२७६-२७८॥

सप्तमाता - सप्तमाता को ग्राम एवं नगर के बाहर स्थापित करना चाहिये । ये स्थूल शरीर की, बडे उदर वाली, पार्श्व में दो वधुओं से युक्त, श्याम वर्ण की, बड़े नेत्रों वाली, लाल वस्त्र धारण किये तथा दो भुजाओं से युक्त होती है । ये विशेष रूप से भूत, प्रेत एवं पिशाच आदिसे सेवित होती है ॥२७९-२८०॥

बुद्ध

बुद्ध - बुद्धदेव पर्यङ्कबन्ध मुद्रा (एक के ऊपर दूसरा पैर रखकर, पालथी मार कर बैठना) में आसीन रहते है । अपनी गोद में अपने हाथ ऊपर की ओर (हथेली किये) रक्खे रहते है । ये रक्त वर्ण का वस्त्र धारण किये, रक्त वर्ण का उत्तरीय (चादर, ऊपर ओढने का वस्त्र) ओढे तथा दो भुजाओं वाले होते है । पिङ्ग वर्ण (पीला, भूरा) वस्त्र धारण किये, सिर पर विना किसी आभूषण के, सिंहासन के ऊपर (स्थित बुद्धदेव) इन्द्र आदि देवों से सेवित रहते है । यक्ष, विद्याधर, सिद्ध तथा गन्धर्व आदि उनकी सेवा करते है । इस प्रकार अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष से संयुक्त बुद्ध के रूप का निर्माण करना चाहिये ॥२८१-२८३॥

जिन - जैन (जिन) नीले (काले) अञ्जन के समान वर्ण वाले, अशोक वृक्ष द्वारा सेवित होते है । इनका आसन स्थानक मुद्रा (खड़ी प्रतिमा) में वर्णित है तथा इनका आसन (पीठ) सिंह या पद्म होता है । इनका (एक) हाथ बगल में लटका रहता है तथा (दूसरा) स्तनान्त पर टिका होता है । इनका माप देवों के अनुसार रखना चाहिये । इनके चामर ग्रहण करने वाले का मान देवता के अंगुल-मान से तीस अंगुल का होता है । शेष मान पूर्ववर्णन के अनुसार आवश्यकतानुसार रक्खा जाना चाहिये । इनका रूप वस्त्ररहित होता है । तीन छत्रों से युक्त ये देवों एवं अमरों (अन्य देवों) द्वारा सेवित होते है । पार्श्व में स्थित उनकी भुजाये लताओं एवं रत्नों से युक्त होती है । प्रत्येक अपने वर्ण से युक्त होते है । इनकी दो भुजायें होती है । उनके पार्श्व में यक्षेन्द्र एवं अपराजित

होते है । उनका शीर्ष (जिन देव के) कमर तक होता है । इन दोनों को पूर्ववर्णित नियमों के अनुसार शिल्पशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वानों द्वारा निर्मित करना चाहिये ॥२८४-२८७॥

सामान्यविधि

सामान्य नियम - इसी प्रकार अन्य देवों का भी निर्माण करना चाहिये तथा उनके चिह्नो को भी प्रदर्शित करना चाहिये । सर्पो को सात या तीन भोगों (कुण्डलियों) से युक्त तथा राक्षसों एवं पिशाचों को भयानक स्वरूप वाला निर्मित करना चाहिये । प्रेत तथा भूत-वेताल आदि सभी को यथोचित रीति से निर्मित करना चाहिये । उन्हे अनुकूल स्थान पर रखना चाहिये । इस प्रकार मैने (मय ने) संक्षेप में प्रतिमाओं के लक्षण का वर्णन किया ॥२८८-२९१॥

बेरमान

प्रतिमाओं के प्रमाण -

यजमान (स्थापक) के बराबर ऊँचा बेर श्रेष्ठ, आठ भाग कम मध्यम तथा उससे एक भाग कम अधम (छोटा, हीन) होता है । इसे (यजमान की) रुचि के अनुसार या उसे पृथक इच्छानुसार निर्मित करना चाहिये । अथवा (प्रतिमा यजमान के) स्कन्ध, स्तनान्त या नाभि तक निर्मित करनी चाहिये । ये (क्रमशः) श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ होती है । (किन्तु यदि यजमान) कूबड़युक्त या बौना हो तो (यजमान के प्रमाण को) छोड़ देना चाहिये ॥२९२-२९३॥

धाम (मन्दिर), गर्भगृह, स्तम्भ, द्वार अथवा निर्माण करने वाले की ऊँचाई के अनुसार लम्बोच्च मान को बराबर अंगुल-मान से बाँटना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति को अंगुलच्छेद (भिन्न) को छोड़कर संख्या की वृद्धि या हानि (कम) कर पूर्ण संख्या कर लेनी चाहिये । इसे इस प्रकार करना चाहिये, जिससे आय, व्यय, नक्षत्र, वार, अष्ट योनियाँ एवं अंशक शुभ हों ॥३९४-३९५॥

ऋषियों के अनुसार आय एवं व्यय क्रमशः लाभ एवं हानि के कारण होते है । मूर्ति की ऊँचाई को आठ, नौ एवं तीन से गुणा करना चाहिये । प्राप्तांक को क्रमशः बारह, आठ, आठ से विभाजित करना चाहिये । इससे आय, व्यय एवं योनि का ज्ञान होता है । यदि आय अधिक हो एवं व्यय कम हो तो इससे सम्पत्ति (लाभ) प्राप्त होती है । आठ योनियों में ॥२९६-२९८॥

ऐसा कहा गया है कि श्रेष्ठ बेर स्तम्भ के डेढ़ भाग के बराबर होता है । अथवा स्तम्भ की ऊँचाई के नौ भागों में आठ भाग के बराबर या आठ में सात भाग के बराबर (मूर्ति की ऊँचाई के) दो प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते है ॥२९९॥

इस प्रकार बेर के प्रमाण का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है । श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन प्रकार की प्रतिमाओं के अनुसार ऊँचाई पन्द्रह, दस या पाँच हाथ की होती है । इनका मान छोटे एवं बड़े गृहों के अनुसार, प्रासाद के हस्त-मान के अनुसार रखना चाहिये ॥३००-३०१॥

इकतीस अंगुल से प्रारम्भ कर नौ हाथ, सात अंगुल तक छः-छः अंगुल बढ़ते हुये प्रतिमा की ऊँचाई का मान रखना चाहिये । पाँच हाथ से बारह हाथ (चौड़े) विमा (मन्दिर) के तैतीस ऊँचाई के प्रमाण के ज्ञाता मनीषियों द्वारा वर्णित है ॥३०२-३०३॥

जङ्गबेरमानानि

जंगम प्रतिमाओं के प्रमाण - महान ऋषियों के अनुसार चल प्रतिमाओं की ऊँचाई मूल प्रतिमा के सात, छः, पाँच भाग अथवा चार, तीन एवं दो भाग के बराबर रखनी चाहिये ॥३०४॥

चल प्रतिमा की ऊँचाई लिङ्ग के मान के अनुसार होती है । हीन प्रतिमा लिङ्ग के पूजा भाग के बराबर, मध्यम प्रतिमा उससे आधी भाग अधिक होती है । श्रेष्ठ प्रतिमा उसकी (पूजाबाग की) दुगुनी होती है । (अथवा) चल प्रतिमा की ऊँचाई लिङ्ग के पूजा भाग की ऊँचाई की आधी, तीन चौथाई या उसके बराबर ऊँची होती है । इस प्रकार चल प्रतिमा दो प्रकार की होती है ॥३०५-३०६॥
तेरह अंगुल से प्रारम्भ कर दो-दो अंगुल क्रमशः बढ़ाते हुये इकतीस अंगुल तक चल प्रतिमा के दस प्रकार की ऊँचाई के प्रमाण बनते है । मनुष्यों के (आवास) गृह में निर्मित होने वाली प्रतिमा तीन अंगुल से प्रारम्भ कर आधा-आधा अंगुल बढ़ाते हुये पन्द्रह अंगुल तक (ऊँची) होती है । अथवा, यजमान के अंगुल से प्रमाण ग्रहण करना चाहिये । छोटी मूर्तियों के लिये यव के प्रमाण का प्रयोग करना चाहिये ॥३०७-३०९॥

द्वारपाल

नन्दी तथा काल पूर्व दिशा में, दण्डी एवं मुण्डी दक्षिण में, वैजय एवं भृङ्गरीटी पश्चिम में तथा गोप एवं अनन्तक उत्तर दिशा में होते है । इन्हे क्रमशः दक्षिण-क्रम से (प्रथम नाम दाहिनी ओर) स्थापित करना चाहिये ॥३१०॥
इन द्वारपालों के वर्ण इस प्रकार कहे गये है - श्याम वर्ण (नन्दी), कुंकुम के समान वर्ण (काल), इन्द्रक वर्ण अर्थात इन्द्रनील वर्ण (दण्डी), लाल वर्ण (मुण्डी), श्वेत वर्ण (वैजय), मयूर के कण्ठ के समान वर्ण (भृङ्गरीटी), नील पद्म के समान वर्ण (गोप) तथा काला वर्ण (अनन्तक) ॥३११॥
इनके आयुध इस प्रकार है - दण्ड, टङ्क, तीक्ष्ण नोक से युक्त खड्ग, भिण्डिपाल, वेल, शूल, वज्र एवं स्फुरित शिखा से युक्त शक्ति । ये चार भुजाओं से युक्त, तीन या दो नेत्र तथा उग्र दाँतो से युक्त होते है । इनके मुकुट के तल शूल से युक्त होते है तथा अंगो पर सर्प अंकित होते है ॥३१२॥
प्रत्येक के एक हाथ सूची के समान, दूसरा अर्धचन्द्र के समान तथा अन्य हाथ खिले हुये कमल के समान होते है । उनके शरीर उचित मांस से युक्त होते है । देवों के समान उनके चेहरे भयरहित होते है; किन्तु (देखने वालों के लिये) भय उत्पन्न करते है । ये प्रचण्ड स्वरूप वाले होते है । ये विभिन्न कार्यों के लिये उपयुक्त होते है । ये हात में शूल धारण किये, केशों से युक्त शिवालय में स्थापित होते है ॥३१३॥
सभी के प्रमाण नौ ताल कहे गये है । विद्वान् शिल्पियों को ताल-प्रमाण के क्रम को हर के द्वारा उपदिष्ट शास्त्र (आगम) के अनुसार ग्रहण करना चाहिये । सभी के एक पैर मुड़े होने चाहिये । मन्दिरों में इन्हे द्वारपाल के रूप में स्थापित करना चाहिये । सभी प्रकाश से युक्त, सर्पों से सुसज्जित एवं इच्छानुसार वस्त्रों से युक्त होते है ।॥३१४॥
आगम-परम्परा के अनुयायियों के लिये यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं कुमार आदि प्रमुख देवों के आकार, वर्ण, आभूषण, वाहन, स्थान, ध्वज, आयुध, उनके आसन आदि का वर्णन किया गया है ॥३१५॥

मयमतम् - परिशिष्ट

मयमतम् नामक ग्रंथमे संपूर्ण वास्तुशास्त्रकी चर्चा की गयी है। संपूर्ण वास्तु निर्माणमे इस ग्रंथको प्रमाण माना गया है।

परिशिष्ट

(कूपारम्भ)

कूपारम्भ - ग्राम आदि में यदि कूप नैऋत्य कोण में हो तो व्याधि एवं पीड़ा, वारुण दिधा में पशु की वृद्धि, वायव्य कोण में शत्रु-नाश, उत्तर दिशा में सभी सुखों को प्रदान करने वाला तथा ईशान कोण में शत्रु का नाश करने वाला होता है । ऐसा कहा गया है ॥१-२॥

चन्द्रगुप्त -

चन्द्रगुप्त ने कहा है कि खेत एवं उद्यानों में ईशान तथा पश्चिम दिशा में कूप प्रशस्त होता है ॥३॥

वराहमिहिर -

यदि ग्राम के या पुर के आग्नेय कोण में कूप हो तो वह सदा भय प्रदान करता है तथा मनुष्य का नाश करता है । नैऋत्य कोण में कूप होने पर धन की हानि तथा वायव्य कोण में होने पर स्त्री की हाने होती है । इन तीनों दिशाओं को छोड़कर शेष दिशाओं में कूप शुभ होता है ॥४-५॥ तिथि के विधि के विषय में नृसिंह ने इस प्रकार कहा है - चित्रा नक्षत्र, अमावस्या तिथि तथा रिक्ता तिथियाँ (चार, नौ, चौदह) छोड़कर शेष तिथियाँ शुभ होती है । शकुन (अपशकुन) होने पर विशेष रूप से छोड़ देना चाहिये । अथवा शुक्र, बुध, बृहस्पति एवं चन्द्र वर्गों का उदय शुभ होता है ॥६-७॥

नक्षत्रविधिमाह -

नक्षत्र-विधि के विषय में कहा गया है कि कूप-खनन में अधोमुख ये नक्षत्र शुभ होते है- मूल, कृत्तिका, मघा, आश्लेषा, विशाखा, भरणी तथा तीनों पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा एवं पूर्वाभाद्रपदा) ऊर्ध्वमुख ये नक्षत्र प्रशस्त होते है - रोहिणी, आर्द्रा, श्रविष्ठा, पुष्य, शतभिषा, श्रवण तथा तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवं उत्तराभाद्रपदा) तुला आदि राशियाँ क्रमशः वृद्धि-कार्यों आदि में प्रशस्त होती है । अश्विनी से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र, चित्रा से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र तथा मुल से प्रारम्भ कर पाँच नक्षत्र वृद्धि प्रदान करते है । कुछ विद्वानों के मतानुसार ये सभी सेतु, कुल्या (नहर) आदि कार्यों में प्रशस्त होते है ॥८-१०॥

चार नक्षत्र - पूर्वाषाढ़ा, स्वाती, कृत्तिका एवं शतभिषा का अवरोहन काल (उतरता काल) वापी- कूप तथा तटाक (तालाब) आदि के खनन (खुदाई) में शुभ होते है ॥११-१२॥

चन्द्रगुप्त-

चित्रगुप्त के मतानुसार हस्त, (तीनो) उत्तरा, धनिष्ठा, मघा, शतभिषा, ज्येष्ठा, रोहिणी, श्रवण, मूल, आश्लेषा, चित्रा तथा तिष्य नक्षत्र खुदाई के लिये प्रशस्त होते है ॥१३॥

कूपखनन के प्रारम्भ की विधि कही जा रही है - ईशान कोण से प्रारम्भ कूपखनन से पुष्टि, भूति (धन), पुत्रहानि, स्त्री-नाश, मृत्यु, सम्पदा, शस्त्र-बाधा तथा कुछ सुख प्राप्त होता है । गृह के मध्य में कूप मनुष्यों के लिये क्षयकारक होता है ॥१४॥

तथाह देवरात-

देवरात ने कहा है- (गृह के) मध्य में कूप धन-नाशकारक तथा पूर्व में सुखकारक होता है । आग्नेय कोण में होने पर पुत्र की मृत्यु तथा दक्षिण में होने पर सर्वस्व का नाश होता है ॥१५॥